कुलूत देश की कहानी

लाल चन्द प्रार्थी

पहाड़ी "कला, संस्कृति और भाषा" के प्रेरणा स्रोत,

★ समर्पण ★

कुलूत एवं समस्त पहाड़ी जन समाज की युवा पीढ़ी को.........

इस संदेश के साथ :—

"निज गौरव का कुछ ज्ञान रहे।
हम भी कुछ हैं यह ध्यान रहे।
सब जाए अभी पर मान रहे।
मरणोत्तर गुंजित गान रहे॥"

प्रार्थी

प्राक्कथन

(डा० यशवन्त सिंह परमार मुख्य मंत्री हिमाचल प्रदेश)

'कुलूत देश की कहानी' के लेखक श्री लाल चन्द प्रार्थी हिमाचल प्रदेश के वन-मन्त्री तथा मेरे सहयोगी हैं। हिमाचल के इतिहास के प्रति उनकी सजगता तथा संस्कृति के प्रति उनका लगाव प्रदेश के भीतर तो जाना माना रहा ही है लेकिन इस कृति के माध्यम से उनका परिचय एक व्यापक क्षेत्र तक पहुंचेगा-यह बात मैं आशा और विश्वास के साथ कह सकता हूं।

कुल्लू निवासी प्रार्थी जी के लिए कुलूत देश की कहानी अपनी धरती से अपने रिश्ते की पहचान की कहानी है। एक छोटे से जनपद से कितना विस्तार पा सकती है और कितनी व्यापक हो सकती है, इसका एक सबल उदाहरण श्री प्रार्थी की प्रस्तुत रचना है।

स्वतंत्रता की लड़ाई में जब हमारे नेता जेलों में ठूंस दिये जाते थे तो वहां वे अपने समय का सदुपयोग जीवनी, इतिहास, संस्कृति सम्बन्धी बहुविध रचनाओं के लिखने में करते रहे हैं। इस दौरान का रचना साहित्य विश्व-साहित्य में अपना अलग स्थान रखता है। ऐसे साहित्य के उज्जवल उदाहरण हैं-तिलक जी का 'श्री मद्भगवद्गीता रहस्य', गांधी जी का 'सत्य के मेरे प्रयोग' बाबू राजेन्द्र प्रसाद की 'आत्म कथा', नेहरू जी की 'हिन्दुस्तान की कहानी' और 'विश्व इतिहास की झलक', वीर सावरकर का 'अठारह सौ सत्तावन का स्वतंत्रता संग्राम', लाला लाजपत राय की 'मेरे देश-निष्कासन की कहानी' आदि। यह इसी युग में नहीं हुआ जब हमारे नेताओं ने महान मनीसी और चिंतक होने का प्रमाण दिया हो। प्राचीन काल में भी तत्कालीन राजनीति को प्रभावित करने वाले हमारे ऋषि मुनि ही थे जिनमें से अनेकों का सम्बन्ध हिमालय की उपत्यकाओं तथा आधित्यकाओं से रहा। ऐसे ही अनेक उदाहरण श्री प्रार्थी जी ने अपनी पुस्तक में जुटाये हैं जिनमें उल्लेख्य हैं महर्षि वशिष्ठ और महर्षि विश्वामित्र का द्वन्द। लगाता है प्रत्यक्ष और परोक्ष रूप में प्रार्थी जी का रचनाकार इन्हीं मनीषी-राजनीतिकों से प्रभावित रहा है। एक अर्से से प्रार्थी जी प्रादेशिक राजनीति में सक्रिय रहे हैं - पहले पंजाब विधान सभा के सदस्य के रूप में और बाद में हिमाचल विधान सभा में मंत्री के रूप

में। लेकिन एक राजनीतिज्ञ के रुप में भी उन्होंने अपना अधिकांश समय इस पहाड़ी प्रदेश की संस्कृति और लोक जीवन को समझने-बूझने में ही लगाया है और प्राचीन ऋषियों की महान् परम्परा के अनुरूप ही उन्होंने राजनीति का हिमालयी संस्कृति के प्रचार प्रसार में एक हथियार के रूप में प्रयोग किया है। मेरे लिए यह एक सुखद एहसास है कि आज सरकारी स्तर पर भी हिमाचल की संस्कृति, भाषा और कला की बागडोर हिमालयी संस्कृति के इसी अधेता के हाथ में है।

आदि ग्रन्थों पौराणिक गाथाओं, अनुश्रुतियों तथा किम्वदंतियों के आधार उसके गौरव को स्थापित करने के लिए जितने प्रमाण जुटाये हैं, उनका महत्व उनकी तथ्यपराकता अथवा प्रमाणिकता के अतिरिक्त उनके संकलन में भी हैं। पुस्तक को आद्योपांत पढ़ते हुए किन्हीं स्तरों पर लग सकता है कि लेखक से पूरी तरह से सहमत हो पाना कठिन है लेकिन ऐसे किसी भी वृहद् कार्य में मत वैभिन्य बहुत स्वाभाविक है और अन्ततः किसी बौद्धिक उपलब्धि से अधिक लेखक की उस कार्य-निष्ठा की मुक्त कण्ठ से सराहना करनी पड़ती है जिसके मूल में अपनी धरती से लगाव का एहसास है।

पुस्तक का आरम्भ नेहरू जी की चर्चा से हुआ है। नेहरू जी एक विश्व जनीन व्यक्तित्व के मालिक थे। वह जहां भी गये और जिन लोगों से भी उनका मिलना हुआ, उन पर अपना प्रभाव छोड़ जाते थे। नेहरू जी को मनाली से लगाव रहा अथवा देहरादून से, उसके पीछे उनका प्रकृति प्रेम था। नेहरू जी जहाँ इतिहासकार थे, वहाँ युग-निर्माता भी। अपने देश के इतिहास और वर्तमान को समझने में उनका दृष्टिकोण अतीत ग्रस्त नहीं रहा। अतः यह बात बहुत स्पष्ट है कि प्रकृति के उस कुशल चितेरे ने मनाली को मान्यता देने में अपने सौन्दर्य-चेता होने का ही एक प्रमाण जुटाया है। लेखक के लिए नेहरू जी का मनाली आगमन जिस विशेष अर्थवता को लिए है वह उनका निजी दृष्टिकोण है। पुस्तक को लिखने में लेखक की जो आधारभूत मान्यता रही है वह उन्हीं के शब्दों में यों व्यक्त है—

"**वास्तविकता** यही है कि हर युग में, हर दौर में, हर ज़माने में महापुरुष यहाँ आकर तप करते रहे हैं। उन्हें यहाँ शांति मिली है तथा साथ ही शक्ति भी, जिन्हें प्राप्त कर वे संसार की भलाई के लिए काम करते रहे हैं।"

'कुलूत देश की कहानी' पढ़ते हुए लगता है कि लेखक ने कुल्लू को केन्द्र मानकर समस्त आर्यवर्त की कहानी कहने की कोशिश की है। इस तथ्य से सचमुच इन्कार नहीं किया जा सकता कि जिस भारती संस्कृति की अक्सर हम बात किया करते हैं उसका चिरपोषक नगाधिराज हिमालय ही रहा है। अतः हिमालय के आंचल में स्थित कुलूत देश की कहानी किसी हद तक भारत के उस गौरवमय अतीत की कहानी है जिसके महत्वपूर्ण अवशेष आज भी जीवंत रूप में यहाँ की वादियों से सुरक्षित हैं।

कुलूत देश की कहानी कहते हुए लेखक ने लोक-जीवन के विभिन्न पहलुओं का अध्ययन कर यहां की भाषा-बोली, वेष-भूषा, खान-पान, नाच-गाना, तीज-त्यौहार, रीति-रिवाज़, रहन-सहन तथा रूढ़ियों और मान्यताओं पर बड़े रोचक ढंग से प्रकाश डाला है। इसी प्रकार आर्य और अनार्य की कथा से आगे भी वे बढ़े हैं। आर्यों में जहां अनेक देवी-देवताओं और ऋषि मुनियों का वर्णन है, उनके प्रतिद्वन्दी दस्यु लोगों में किरात, भील, द्रविड़ आदि लोग शामिल रहे हैं। अन्य जातियों में हिमालय की तराई से सम्बन्धित दो प्रमुख जातियाँ रही हैं – गन्धर्व और किन्नर। यक्ष, किन्नर और गन्धर्व देवताओं के निकट माने जाते रहे हैं। राक्षसों पर टिप्पणी पढ़ते हुए पता चलता है कि उन्हें कतई रूप से 'मिथ' नहीं माना जा सकता। आज भी सम्पूर्ण पहाड़ी प्रदेश में हर स्थान पर राक्षसों के सम्बन्ध में अनेक अद्‌भुत किस्से सुनने में आते हैं। पौराणिक दृष्टि से नागों की ही तरह वे एक जाति के बोधक हैं। नागों को लेकर भी लेखक ने ऐसे अनेक नामों का उल्लेख किया है जो आज भी देवताओं के रूप में मान्य समझे जाते हैं और जिनसे सम्बन्धित 'दियाली' भारत के अन्य स्थानों में मनाई जाने वाली दीवाली से अलग रंग लिए हुए हैं।

यक्ष. किन्नर, गंधर्व, निषाद, पिशाच, राक्षस और नाग जैसी जातियों का रोचक वर्णन प्रस्तुत करने के बाद लेखक ने कोल, किरात, खश और कनैत सी जातियों और उनकी उप-जातियों पर भी प्रकाश डाला है जिनका अस्तित्व आज भी बना हुआ है।

संक्षेप में कहा जाये 'कुलूत की कहानी' में हमें समस्त भारत के इतिहास और संस्कृति के विभिन्न दौरों की एक ऐसी झांकी मिल जाती है जिसके माध्यम से अतीत सम्बन्धी हमारी कल्पना साकार हो उठती है। और उसके साथ ही महत्वपूर्ण हैं वे सम्बन्ध और संदर्भ जो वर्तमान को अतीत से जोड़ते हैं।

पुस्तक के समापन पर लेखक ने इसी कहानी के दूसरे भाग के सम्बन्ध में जो संकेत तथा विषय वस्तु को रूप रेखा दी है उससे निश्चय ही एक उत्सुकता और प्रतीक्षा बनी रहेगी। हिमालयी संस्कृति में रुचि रखने वाले विद्वान किन्हीं बातों को लेकर अपनी असहमति प्रकट कर सकते हैं लेकिन एक बात बहुत स्पष्ट है कि लेखक ने अपनी धरती की कहानी कहने में जिन लोकतत्वों को प्रस्तुत किया है उन्हें इसी मात्रा में जुटाना अन्य लोगों के लिए यदि असम्भव नहीं तो प्रतिस्पर्धा की बात अवश्य हो सकती है। मेरे विचार में जहां लेखक का यह प्रयास स्तुत्य है, वहां यह अनेक विद्वानों को हिमालय-संस्कृति की ओर अन्मुख करने में भी सहायक सिद्ध होगा।

यशवन्त सिंह परमार

★ परिचय ★

डा० पद्म चन्द्र काश्यप, एम० ए०, पी० एच० डी०

मनुष्य के क्रमिक विकास की कहानी ही इतिहास है। मानव कब जन्मा, किन अवस्थाओं से गुज़रते हुए उसने अपने वर्तमान स्तर को प्राप्त किया, बौद्धिक, मानसिक, सांस्कृतिक, सामाजिक एवं राजनीतिक क्षेत्र में उसकी क्या उपलब्धियाँ रहीं, उसे किन कठिनाइयों का सामना करना पड़ा और उन पर उसने किस प्रकार काबू पाया अथवा वे कौन से कारण थे जिनसे वह परिस्थितियों को अपने अनुकूल बनाने में असमर्थ रहा, उसकी हानि लाभ, सफलता असफलता, उन्नति व अवनति का ज्ञान हमें इतिहास से होता है। विविध जन समूह, वर्ग और प्रजाति तथा संसार के विभिन्न क्षेत्रों और देशों की अपनी पृथक पृथक कहानियाँ हैं, वे समग्र रुप में विश्व इतिहास अथवा मानव गाथा का निर्माण करती हैं।

भारत के क्रमवद्ध इतिहास के संकलन तथा लेखन का कार्य अभी चल रहा है। काफ़ी समय मुख्यत: सिन्धु-गांगेय क्षेत्र के इतिहास को ही नींव पत्थर मान कर भारतीय इतिहास का भवन खड़ा किया जाता रहा है। यह क्षेत्र निस्संदेह अत्यन्त महत्वपूर्ण है, सामाजिक, राजनीतिक एवं सांस्कृतिक क्षेत्र में इसने कई बार निर्णायक भूमिका निभाई है, किन्तु यह मानना भी भ्रांति पूर्ण होगा कि केवल मात्र इस प्रदेश की कहानी ही भारत की कहानी है। भारत विशाल देश है, इसकी कथा बहुत लम्बी और पुरानी है। मगध, कन्नौज और दिल्ली के साम्राज्यों के बाहर इस प्राय: द्वीप के अन्य भागों ने भी अनेक बार इतिहास को क्राँतिकारी मोड़ दिया, बौद्धिक क्षेत्र में गम्भीर आन्दोलनों का सूत्रपात किया, साँस्कृतिक तौर पर आश्चर्य जनक ऊँचाइयाँ प्राप्त कीं और राजनीतिक रुप में जन जीवन को आमूल आलोडित किया। धीरे धीरे ये तथ्य सामने आ रहे हैं, अत: यह नितान्त आवश्यक है कि आँचलिक तथा क्षेत्रीय इतिहास में हो रहे नवीन अनुसन्धानों को भी पूरा महत्व दिया जाए, तभी हिमालय से कन्या कुमारी और असम से गुजरात तक समूचे देश की प्रतिनिधि, सारपूर्ण और वास्तविक कथा सामने आएगी। हमारे राष्ट्र को उसका वर्तमान स्वरुप देने में किन प्रभावों ने, किन क्षेत्रों ने, किन प्रजातियों ने क्या

योगदान दिया, इसकी विशद जानकारी हमें आँचलिक विद्वान ही दे सकते हैं।

इस महायज्ञ में, भाग्यवश, बहुत बड़ी संख्या में क्षेत्रीय मनीषी अपने प्रयत्नों की आहुति दे रहे हैं। प्रायः सभी राज्य विशेष लग्न से अपने अपने इतिहास और साँस्कृतिक धरोहर की खोज कर रहे हैं। खेद है कि हिमाचल प्रदेश इस ओर से विमुख सा प्रतीत होता है। पिछले सौ दो सौ वर्षों में लिखे गए इतिहास और गज़ेटियर एक दम अपर्याप्त हैं। आधुनिक युग में जो छुट पुट प्रयत्न हुए हैं या हो रहे हैं, उनमें मौलिकता का अभाव सा दीखता है। कुछ तो अंग्रेज़ी पुस्तकों अथवा संदर्भों के अनुवाद मात्र हैं। गज़ेटियर और पहाड़ी राज्यों के इतिहास लेखक अंग्रेज़ प्रशासकों ने निस्संदेह बहुत बड़ा काम किया, उन्होंने आगे आने वाले अन्वेषकों के लिए एक खाका तैयार कर रखा, किन्तु उस खाके में अनेक मूल भूत त्रुटियाँ रह गई हैं, कारण यह है कि वे लेखक प्रदेश के जीवन, परम्पराओं, अनुश्रुतियों और वार्ताओं से अनभिज्ञ थे।

यह हर्ष का विषय है कि **श्री लाल चन्द प्रार्थी** ने इस दिशा में मार्ग दर्शक का कार्य किया है। कुलूत देश की कहानी में प्रार्थी जी ने श्रुति और स्मृति, दृश्य, श्रव्य और पाठ्य, सभी विधाओं का उपयोग किया है। उन्होंने वेदों, पुराणों, इतिहास ग्रन्थों का सहारा तो लिया ही, स्थानीय अनुश्रुतियों, कथाओं, लोकोक्तियों और भाषा की कसौटी पर भी प्राप्त तथ्यों को कसा है।

कुल्लू अथवा कुलूत देश भारत का एक क्षुद्र भाग है। वह मानचित्र पर केवल एक दो सैन्टीमीटर जगह घेरे लगता है, किन्तु अपनी भौगोलिक स्थिति के कारण वह अपने वक्ष में इतिहास के अनेक सूत्र, और भारतीय जीवन के विकास के कई रहस्य छिपाए हुए है।

सिन्धु, गंगा, यमुना, गोदावरी और कावेरी नदियों ने भारतीय समाज को बनाने में बहुत बड़ा कार्य किया है। हिमाचल के संदर्भ में वही काम व्यास नदी ने किया है। यह नदी प्रदेश के मध्य में बहती है और इसके किनारे हमारे राजनीतिक और साँस्कृतिक जीवन ने अपने आप को ढाला है।

प्रार्थी जी की कुलूत देश की कहानी वस्तुतः व्यास तट की ही कथा है, जिसे उजागर कर उन्होंने समस्त हिमाचल के जातीय और साँस्कृतिक इतिहास का रुप उपस्थित किया है। उनका कहना है कि प्रलय के उपरान्त

नव-सृष्टि का निर्माण व्यास के किनारे ही हुआ है और सम्भवतः वेदों की ऋचाएं भी ऋषि मुख से इसी क्षेत्र में प्रकट हुई हैं। प्रथम पुरुष यहाँ पैदा हुआ और वेदों पुराणों में उल्लिखित देवगण यहाँ के निवासी रहे हैं। इन्द्रासन इस प्रदेश में है, सोमरस यहाँ बनता था और यहीं मानव ने ऊषा के पहले दर्शन किए थे। लेखक का मानना है कि गन्धर्व यहां के निवासी थे अन्यथा अन्यत्र कहां नृत्य-संगीत जनित 'प्रतिष्ठित तथा शोभनीय शारीरिक स्पन्दन तथा मृदुल मनोवृति के प्रभाव के अधीन उत्पन्न होने वाली गति की अद्भुत तथा कलात्मक अभिव्यक्ति' सुलभ हो सकती है।

किन्तु प्रार्थी जी का यह दुराग्रह नहीं है कि सभी उनकी बात को माने। उनका कहना है कि 'केवल परिस्थितियों और घटनाओं का अध्ययन और विभिन्न पहलुओं से परीक्षण ही इतिहास के भूले बिसरे अध्यायों की ओर कुछ अनजाने से इशारे करता है और उन इशारों से जो हम समझ पाए हैं, और परिणाम निकाल सके हैं, वे पाठकों के सम्मुख प्रस्तुत कर दिए हैं। किसी पर इन परिणामों व निष्कर्षों को स्वीकार करने या इनसे इन्कार करने की पाबन्दी नहीं है। हाँ, हम अपने दृष्टिकोण में पूरा विश्वास रखते हैं और स्वीकार करते हैं कि कुलूत देश की कहानी से मनु का सीधा सम्बन्ध है। यह भी स्वीकार करते हैं कि इस कहानी की कुछ कड़ियाँ मिल गई हैं, कुछ की तलाश जारी है।' जब वे विलुप्त कड़ियाँ मिल पाएंगी, तभी अन्तिम रुप से मत निर्धारित किया जा सकेगा। प्रार्थी जी ने इतिहास प्रेमी पाठकों और विद्वानों के आगे सामग्री इकट्ठी कर रख दी है। मैं आशा करता हूं कि इसी प्रकार के प्रयत्न हिमाचल के अन्य भागों में भी होंगे, जिससे उन तथ्यों का निरीक्षण परीक्षण कर हिमाचली मानव के जीवन का वैज्ञानिक इतिहास लिखा जा सके।

कुलूत देश की कहानी को प्रार्थी जी जून, 1958 से आरम्भ कर दादी माँ की वार्ता की तरह कथा सूत्र की तलाश में आगे बढ़ाते हैं, पीछे ले जाते हैं। प्रकृति के सौन्दर्य, अठारह करडू देवताओं की लीला और हिमालय की भव्यता को निहारते हुए लेखक नगाधिराज की गोद में विचरण करता है। वहाँ से ऐतिहासिक सामग्री एकत्रित कर, मार्ग में इसका अनुशीलन मनन करते हुए व्यास तट पर लौट कर, वह आज को कल से जोड़ता हुआ मानव सृष्टि के आरम्भ में पहुंच जाता है। तब से वह आगे बढ़ता है और इस बारह अध्यायों की पुस्तक में बौद्ध काल तक हमें ले आता है। इसी कड़ी की दूसरी पुस्तक में इतिहास प्रेमी लेखक हमें 'कुल्लू के पाल वंशी राजाओं का इतिहास, मण्डी, सुकेत, बीड़-भंगाल,

कुम्हारसेन, बुशैहर, चम्बा और लद्दाख वालों से टकराव, कुल्लू की देव पद्धतियां, कुल्लू में वैष्णव धर्म का प्रसार, मणिकर्ण की चाँदी की खान और राजाओं के अत्याचार, सिक्खों के आक्रमण, सिराजियों का दुम्ह, अंग्रेजों की आमद, स्वतंत्रता संघर्ष और पुन: स्वतंत्र भारत की स्थापना' का विवरण देने का संकेत करता है। इससे कुलूत देश की कहानी तो पूरी होगी ही, समूचे हिमाचल की कहानी भी कही जाएगी........इसका मुझे पूर्ण विश्वास है।

प्रस्तुत पुस्तक के आरम्भ में लेखक की कलम सहज भाव से स्वप्न की सी व्याख्या करती चलती है, किन्तु तीसरे अध्याय के अन्त तक उसमें गांभीर्य आने लगता है। तथ्यों की गहनता को सम्भालते अनूठा चित्र प्रस्तुत करने में लग जाती है। पुस्तक में छटे से लेकर ग्यारहवें, ये छः अध्याय, सबसे अधिक महत्व के हैं। हमारे वर्तमान हिमाचली समाज का बीज हमें इनमें प्राप्त होता है। उसकी धार्मिक, सामाजिक, सांस्कृतिक, जातीय तथा भौगोलिक मान्यताएं किस प्रकार जन्मी, पनपीं और सुदृढ़ हुईं, इन्हीं अध्यायों से स्पष्ट होती है। प्रार्थी जी ने हमारे देवी देवताओं को पुन: जीवित किया, उनकी शास्त्रीय व्याख्या उपस्थित की। खान पान, रहन सहन, वेश भूषा का सम्बन्ध ऋग्वैदिक युग से निरन्तर प्रवाह मान दिखाने का प्रयत्न किया है। हिमाचलियों की रगों में कोल, नाग, खश, किरात और आर्य रक्त के सम्मिश्रण पर प्रकाश डाला है। कोलों, किरातों और कनैतों केसन्दर्भ में उनकी खोज, तर्क और स्थापनाएँ अत्यन्त महत्वपूर्ण हैं।

मुझे पूरी आशा है कि प्रार्थी जी का यह प्रयास हिमाचल वासियों के लिए पथ प्रदर्शक सिद्ध होगा। उनका यह ग्रन्थ हिमाचली समाज, संस्कृति और इतिहास के भावी मन्दिर की नींव की स्वयं सुदृढ़ ईंट है। राजनीतिक व्यस्तता के बीच मौलिक अध्ययन के लिए समय निकालना प्रार्थी जी की ही सामर्थ्य है। यह इसलिए भी सम्भव हुआ कि उन्हें अपने प्रदेश, वहाँ के देवी देवता, वहाँ के लोगों से दीवानगी की हालत जैसा प्यार है। और इस दीवानगी की हालत में जो कुछ भी कहा जाए, लिखा जाए, वह कितना उत्कृष्ट होगा, इसमें कहने की आवश्यकता नहीं। प्रार्थी जी साधुवाद के पात्र हैं। मैं कला प्रेमी, परिश्रमी और अनुभवी लेखक के इस मान्य ग्रन्थ का हृदय से स्वागत करता हूं।

चन्डीगढ़ पद्म चन्द्र काश्यप

1-11-1971 एम० ए०, पी० एच० डी०

★ समीक्षा ★

प्रो० नारायण चन्द पराशर, संसद सदस्य

"**मानव** बन्धुत्व का एक छोटा सा अजायबघर"—यह शब्द हैं जो विद्वान लेखक ने कुल्लू के बारे में इस पुस्तक के एक अध्याय में प्रयुक्त किये हैं। वास्तव में कुल्लू है भी ऐसा ही एक अजायबघर, जहां लाखों वर्षों से पनपती भारतीय संस्कृति के विभिन्न स्वरुपों में आज भी दर्शन हो सकते हैं। परन्तु अजायबघर या उसकी भीतरी वस्तुओं का महत्व तब तक ठीक से मालूम नहीं पड़ता जब तक कोई उसे ठीक से समझा न सके। इसमें रखी वस्तुओं को उनके ऐतिहासिक परिवेश में—उनकी पृष्ठ भूमि के साथ, ठीक प्रकार से न दिखा सके।

कुलूत देश की मानव जाति के प्रागैतिहासिक काल से लेकर आज तक की सभी लुप्त कड़ियों को ढूंढना और उन्हें एक क्रमबद्ध रूप देकर साकार करना—यह अत्यन्त कठिन कार्य है। प्रार्थी जी ने इसी कार्य को पूरा कर दिखाया है। कुलूत देश पर कार्य तो और भी अधिक हुए हैं। लाखों सैलानी इधर आये हैं और उन में से दर्जनों ऐसे हैं जिन्होंने पर्यटक की दृष्टि से कुल्लू और मनाली का वर्णन किया है। कुछ लेखकों ने इतिहास के झरोखे में झांकने का प्रयत्न भी किया है। कनिंघम से लेकर बुद्ध देव भट्टाचार्य तक सभी ने भिन्न-भिन्न भाषाओं में इस देश का चित्र प्रस्तुत करने का प्रयास किया है। परन्तु सभी की दृष्टि प्राकृतिक सौन्दर्य और सरकारी रिपोर्टों या पुरातत्व विभाग की खोजों के मध्य मन्डराती रही। कभी कभार कमिश्नरों और माल अफसरों ने भी इस ओर कुछ कार्य किया। परन्तु यह सभी कार्य वर्तमान प्रयास के समक्ष निर्जीव से दीख पड़ते हैं।

जहाँ तक मुझे ज्ञात है, यह पहला प्रयत्न है जिसमें कुलूत देश की सजीव कहानी सभी उपलब्ध स्रोतों से संजीवनी शक्ति पाकर मुखरित हो उठी है। कुलूत शब्द को ऋग्वेद से लेकर पुराणों से होते हुए संस्कृत साहित्य तथा अंग्रेज़ी ऐतिहासिक रिपोर्टों में से ढूंढते हुए लेखक की पैनी दृष्टि सन्तुष्ट नहीं हुई। भाषा विज्ञान तथा जन मानस में सचित तथा

सुरक्षित लोक कथाओं तथा जन श्रुतियों के धुन्धलकों को चीरती हुई यह दृष्टि कुलूत शब्द और कुलूत देश को सजीव करने में सफल हुई है। मेरे विचार में यह सफलता इसलिए मिली है कि विद्वान लेखक का बचपन और जवानी कुल्लू की धरती की महक से सुगन्धित है। सप्त सिन्धु के इस सुन्दर टुकड़े कुलूत देश के अपने पुत्र ने सुदूर अतीत के धुन्धलकों और वर्तमान की रोशनी में देखने का साहस किया है। पुस्तक के प्रत्येक अध्याय में जहाँ जहां व्यासा की लहरों का मधुर गान है वहाँ बिजली महादेव का सिंहनाद भी।

आर्य संस्कृति के इस पुरातन एवं पवित्र आँचल को संसार के समक्ष अपने विस्तृत रूप में रखने का यह प्रयास प्रशंसनीय है। इन्द्र धनुषी सौन्दर्य का यह प्रदेश ऋचाओं के स्वर, विशिष्ट और विश्वामित्र के विचारों की भिड़न्त की ऊष्णता, जमदग्नी ऋषि के ठारह करड़ू देवताओं की दिव्य वाणी, प्रकृति की अद्‌भुत छटा, पं० जवाहर लाल नेहरू की मधुर स्मृति तथा मानवी जीवन के रंग बिरंगे स्वप्नों को अपने दामन में संजोए इस सुन्दर चित्र में सजीव हो उठा है।

इस स्तुत्य प्रयास से भविष्य के लेखकों, ऐतिहासकारों तथा समाज शास्त्रियों को नई प्रेरणा और नई आशा मिलेगी—ऐसा मेरा विश्वास है। प्रार्थी जी इस प्रयास के लिए बधाई के पात्र हैं कि उन्होंने इतिहास के विद्वानों तथा समाज शास्त्रियों को, जिनका मार्ग दुरूह, कठिन और कंट-कीला है, आशा की एक नई किरण और साहस का सम्बल दिया है। - जो चिरकाल तक इनका मार्ग प्रशस्त करेगा :

घबरा न अन्धेरे से शबे ग़म के मुसाफ़िर,
तेरे लिये बेताब है आग़ोश सहर का।

दिनांक० २१ नवम्बर १९७१ — नारायण चन्द पराशर
नई दिल्ली

★ लेखक के उद्गार ★

जीवन एक कल्पना है·········

व्यक्तिगत हो या समस्त समाज का,
देश का हो या जाति का,

इसी कल्पना के सहारे जीवन आगे बढ़ता है······कल्पना की ऊंची उड़ान और गहरी डुबकी······कल्पना का हर मोड़ एक कहानी बनाता जाता है जिसे लोग इतिहास कहते हैं।

ऐसी ही एक कहानी है कुलूत देश की······

कुलूत आज के कुल्लू का प्राचीनतम नाम है। ऋग्वेद में, जो पं० जवाहर लाल जी नेहरू के अनुसार संसार के पुस्तकालय में सबसे पहली पुस्तक है, दस्युराज **कौलितर शम्बर** से सम्बन्धित ऐतिहासिक घटनाओं से उसका कोल जाति से होना सिद्ध होता है और इसी कोल शब्द के संदर्भ से कुलूत और कुल्लू शब्द व्यवहार में आए हैं। कोल जाति के राज्य विस्तार की अन्तिम सीमा कुलूत की गहन उपत्यकाओं तक ही थी और इस से आगे था किरात क्षेत्र—

यही कुलूत·········

हिमवन्त, हिमवान······हिमालय······हिमाचल का वह भू-भाग, जिसका सीधा सम्बन्ध है सृष्टि की रचना से······

जहाँ प्रकृति की उथल पुथल में डोलते पर्वतों में से अन्तिम पर्वत को आर्यों के आदि देव वृत्रहन्ता इन्द्र ने कील कर स्थित किया ·· और तब उसका नाम पड़ा······इन्द्र कील पर्वत—

जहां प्राकृतिक तत्वों के भयंकर संघर्ष, महा–शिव के ताण्डव, के फल स्वरुप उत्पन्न हुई विद्युत (बिजली) को **पिया** महादेव शंकर ने·········

और अब भी पीता है हर बारह वर्ष के बाद और पी कर उसे शान्त कर देता है व्यास और पार्वती के संगम में·········

तभी उसे कहते हैं बिज्लेश्वर महादेव या बिजली महादेव···
बौद्ध शास्त्रों में

जिसे स्थान मिला है एक महान तीर्थ का·········

इसी कुलूत में है·········भृगु तुंग पर्वत श्रृंखला

जिसे अब रोहतांग (Rohtang) कहते हैं

जहां तप किया आदि भृगु ने·········

और तब साक्षात उतारा अग्नि देवता को पृथ्वी पर पहली बार,

फिर हुआ निर्माण ऋग्वेद की आदि ऋचा का ·········

'ओं अग्नि मीले पुरोहितं यज्ञस्य देवं ऋत्विजम्
होतारम् रत्न धातमम्'

आदि भृगु की यह तपः स्थलि आज भृगु तीर्थ के नाम से विख्यात है। यही पर्वत श्रृंखला है स्रोत

सप्त सिन्धु की पावन पुनीत नदी अर्जिकीया का जो महा मुनि वशिष्ट को पाशमुक्त करने पर विपाश कहलाई और फिर कहा गया इसे व्यास·········व्यास उपत्यका की जन्मदाता।

यही कुलूत है·········

आदि मानव का देश

जहाँ मनु ने अपना घर बनाया·········मन्वालय

महान जल प्लावन (The Great Deluge) के बाद

और जहाँ से मानव वंश का पुनः प्रसार हुआ·········

यही ऐतिहासिक स्थलि आज मनाली कहलाती है।

इसी कुलूत में·········

तप किया भृगु, भारद्वाज, वामदेव, गौतम, कपिल, कण्व, कणाद, वशिष्ट, श्रृंगी, पराशर, व्यास, नारद, द्वैपायन, धौम्य, शांडिल्य, कात्यायन, कार्तिक आदि ऋषियों ने।

जहाँ भृगु वंशज जमदग्नि ने स्थापित किया संसार का सबसे पुराना जन पद मलाणा (The oldest democratic system of the world) जो आज तक उन्हीं परम्पराओं के आधार पर चल रहा है।

जहाँ भगवान् परशुराम ने किया सबसे पहला नरमेध यज्ञ और सफलता प्राप्त की माँ अम्बा के निर्मुण्ड शव में सिर जोड़ने और शरीर में पुनः प्राणों का संचार करने में—

कुलूत······

दाशराज्ञ की पृष्ठ भूमि का एक प्रसिद्ध स्थल।
चन्द्रभागा, विपाश और शतद्रु की कर्म भूमि।
कोल जाति के दस्युराज कौलितर शम्बर का राज्य भाग।

जहाँ विपाश के किनारे आदि आर्यजनों ने आँख खोली

जहाँ महामुनि वशिष्ट को आत्म शान्ति प्राप्त हुई

जहाँ तप किया श्रृंगी जैसे बाल ब्रह्मचारी ने जिनके पुत्रेष्टि यज्ञ के फलस्वरुप पैदा हुए भगवान राम···········न होते श्रृंगी, ······न पैदा होते राम······न मरता रावण, न लिखी जाती रामायण।

जहाँ पराशर पुत्र द्वैपाइन ने दरपौइण आश्रम में वाल्यावस्था में साधना की······

जहाँ बैठ कर महामुनि वेद व्यास ने समय निकाला वेदों के संकलन और कुछ पुराणों की रचना के लिए·····

जहाँ रुमांस लड़ा भीमसेन और हिड़िम्बा का और जिसके फल-स्वरुप उत्पन्न हुए घटोत्कच्छ जैसे वीर योद्धा और स्वयं हिड़िम्बा को प्राप्त हुआ देवत्व और फिर दादी बनी पाल वंशज कुल्लू के राजाओं की······

जहाँ इन्द्र कील पर्वत श्रृंखला में अर्जुन ने तप करके भगवान् शंकर को प्रसन्न किया और महाभारत युद्ध में विजय प्राप्ति के लिए उनसे किरात के वेश में पाशुपत अस्त्र वरदान में पाया······और तब कवि कालिदास को मिली पृष्ठ भूमि 'किरातार्जुनी' नाटक लिखने की·········

जहां पाण्डवों की तीनों पर्वत यात्राओं का प्रसंग मिलता है और सम्भवत: महा प्रस्थान भी उसमें शामिल है……

जहाँ महात्मा विदुर के पुत्र मक्कड़ ने मकड़सा राज्य की नींव डाली और मकड़ान की पर्वत श्रृंखला तक विजय प्राप्त की।

इसी कुलूत में………

मानव और दानव का संघष हुआ। कोल, किरात, नाग, खश, कनैत आदि जातियों के फैलाव और टकराव हुए।

धार्मिक एवं सामाजिक परम्पराओं और रीति रिवाजों की मुठभीड़ के बाद एक नई संस्कृति का जन्म हुआ…परन्तु प्रत्येक समाज की प्राचीन आस्था किसी न किसी रूप में काइम रही……
दीप से दीप जलते रहे।

भगवान बुद्ध के चरण पड़े……जिसकी स्मृति में महाराज अशोक ने एक स्तम्भ खड़ा किया जो अब है नहीं……जिसकी खोज आवश्यक है।

कुलूत कभी बड़ा देश रहा होगा अवश्य………?

प्रारम्भ में इन पहाड़ों में कोल आदिवासी ही रहते थे। कौलितर शम्बर जिनका सबसे बड़ा राजा हुआ। इसके राज्य विस्तार के क्षेत्र को कौलूत या कुलूत कहा जाना असंगत नहीं।

कुलूत की सेनाओं ने सिन्धु नदी पर यवन आक्रमणों के मुकाबिले में भाग लिया था।

नन्द वंश को उखाड़ने की योजना में भी कुलूत राज्य की सेनाओं को निमत्रित किया गया था………

और पाटली पुत्र में चन्द्र गुप्त मौर्य के राजतिलक समारोह में भी शामिल हुआ था………कुलूत का राजा।

कवि विशाख दत्त के अनुसार कुलूत का शुमार काश्मीर, पारसोक आदि पाँच बड़े राज्यों में होता था………

कवि राजशेखर के अनुसार कुलूत को पराजय किए बिना राजसु यज्ञ नहीं हो सकता था………

ह्यून सांग के यात्रा संस्मर्ण में जालंधर के बाद कुलूत का ही वर्णन आता है।

राजतरंगणी के अनुसार चम्बा के राजा ने कुलूत के नरेश को 'स्वकुल्य कुलूतेश्वर,' लिखा है.........

हिमाचल प्रदेश की कितनी ही छोटी छोटी रियासतों का प्रादुर्भाव आठवीं शताब्दी के बाद हुआ लगता है.........

पहली या दूसरी शताब्दी का सिक्का 'राजनः कौलूतस्य वीरायासस्य' किसी बड़े राज्य का ही हो सकता है। चौदहवीं शताब्दी तक कुलूत शब्द व्यवहार में आता रहा है जब काश्मीर के राजा ज़ैनुल आबदीन ने इस पर आक्रमण करके इस राज्य को तहस नहस किया और तब कुलूत शब्द राज्य की सीमाओं के साथ साथ सिकुड़ने लगा और फिर ऐतिहासिक चित्रपट पर रह गया नाम कुल्लू.........

जिसके वासियों की कल्पनाओं के मोड़ों को मैंने कहानी का नाम दिया है.........कुलूत देश की कहानी।

बारह वर्ष मैंने इस कहानी की खोज में लगाए। जिन ग्रन्थों से मुझे इस कहानी के लिखने में सहायता मिली उनकी सूचि मैंने परिशिष्ट में दे दी है—इनके अतिरिक्त समाचार पत्र और असंख्य पत्रिकाओं से भी मुझे सहायता मिली। मैं अपने प्रयास में कहां तक सफल हुआ यह तो पाठक वृन्द जानें, मैं तो केवल यह कहूंगा कि पुस्तक का यह पहला भाग राजाओं, सामन्तों, राणों और ठाकुरों के लड़ाई झगड़ों और विजय पराजय की कहानी नहीं है अपितु उन लोगों की कहानी है जो समय समय पर इस पहाड़ी क्षेत्र की पृष्ठ भूमि पर उभरते रहे, आते जाते रहे, आगे बढ़ते रहे, पनपते रहे और मिटते रहे। कहीं अपनी परम्पराओं की छाप दूसरों पर छोड़ते रहे और कहीं दूसरों की संस्कृति को स्वीकार करके जीवन और समाज को नया मोड़ देते रहे। मानव बिरादरी अनेक जातियों, फिरकों, गिरोहों और धार्मिक आस्थाओं में बटी हुई जैसे जैसे और जब जब उस समय की परिस्थितियों के अनुसार इस कहानी पर असर अन्दाज़ होती रही है, उसी का हाल मैंने लिखा है।

मैं यह दावा नहीं करता कि जो कुछ मैं खोज पाया हूं। वह अन्तिम है.........मैं तो कहता हूं वह तो अभी आरम्भिक है। अतीत के

अंधकार में इतिहास की गांठें······· एक यदि हाथ से खुलती है तो आगे की चार दाँतों से भी नहीं खुलतीं। फिर भी प्रागऐतिहासिक अनबूझे तथ्यों के चक्रव्यूह में मैंने छोटे छोटे रहस्यमय रास्तों के पास आकर खड़े होने का प्रयत्न किया है····· एक सफल प्रयास,······जो भविष्य के अनुसन्धान कर्ताओं के लिए सम्भवत: सहायक सिद्ध हो सकता है।

विवादस्पद विषयों को मैंने बहुत कुरेदने की कोशिश नहीं की है और मैंने दामन बचा कर आगे निकलना चाहा है। फिर भी अन्य इतिहासकारों का मत प्रकट करते हुए कुछ लाग लपेट की बात कहीं लिखी गई हो तो वह उन्हीं का मत समझा जाए, मेरा नहीं।

कहीं अपने विषय से भटक कर इधर उधर भी छटपटाया हूंगा मैं····· और कहीं कहीं अतिशयोक्ति से भी काम लिया होगा मैंने··· कभी एक विषय का या किसी घटना को दो तीन बार दोहराने की गलती भी हुई होगी मुझसे·········पर यह सब किया है मंगल कामना से ही, ताकि इतिहास के इस गुप अंधेरे से हम किसी तरफ तो थोड़ी रोशनी में निकल सकें, और आने वाली पीढ़ी इस झिलमिल प्रकाश के सहारे और आगे बढ़ सके।

ऐतिहासिक अनुसन्धान के लिए विषयानुक्रम से जो भी जानकारी जहाँ से मिल सकी मैंने ली—प्रत्यक्ष-प्रमाण और अनुमान। वेद, शास्त्र, धर्म ग्रन्थ, वंशावलियाँ, ताम्रपत्र, लिपिवद्ध रिकार्ड, शिलालेख देव स्थानों के लेख, चित्र कला, वास्तुकला, शिल्प शैली, भग्ना- वशेष, बोली, भाषा, आस्था और परम्परा, रीति रिवाज़, धर्म और विश्वास, गाथाएं और किम्बदन्तियाँ, भार्था (वार्ता) तीर्थ स्थान और मेले········· वृक्ष, पथ, नदी नाले, भूत प्रेत और उनसे सम्बन्धित अनुश्रुतियाँ····· इन सबसे संकेत लेता हुआ मैं अनुमान की पगडंडी के सहारे आगे बढ़ा अपनी कहानी के पन्नों को लेकर। पर आप देखेंगे कि अनुमानों की डोर पकड़ कर मैं उस दीवार पर चढ़ने में किसी हद तक सफल हुआ हूं जहाँ चढ़ कर इतिहास के उद्यान को अन्दर से झांकने में सहायता मिली है·······अनुमान की डोर कच्ची नहीं होती ··········अनुमान दृढ़, विश्वस्त और विवेकपूर्ण होना आवश्यक है।

कुलूत देश की कहानी भले ही कुलूत के गिर्द घूमती है, परन्तु जिन अनेक बिरादरियों और मानव व दानव गिरोहों का हमने इस में उल्लेख किया है उनका सम्बन्ध तो समस्त हिमाचल बलिक काश्मीर

से आसाम तक सारे हिमालय के जन समाज से है, और तब यह कहानी हिमाचल की कहानी बन जाती है········हिमालय की अनन्य उपत्यकाओं में बसने वाले कोली, कोल, किरात, किन्नर-नाग, खश, कनैत सभी लोगों की कहानी हम इसे कह सकते हैं।

कुलूत देश की कहानी आरम्भ में मैंने उर्दू में लिखी थी उसके सौ के लगभग पन्ने छप भी गए थे। परन्तु मैंने देखा संस्कृत, हिन्दी और कुल्लुई भाषाओं के अनगिनत शब्द ऐसे थे जो उर्दू में ठीक से लिखे ही नहीं जा सके और लिखने पर इन शब्दों के अर्थ ही उलटजाने का संशय होने लगा। बहुत हताश हुआ मैं········कितनी मेहनत की थी मैंने इसे लिखते हुए········और अब उसे हिन्दी में परिणत करते हुए कितना प्रयास करना पड़ा होगा, यह आप अन्दाजा लगा सकते हैं····· और यदि आप इस झंझट में न पड़ना चाहें तो फिर मैं और ठाकुर पोलू राम तो जानते ही हैं·····जिन्होंने इस में मेरा बहुत हाथ बटाया··· सरकारी कार्य से जो समय बचा वह इस में लगाया। हिन्दी लिखने का अभ्यास तो मुझे अब अब हुआ है········मूलतः तो मैं उर्दू का लेखक हूं। इसीलिए आप इस अनुवाद में कितने ही शब्द उर्दू के पाएंगे और जो पद मैंने हर एक अध्याय के आरम्भ में और बीच में उर्दू के रखे थे वे वैसे ही लिख दिये हैं······· इस लिए कि उनके स्थान पर हिन्दी का पद बनाया नहीं जा सकता था।

बारह वर्ष के बाद भी मैं शायद इस कहानी की प्रति आपके हाथों तक न पहुंचा सकता यदि इसे प्रकाशित करने में मेरे कुछ मित्र आगे न आते।

लिखने को तो मैंने इस पुस्तक को कुलूत देश की कहानी लिख दिया परन्तु सच पूछें तो कहानी जैसी यह है नहीं। वह रोचकता भी इसमें नहीं है········हो भी नहीं सकती। क्योंकि है तो यह अनुसंधान कार्य और इसमें शुष्क और जटिल विषयों पर उंगली रखनी पड़ती है। फिर भी मैंने इसे कहीं कहीं रोचक बनाने का प्रयत्न किया है ····ईश्वर जाने मेरी शैली पाठकों को पसन्द भी आएगी या नहीं?

किसी किसी अध्याय का विषय तो सचमुच ऐसा रुखा फीका और रहस्यमय भी हो सकता है जिसकी गहराई तक पहुंचने के लिए साधारणतयः पाठकों को न केवल बुद्धि की तीव्रता को जगाना होगा बल्कि

उस रहस्योद्‌घाटन के लिए और भी अधिक अध्ययन और मनन चिन्तन करना होगा।

कितने ही विषय हैं और कितनी ही घटनाएं, जिनके प्रति हम स्वयं स्पष्ट नहीं हैं, इस लिए उन पर हम अपना स्पष्ट विचार भी प्रकट नहीं कर पाए। कितनी ही बातों में अभी हमारा अपना ही ज्ञान अधूरा है। फिर भी जो समझ में आया उसे लिख दिया। जो नहीं समझ पाए उसे पाठक एवं अनुसन्धान कर्ता स्वयं आगे बढ़ाएं।

सच बात यह है कि सृष्टि की रचना से लेकर ईसा के जन्म तक इस पहाड़ी क्षेत्र ने कितनी क्रान्तियों को जन्म दिया········ कितने उथल पुथल यहाँ हुए········कितना रक्त इस धरती पर बहाया गया··· ······कैसे कैसे दमन चक्र यहां चले और किन किन कठिनाइयों से लड़ता भिड़तागिरता पड़ता,·········जीवन से अठखेलियाँ करता हुआ यहाँ का मानव समाज आज तक पहुंचा, इसका वास्तविक चित्रण तो इस कहानी में है नहीं, वह तो अतीत के अंधकार में सुशुप्त पड़ा है,···हां जो कड़ियां हम इस कहानी की जोड़ सके हैं और उन परिस्थितियों की जो कल्पना हम कर सके हैं, और कल्पना का हर मोड़ जिस कहानी को उभार पाया है, उसकी धुन्धली सी तसवीर है यह······कुलूत देश की कहानी।

कुलूत देश की कहानी·········

यहाँ के जन जीवन की कहानी है

मानव समाज के लम्बे संघर्ष की कहानी है

पहाड़ी क्षेत्र में बसने वाले लाखों लोगों के·········

हर्षोल्लास की कहानी·········

वीरता और साहस की कहानी·········

रुदन और क्रंदन की कहानी·········

उत्साह और परिश्रम की कहानी·········

आस्था और विश्वास की कहानी

जो परम्पराओं और अनुश्रुतियों की गोद में पलती रही, परवान चढ़ी और फिर धीरे धीरे ज़रा मृत्यु से दो चार होती हुई कहीं खो

गई ········ओर जिसे खोजने के लिए हमें कल्पना के गरुड़ वाहन पर सवार हो कर उड़ान भरनी पड़ी अतीत की ओर······कहानी की तलाश में······ ओर बारह वर्ष के परिश्रम के बाद हमें मिल गई,

काम गात्री और सोमसि की कहानी,
ठारह करड़ू की कहानी,
ऋग्वैदिक संस्कृति के भग्नावशेष की कहानी

ओर यह कहानी है भारतीय संस्कृति को हिमाचल की देन······क्योंकि:—

अगर शामिल न हो किस्सा हमारा
तुम्हारी दास्तां कुछ भी नहीं है।

———

लाल चन्द प्रार्थी।

लोग क्या कहते हैं :—

कैप्टन ए० एफ० पी० हारकोर्ट:—

'**इंगलैंड** को रवानगी से पूर्व मैं अत्यन्त दुःख के साथ कुल्लू का कार्य भार त्याग रहा हूं। मेरा विश्वास है कि कुल मिला कर यह देश-भाग यूरोप के समतुल्य तो नहीं लेकिन मैं वहाँ न रह पाता और न ही व्यर्थ में यह सब लिख पाता यदि मैं समझता कि यह लेखन इसकी उस अद्वितीय दृश्यावली और सुखद जलवायु की ओर पूरा ध्यान आकृष्ट नहीं करेगा जिसे वास्तव में अब तक अपेक्षित सराहना प्राप्त नहीं हुई है।'..... पृ० ६

'**मेरे** विचार में सोलंग घाटी का परिदृश्य समस्त उप-संभाग में सर्वोत्कृष्ट और अद्वितीय है।'........ पृष्ट ४७

'**लोगों** की अत्यन्त सुन्दर वेश भूषा के क्या कहने —वे सम्भवतया संसार के सब से सुन्दर वेश धारी कृषक हैं।'.........पृ० २२९

"दि हिमालयन डिस्ट्रिक्ट्स आफ"

कुल्लू, लाहौल एण्ड स्पिति, १८७१"

———

मि० ट्रेबैक:—

'**हमने** अब तक जितनी पहाड़ी जन जातियां देखी हैं उनमें कुल्लू के लोग सब से ज्यादा बलिष्ठ, अधिक सक्रिय तथा उत्कृष्ट जाति के हैं लेकिन वे बर्बर और प्रतिशोधीहैं।'

"मूर क्राफ्ट्स के यात्रा संस्मरण"

पृष्ठ सं० १७७

———

एम० सी० फोरबिस

'**अनेक** दृष्टियों से वास्तव में यह काश्मीर की बराबरी नहीं कर सकता। किसी टाममूर ने यहां की प्रशस्तियाँ नहीं गायीं और जहाँ से जुड़ी

हुई रोमान्तिक स्मृतियों के अनुक्रम को छोड़कर न यह अपनी अनेक अनुपम झीलों को लेकर गर्व कर सकता है और न रचनात्मक सुविधाओं के रुप में आगन्तुक को उतना दे पाने में समर्थ है। इसकी नदियाँ वेगवान हैं, इसका काव्य अनलिखा है और इसकी गाथाएँ दूसरे भागों के लिए अनजानी हैं फिर भी यहाँ पहुंचने वाला कोई भी प्रवासी इसके सम्मोहन से प्रभावित हुए बगैर नहीं रहता। यहां पहुंच कर वह यह महसूस करता है कि इसकी दृश्यावलियां सौन्दर्य के नये प्रतिमानों को उभारती हैं।

एक कलाकार के लिये चाहे उसके पास कूची हो या कैमरा, कुल्लू वास्तव में एक स्वर्ग है।'

कुल्लू के लोग एक बड़ी ही सुहृदय और शिष्ट जाति है।

"टु कुल्लू एण्ड बैक १९११"

लै० कर्नल सी० जी० ब्रूस :—

'कुल्लू घाटी की रंगीनी को शब्दों में अभिव्यक्त करना लगभग असम्भव है। कलाकारों को चाहिये कि वे इसे अपना लें जैसा कि अकसर उन्होंने कश्मीर के बारे में किया है। लेकिन एक बार फिर मैं इस बात को दोहराऊंगा कि कुल्लू की रंजकता अपने आप में बेमिसाल है और यह प्रचुरता और दमक इसे अपनी तरह का एक विशिष्ट आकर्षण और गुण प्रदान करती है।'

"कुल्लू एण्ड लाहौल १९१४"

मि० टी० टाइसन :—

'ऐतिहासिक दृष्टि से कुल्लू पंजाब की पहाड़ियों में स्थित रियासतों में सबसे पुरानी है। ज्ञात इतिहास के अनुसार इसकी स्थापना ईसा की पहली शताब्दी के मध्य हुई। इसका पौराणिक इतिहास इससे भी प्राचीन है।'

"कुल्लू दि हैप्पी वैली"

डा: बुद्ध देव भट्टाचार्य :—

संसार में प्रसिद्ध है कुल्लू उपत्यका, मैं कहूँगा-विपाशा नदी का देश।

जो कहता हूं। इसका कारण है। इस देश के विश्वास अविश्वास, इतिहास, किंवदन्ति, जीवन यौवन विपाशा नदी के दोनों किनारों से पनपे हैं। यहां आने वाले यात्री हर्षोल्लास से भरे चित्र से यह अनुभव करते हैं कि अद्‌भुत और रहस्यमय यह देश है — विपाशा नदी का देश। इस प्रदेश के नदी नाले अद्‌भुत हैं और अद्‌भुत हैं इस प्रदेश के नर नारी। यहां के अरण्य प्रान्तर, पर्वत कन्दराएं, सब कुछ ही अद्‌भुत एवं रहस्यमय है। विपाशा नदी के संगीत में उन्नमत खड़ी हैं यहाँ की आकाश-स्पर्शी पर्वत श्रेणियाँ, और इनमें पली है वह सभ्यता जो इन्द्र धनुष से भी अधिक सुन्दर है।

और इसी इन्द्र धनुषी सौन्दर्य से शोभित रुप परी में निखर रहा है हिमालय का अपरिमेय सौन्दर्य।

आदि काल से ही ऐश्वर्यवती रही है कुल्लू उपत्यका। 'विपाशा नदी का देश' कहने से मुख्यत: मेरा भाव इसी ऐश्वर्यशाली उपत्यका से है। गौण रूप से मैं इसकी सहवर्ती उपत्यका कांगड़ा को लेता हूं।

"विपाशा नदीर तीरे" (बंगाली)

श्री एम० एस० रन्धावा :—

'**सच** पूछिये तो कुल्लू वादी में वह सब कुछ है जो क्षुब्द, विश्रांत आत्माओं को स्फूर्ति और नव जीवन प्रदान करता है।'

यहां प्रकृति अनेक रंग रुप और स्वरों में मुखरित होती है। इसलिए इस देश में अनेक ईश्वरवाद ने जन्म लिया......वह मत जिस के अनुयाइयों को हर पेड़, हर झरने, हर पहाड़, हर पक्षी गर्जे कि सब कुछ में देवी देवता नज़र आए। कुल्लू की प्राकृत छटा सर्वथा निराली है.........एक साथ सुन्दर और भयानक। भयानक सुन्दरता और सुन्दर भयानकता। सत रंगे वन, लहलहाते सीढ़ीनुमा खेतों की कतारें.........झरनें, सरिताएं, गहरी घाटियां.........अंधेरी कन्दराएं, अकर्मन्य भीमकाय हिमनद, संकरे दर्रे और शान्त स्निग्ध हिम शिखर। कुल्लू की प्राकृतिक छटा एक महा

काव्य है। जिसमें प्रत्येक रस, प्रत्येक मनोभावना ग्रौर कामना ग्रभिव्यक्त हुई है तो क्या ग्राश्चर्य जो वहां देवता पंथ चल पड़ा.........एक ऐसा धर्म जो पशु भक्ति, दैत्य भक्ति ग्रौर हिन्दू धर्म का विचित्र मिश्रण हो।

"कुल्लू के लोक गीत"

———

निकोलस रोरिक:—

हिमालय के हिमाच्छादित शिखरों के मध्य जो ग्रात्मिक परितृप्ति मिल सकती है वह ग्रन्यत्र नहीं। भारत की पुनीत मणि--हिमालय--की महिमा का समस्त विश्व में प्रसार करने के विशेषाधिकार को पाकर मैं प्रसन्न हूं।

यदि कोई वास्तव में ही इन शिखरों के गत एक हज़ार वर्ष के ग्राकर्षण का पता लगा सके तो वह तत्पर ही जान जायेगा कि हिमालय को 'ग्रनुपम' क्यों कहा गया है।

—o—o—o—

आभार !

इस पुस्तक के प्रकाशन में जिन मित्रों ने मेरा हाथ बटाया और मेरी सहायता की मैं उनका आभार किन शब्दों में प्रकट करु यह मेरी समझ में नहीं आ रहा है। **श्री रतन लाल नाग** तो वे पहले मित्र थे जिन्होंने पुस्तक प्रकाश के लिए केवल साहस ही नहीं दिया बल्कि प्रकाशन का सारा कार्य भार अपने ज़िम्मे लिया, फोटो ब्लाक बनवाए, मुद्रण का प्रबन्ध कर दिया और उसकी देख रेख में कोई कसर उठा नहीं रखी। सच पूछें तो पुस्तक प्रकाशन इनकी मित्रता, कर्मण्यता और निष्ठा की कहानी है।

एक समय ऐसा भी आया जब पुस्तक प्रकाशन असम्भव सा प्रतीत होने लगा क्योंकि काग़ज़ का अभाव था और धन का भी········इस मंज़िल पर आ कर हम रुक से गए। **मैंने** इसका वर्णन जब अपने मान्य मित्र **ठाकुर तेजराम** जी सुपरिटेंडेंट सेंट्रल एक्साइज़ से किया तो वे तड़प उठे········कहने लगे 'यह किताब तो हर हालत में छपनी चाहिए' और तब वे उतावले हो गए काग़ज़ का प्रबन्ध करने के लिए········दो चार दिनों में काग़ज़ का प्रबन्ध हो गया और हम निश्चिन्त होकर प्रकाशन के दूसरे धन्धों में जुट गए ·······कार्य शनै शनै आगे बढ़ता गया। समय पर इनकी सहायता ने अंग्रेजी की यह कहावत सिद्ध कर दी कि "A Friend in need is a friend indeed"

प्रूफ रीडिंग कार्य कुछ तो मैंने स्वयं किया, कुछ नाग जी ने और कुछ बाकी मित्रों ने······चिरंजीवी **चन्द्र किरण**, अशोक नाग और **अहल्या शर्मा** ने भी सामान्यतः इस कार्य में योगदान दिया।

मूल रुप से तो पुस्तक मैंने उर्दू में लिखी थी इसलिए इसके हिन्दी में अनुवाद कार्य में मेरे लिए वही व्यक्ति सहायक सिद्ध हो सकता था जो हिन्दी के साथ उर्दू भी जानता हो। ·· ·· ··इस कमी को पूरा किया **ठा: मोलू राम एम० ए०** ने जिन्होंने सरकारी कामों में व्यस्त रहते हुए भी इस अनुवाद कार्य में मेरा सबसे अधिक हाथ बटाया। इनके सहयोग के बिना सम्भवत: प्रकाशन कार्य को सम्पन्न करना असम्भव हो जाता········इस प्रकार कुलूत देश की कहानी में इनकी अपनी कहानी भी अंशिक रुप में शामिल हो गई।

डा: पद्म चन्द्र जी काश्यप से समय समय पर परामर्श मेरे लिए बहुत ही लाभदायक और उत्साह जनक सिद्ध हुए। इसके लिए मैं इनका आभारी हूं।

मैं **गुरुवर ठाकुर धर्म दास** जी और **चौ: हरी राम** टूरिस्ट आफीसर का भी आभारी हूं जिनसे मुझे कुल्लू के इतिहास से सम्बन्धित कुछ पुरानी हस्तलिखित प्रतियाँ मिलीं।

श्री मदन मोहन जी मेहरा और श्री कुलदीप चन्द सूद कुल्लू का हार्दिक सहयोग सदा स्मर्ण रहेगा।

श्री किशोरी लाल सूद, आर्ट्स कालेज, शिमला भी धन्यवाद के पात्र हैं जिन्होंने टाइटल कवर का डिज़ाइन बना कर हमें कृतार्थ किया।

प्रकाशन की देख रेख और कुछ कार्यों में मेरे निजि स्टाफ के सदस्यों बा: शिव लाल, बिहारी लाल सूद, श्री हंस राज, श्री ओंकार और श्री शेर सिंह ने भी निजी तौर पर प्रशंसनीय सहयोग दिया है।.........

मैस्सर्ज़ सुन्दर प्रिंटिंग प्रैस के सौजन्य और कार्य कुशलता के बिना तो पुस्तक प्रकाशन एक स्वप्न बन कर रह जाता। अनेक कठिनाइयों के बावजूद पुस्तक भली प्रकार छपी और पाठकों के कर कमलों तक पहुंच पाई........इनके सहयोग के लिए इनका धन्यवादी हूं।

और क्षमा चाहता हूँ !

उन सब त्रुटियों के लिए जो पूरा प्रयत्न करने के बावजूद भी पुस्तक में रह गई हैं।

लाल चन्द प्रार्थी

विषय सूची

अध्याय १

जून, १९५८

अध्याय २

कहानी की तलाश

अध्याय ३

हिमालय की गोद में

अध्याय ४

कुलूत देश

अध्याय ५

जब वेदों की रचना हुई

अध्याय ६

फूल कुछ मैंने चुने हैं

अध्याय

रोशनी की किरण

अध्याय ८

इक जन जाए दूजा आए

अध्याय ६

कारवां चलता रहा

अध्याय १०

मंजिल के पास

उध्याय ११

दीप से दीप जले

अध्याय १२

युग युग की बात

जून १९५८

जवाहर लाल जी नेहरू मन्वालय (मनाली) में। इन्दिरा जी, राजीव और संजय के साथ

और उन्होंने कहा :— "मैं पहाड़ों का दिलदादा हूं……कुल्लू मनाली में एक खामोश हकीकत का एहसास होता है।

पहला अध्याय

जून, १९५८

खिर्दी[1] जनूँ[2] ने मिलके उठाए बहुत हिजाब[3]
लेकिन चमन का राज़[4] अभी तक चमन में है।

वर्ष १९५३ की बात है, तब मैं पंजाब विधान सभा का सदस्य था। पण्डित जवाहर लाल जी नेहरू चण्डीगढ़ पधारे थे। एक समारोह के अवसर पर मैंने उन्हें कुल्लू आने का निमन्त्रण दिया। उन्होंने एक नज़र मेरी तरफ देखा, और कुछ सोचने लगे। ऐसा लगता था, कि उनके दिल में किसी पुरानी याद ने चुटकी ली है। एक सैकिंड की खामोशी के बाद कहने लगे, "जब आराम की ज़रूरत महसूस करूँगा तो कुल्लू आऊँगा"। पण्डित जी की इस शर्त से मैं परेशान नहीं हुआ। अभी कुछ ही वर्ष पहले तो देश आज़ाद हुआ था। टूटा फूटा देश—और मैं दिल से चाहता था कि इस टूटे फूटे देश का यह अनथक नेता कभी न थके......इसे कभी आराम की ज़रूरतमहसूस न हो।

बारह साल पण्डित जी ने दिन रात इस देश के नव निर्माण के लिए काम किया। परन्तु मनुष्य आखिर मनुष्य ही तो है। वर्ष १९५८ के आरम्भ में ही समाचार-पत्रों में चर्चा होने लगी कि पण्डित जी कुछ आराम करना चाहते हैं। कहाँ जाएंगे ? कितना समय आराम करेंगे ? किसी को कुछ मालूम न था। राज़ की बातें थीं, राज़ में चलती रहीं। पण्डित जी के आराम के लिए संसार भर में सुन्दर और मनोरंजक स्थानों की कौनसी कमी थी। अपने ही देश में बूढ़े हिमालय का दामन-विशाल और मनोहर.........काश्मीर से आसाम तक फैला हुआ मौजूद था। नगाधिराज की शस्य श्यामल गोद में कोई भी स्थान हो सकता था, जहाँ पण्डित जी के लिए आराम के सभी साधन जुटाए जा सकते थे।

बहुत दिन यह चर्चा चलती रही। सरकारी कर्मचारी इसे गोपनीय रखे हुए थे, जो व्यवहारिक रूप से किसी हद तक ठीक ही था। परन्तु

1—अक्ल, बुद्धि 2—पागलपन 3—पर्दा, पर्दे। 4—भेद।

पण्डित जी के आराम और विश्राम की समस्या भला कब तक राज़ बनी रह सकती थी। आखिर इस राज़ से पर्दा उठा, और पता लगा कि पण्डित जी ने कुल्लू घाटी में—इस वादी की सौंदर्य की रानी मनाली को अपने आराम के लिए निर्दिष्ट किया है। तभी मेरे कानों में पण्डित जी के कई साल पहले के वे शब्द गूंज उठे, "जब आराम की ज़रूरत महसूस करूंगा तो कुल्लू आऊंगा।"

मई का महीना था, मौसम अत्यन्त सुहावना। वसन्त की रंगीनियाँ पहाड़ों के शांत वातावरण में सौंदर्य बखेर रही थीं। चरी के सुन्दर पेड़ किसी अतिथि के स्वागत की खुशी में झूम २ रहे थे। तब एक दिन पण्डित जी नें वादी में आकर कदम रख ही दिया। शांतमय वातावरण में एक थिरकन सी पैदा हुई। वादी "पण्डित जवाहर लाल नेहरू की जय" के नारों से गूँज उठी। सरकारी पेशबन्दियों के बावजूद भी जनता अपने प्रिय नेता के दर्शनों के लिए उमड़ पड़ी। भून्तर से मनाली तक स्वागती दरवाज़े थे, जलूस थे, देव वाद्यों की घन गर्जना थी, लोग थे और उनका जोश।

पण्डित जी मनाली पहुंचे। उसी दिन शाम को संसार भर के रेडियो स्टेशनों से यह प्रसारित हुआ कि पण्डित जवाहर लाल नेहरू एक महीना आराम करने के उद्देश्य से मनाली पहुंच गए। तब संसार भर के लोगों ने पहली बार कुल्लू और मनाली के नाम सुने। अचानक कुल्लू और मनाली दो नाम सदियों के अन्धेरे से निकल कर प्रकाश में आए। सच-मुच ऐसा मालूम हुआ कि किसी चीज़ को समुद्र की अथाह गहराइयों से ऊपर उठा कर चमकती हुई साफ सतह पर उभारा गया है। सदियों के किसी खामोश और गुप्त रहस्य से पर्दा उठा है।

और तभी मेरे विचारों में सोलह साल पहले का वह मई का महीना उभर आया जब १९४२ में पण्डित जी इस कुल्लू वादी के एक और मनोहर ऐतिहासिक स्थान 'नग्गर' (Naggar) में आकर रहे थे। तब वह क्रिप्स मिशन के असफल हो जाने पर सम्भवत: परेशान और कदरे मायूस थे। संसार में एक ज्वालामुखी भड़क चुका था। संसार दूसरे विश्व युद्ध की लपेट में आ चुका था। ऐसे हालात में अपने देश का भविष्य भी अत्यन्त धुन्धला था और परिस्थिति डावांडोल। तब पण्डित जी के अपने शब्दों में, जो उन्होंने बाद में अपनी पुस्तक 'Discovery of India' के पृष्ठ ३९४ पर लिखे हैं वह आराम और शान्ति की तलाश में कुल्लू में 'नग्गर' के स्थान पर आकर रहे थे......निकोलस रौरिक (Nicolas Roerich) के

अतिथि। हां ऋषि रौरिक......जो संसार का माना हुआ मनो वैज्ञानिक और उच्च कोटि का चित्रकार था। जो रूस से अमरीका और अमरीका से हिन्दुस्तान.........आसम कालिम्पोंग होता हुआ हिमालय के दामन में स्थित कुल्लू की मनोहर और सुन्दर घाटी में आराम और शान्ति के अन्तिम दिन व्यतीत कर रहा था।

पण्डित नेहरू जिस प्रकार की परिस्थितियों से प्रभावित हो कर और जिस परेशानी के वातावरण से निकल कर कुछ दिन आराम करने के लिए कुल्लू की वादी में आए थे। उस से मुझे महाभारत की एक घटना याद आ गई। पाण्डव जुए में अपना राज-पाट हार चुके थे, यहाँ तक कि द्रौपदी को भी हाथ से गंवा बैठे थे। भरे दरबार में उस का अपमान किया गया था। परन्तु हालात की मजबूरियों से पाण्डव दिल मसोस कर और दांत पीस कर रह गए थे। वे कुछ नहीं कर सकते थे...... कुछ नहीं कर पाए। परन्तु यह अपमान और बदनामी ऐसी तो थी नहीं जो यूँही दिल से भुलाई जा सकती थी। यह तो एक कांटा था, जो जिगर में जा कर उलझ चुका था। उसे निकालने के लिए जितना उपाय करते, वह उतना ही और उलझ जाता। राज-पाट छिन चुका था, शान-शौकत मिट्टी में मिल चुकी थी। पाण्ड्व मायूस थे, और बेहद परेशान। तब महर्षि वेद व्यास की अनुमति से तय पाया, कि अर्जुन हिमालय में जा कर तप करे, और इतनी शक्ति पैदा करे कि खोई हुई ख्याति पुन: प्राप्त हो। तब अर्जुन हिमालय के इसी दामन में आया। मनाली के सामने इन्द्रकील पर्वत के शांत वातावरण में उसने तप किया। देवताओं के राजा इन्द्र को प्रसन्न किया। भगवान् महादेव की कृपा के फलस्वरूप पाशुपत अस्त्र प्राप्त किया। देवताओं के आशीर्वाद से इतनी शक्ति प्राप्त हुई कि परिणाम स्वरूप महाभारत जीता गया। छीना हुआ राज्य वापिस मिल गया। गौरव और मान पुन: प्राप्त हुआ, और द्रौपदी के अपमान का बदला ले लिया गया।

मैंने सोचा कि क्रिप्स मिशन असफल हो जाने पर और दूसरा विश्व-युद्ध छिड़ जाने के कारण भारतवर्ष और उसकी जनता के सामने अपनी आज़ादी का संघर्ष जिस चर्मसीमा तक पहुंच चुका था, वह भी महाभारत से पहले की परिस्थितियों से किसी तरह कम न था, और निश्चित रूप से ही अर्जुन की तरह पण्डित जी से भी शान्ति और आराम के बहाने अनजाने से जो तप हो गया उस के फलस्वरूप भारत–वर्ष की आज़ादी की अन्तिम लड़ाई भी सफलता से लड़ी गई, जिस की नींव

पण्डित नेहरु की कुल्लू यात्रा के बाद ९ अगस्त, १९४२ को 'हिन्दुस्तान छोड़ दो' प्रस्ताव द्वारा डाल दी गई थी ।

मैं सोचता चला गया, और प्राचीन काल की कई घटनाएँ मेरी सोच में उभरने लगीं । कहते हैं महा मुनि वसिष्ठ अपने सौ लड़कों की मृत्यू के दु:ख से व्याकुल हो कर जब हिमालय के आंचल में घूम रहे थे तब एक दिन बेचैनी और विवशता में अपने आप को रस्सियों से बांध कर मनाली से कुछ ऊपर व्यास नदी की गोद में अपने शरीर को डाल दिया ताकि वह नश्वर शरीर डूब जाए और महा मुनि को दु:खों से मुक्ति प्राप्त हो जाए । परन्तु डूबना तो दूर रहा उन की रस्सियों के बन्धन भी सब टूट गए । व्यास ने उन्हें स्वीकार नहीं किया । उसी स्थान पर वसिष्ठ जी ने तप करना आरम्भ किया, और अन्ततः बिना जान दिए ही उन्हें न केवल आत्मा की शान्ति प्राप्त हुई, बल्कि परिस्थितियों का मुकाबला करने और कठिनाइयों से जूझ जाने की भी उनमें महान शक्ति पैदा हुई ।

व्यास नदी का वर्णन आ गया तो उस के साथ ही महर्षि व्यास का चित्र भी आंखों के सामने आ गया, जिन्होंने वेदों की ऋचाओं को एक जगह इकट्ठा किया, जिन्होंने पुराणों को तरतीब दी, जिन्होंने महा-भारत लिखा, और गीता जैसे महान और पवित्र ग्रन्थ की रचना की । परन्तु इस सारी महत्वपूर्ण रचनाओं की पूर्ति के साथ-साथ कुल्लू की सरस, सुन्दर श्यामला के नाम को भी महार्षि के नाम से अलग नहीं किया जा सकता, क्योंकि इस सम्बन्ध का जीता जागता सबूत वह व्यास ऋषि तीर्थ है जहाँ महर्षि ने आश्रम बना कर एक लम्बे समय तक तप किया था, और इन महान ग्रन्थों की रचना के लिए मन की एकाग्रता और शक्ति प्राप्त की थी । व्यास नदी भी, जिस ने कुल्लू की सब से सुन्दर घाटी को जन्म दिया है, महर्षि की आधि–मन्नत है, जिन्होंने इसे व्यास का नाम दिया । अन्यथा उपर्युक्त वसिष्ठ ऋषि की घटना के सम्बन्ध से तो इस नदी का नाम 'विपाशा' था, अर्थात् पाश (बन्धन) को तोड़ने वाली । इस व्यास घाटी के सिरे पर चौदह हजार फुट दर्रे पर जिसे 'भृगुतुंग' कहते थे और जो अब बिगड़ते बिगड़ते रोहतांग बन गया है, महर्षि व्यास ने तप करके अध्यात्मवाद के वे सलिल स्रोत बहाए हैं, जो गीता जैसे ग्रन्थ के रूप में आज भी संसार भर की प्यासी आत्माओं की प्यास बुझाते हैं, और साथ ही साहस सुदृढ़ता तथा कर्त्तव्य परायणता जैसे अपूर्व गुणों के ऐसे प्रकाश जगा दिए जो आज भी शिथिल शरीरों में जीवन की लहर दौड़ा देते हैं ।

ऋषि आश्रमों का प्रसंग आया और मैं अतीत की गहराइयों में लग-भग खो गया। सप्त सिन्धु और आर्यवर्त मेरे ख्यालों की दुनिया में आबाद होने लगे, जब आर्य जाति के सब से पहले राजा वैवस्वत मनु ने यहाँ अपना घर बसाया था। तब इस जगह को 'मन्वालय' कहा जाता था, अर्थात् मनु का घर और इस शब्द के आधार पर अब इस जगह को मनाली कहा जाता है। इन्हीं भृगु के वंश में आगे चल कर श्री परशुराम जी हुए जिन्हें भगवान् का अवतार माना गया। मनाली और इसके इर्द-गिर्द कुछ मीलों के दायरे में कितने ही ऋषि आश्रम आबाद थे। गौतम, कपिल, कण्व, वामदेव, कणाद, शाण्डिल्य, धौम्य, जमदग्नि—सब ने यहाँ आकर तप किया था। पाराशर, शृंगी, नारद, दरबाशा ये सभी ऋषि-महर्षि किसी न किसी समय इस वादी में आए थे। उन्होंने यहाँ रह कर वादी के इस शान्त वातावरण में मन की सान्त्वना तथा आत्मिक शान्ति प्राप्त की थी। तभी तो आज तक उन आश्रमों की जगह पर उन के मन्दिर बने हुए हैं। उन्हें देवता रूप से मान लिया गया है, और जो यहां नहीं आए उन की कोई यादगार यहाँ नहीं, उन का नाम तक भी सम्भवत: यहां कोई नहीं जानता।

सोचते सोचते पुराणों की अनुश्रुतियों ने भी मेरे मन में अंगड़ाइयां लीं। कुलान्त पीठ महात्म के अनुसार बाणासुर को मारने के लिए भगवान् शंकर को भी इसी पवित्र भूमि में कहीं तपस्या करनी पड़ी थी, और भगवान् शंकर को पाने के लिए हिमालय की बेटी गिरिजा ने भी इधर ही कहीं तप किया था। जब मैं ने हिमालय के इस दामन में ज़रा आगे तक नज़र की तो मुझे हर गांव में एक देव-मन्दिर और कोई न कोई देव-स्थान नज़र आया, और तभी मुझे विश्वास हो गया कि हिमालय के दामन में इस भू-भाग को अगर आज भी देव-भूमि 'Valley of Gods' कहते हैं, तो ठीक ही है। यह सच–मुच तपोभूमि है......और देव भूमि भी।

मैं ने विचारों की गहराइयों से लौट कर अनुभव किया कि पण्डित नेहरू ने दूसरी बार फिर आराम और शान्ति के लिए यदि मनाली को पसंद किया है तो कौनसी नई बात हो गई। इस में कौन सा अचम्भा हो गया। पण्डित जी का यह निश्चय जानबूझ कर हुआ या अनजाने में, इस में हैरानी की कोई बात नहीं हुई। वास्तविकता यही है कि हर युग में, हर दौर में, हर ज़माने में महापुरुष यहाँ आ कर तप करते रहे हैं। उन्हें यहां

शान्ति मिली है तथा साथ ही शक्ति भी, जिन्हें प्राप्त करके वे संसार की भलाई के लिए काम करते रहे हैं।

आज पण्डित नेहरू के महान व्यक्तित्व को संसार में स्वीकार करने से कौन इन्कार कर सकता है। अतः वह भी इस वादी में आए। उन्होंने जानबूझ कर तप किया या नहीं, परन्तु इस बात से तो वह खुद भी इन्कार नहीं करते कि उन्हें यहाँ शान्ति प्राप्त नहीं हुई। वह विश्वास करें या न करें, परन्तु निजी रूप से उन्हें इस शान्ति से एक नई शक्ति प्राप्त हुई। उन्हें एक साकार मूक वास्तविकता का अनुभव भी हुआ, और तब उन्होंने वर्षों की थकावट को दूर करके एक नई उमंग, एक नए जोश और एक नए अन्दाज़ से फिर इस देश के निर्माण और भारतवर्ष की जनता की भलाई का भारी बोझ अपने कधों पर लिया। पहली बार उन्होंने कुल्लू यात्रा से वापसी पर आजादी की आख़री सफल लड़ाई लड़ी, और दूसरी बार अब उसे संसार की महान शक्तियों की पंक्ति में ला कर खड़ा कर दिया।

और यह भी अजीब इत्तिफाक है कि पहली बार जब पण्डित जी आए, तो वादी के उस स्थान पर ठहरे जो चौदय सौ वर्ष तक न केवल कुल्लू की राजधानी रहा है अपितु......कुल्लू के पवित्रतम देवताओं 'अठारह करडू' का भी वशिष्ठ और प्रभावपुर्ण केन्द्र है। इन के मेजबान थे श्री निकोलस रौरिक......संसार के माने हुए मनोवैज्ञानिक और चित्रकार............जिन की कलम की बारीकियों और रगों के संयोग और समन्वय ने काग़ज़ और केन्वस पर जिन्दगी उभार दी थी। और पण्डित नेहरु थे उनके महमान......जिन के विचारों की उड़ान, इरादों की बुलन्दी और कर्तव्यपरायणता ने कमजोर राष्ट्रों और परतन्त्र लोगों की जिन्दगियों में स्वतन्त्रता की ज्वाला जगा दी थी...... दोनों कलाकार थे......और यह था नग्गर में दो कलाकारों का मिलाप।

दूसरी बार पण्डित जी मनाली में आकर ठहरे......मन्वालय में... महर्षि मनु के घर में......। महाराज मनु थे आर्यों के सब से पहले राजा, जिन्हों ने आर्यवर्त को सब से पहले ऐसा संविधान दिया था, जिस से देश को उस समय की परिस्थितियों के अनुसार न केवल आगे बढ़ने और फैलने में सहायता मिली थी, वरन् हिमालय से कुमारी अंतरीप तक कई बार बड़े बड़े चक्रवर्ती राज्य भी जिस के कारण स्थापित हुए थे।

उस संविधान के कारण उस समय समाज का एक ऐसा ढांचा खड़ा किया गया था, जिस से संसार की एक बहुत बड़ी सभ्यता ने जन्म लिया था। ससार भर में भारत वर्ष की संस्कृति का उस समय बोलबाला था, जब सारा संसार अज्ञानता और अनभिज्ञता में सोया पड़ा था, और जब हमें सभ्यता सिखाने का दम भरने वाले स्वयं छाल और पत्तों से अपना शरीर ढांपते थे। और पण्डित नेहरू ने भी हजारों वर्षों की दासता के बाद स्वतन्त्र भारतवर्ष के पहले प्रधान मन्त्रि के रूप में इस देश को एक ऐसा संविधान दिया जिस ने इस टूटे फूटे देश को......इसके खण्डित, बेचैन, मायूस और परेशान जन समाज को एक लड़ी में परो कर न केवल क्रमिक उन्नति के पथ पर लाया, बल्कि उन्हें कुछ ही वर्षों में ससार के उन्नत और प्रगतिशील राष्ट्रों के शाना-बशाना ला कर खड़ा किया था......और यह था मनाली में दो मनुओं का मिलाप।

निस्सन्देह ही इतिहास ने हजारों वर्षों के बाद अपने आप को दोहराया था।

प्रायः लोगों का यही विचार था कि पण्डित जी मनाली में केवल आराम करने के लिए आए हैं, परन्तु बाद में पता चला कि उन्होंने केवल आराम ही नहीं किया, अपितु एक विशेष काम भी सम्पन्न किया। उन्होंने कुछ ऐसे पुराने पत्रों को भी यहाँ व्यवस्थित किया, जिन से न केवल भारतवर्ष के स्वतन्त्रता संग्राम के विभिन्न पहलुओं पर प्रकाश पड़ता है, अपितु उनसे हमारी आजादी और उन्नति से सम्बन्धित असख्य महान पुरुषों के विचारों और उनकी धारणाओं की भी अभिव्यक्ति होती है। मनाली में सुव्यवस्थित किये गए ये पत्र बाद में "Bunch of old Letters" के नाम से प्रकाशित हुए। प्रसिद्ध इतिहासकार श्री स्मिथ और श्री पर्जिटर के अनुसार यदि हमारे पुराण अमूल्य ऐतिहासिक परम्पराओं के कोष हैं, और जिन्हें मनाली के आस पास के ही वातावरण में श्री व्यास ऋषि ने कभी सुव्यवस्थित किया था, तो पण्डित नेहरू द्वारा सुव्यवस्थित यह रचना भी पिछली अर्ध शताब्दी की ऐतिहासिक घटनाओं, आशा और निराशा से ओत प्रोत युग की एक ऐसी कृति है, जो आने वाली पीढ़ी के सामने अतीत की घटनाओं की ठीक और उचित तस्वीर पेश करके विशेष मार्ग-दर्शक सिद्ध हो सकती है।

महर्षि वेद व्यास और पण्डित नेहरू दोनों अपने अपने समय के

महान लेखक हुए। दोनों ने अपनी रचनाएं संसार के लिए छोड़ी हैं जो आने वाली पीढ़ियों के लिए यादगार रहेंगी।

लग-भग एक महीना मनाली में रहने के बाद पण्डित जी वापिस दिल्ली चले गए। वह संतुष्ट प्रतीत होते थे और प्रसन्न भी। उन्होंने कल्लू वादी को गुमनामी के अंधेरे से निकाल कर न केवल प्रकाश में ला कर खड़ा कर दिया था बल्कि उनके आगमन ने मेरे मन और हृदय में उन अनुभवों को भी जागृत किया जिन का हलका सा खाका मैंने ऊपर खींचा है। मैंने कुल्लू के बारे में पहले भी बहुत सोचा था, परन्तु इस ढंग से कभी नहीं। इस ढंग से कुल्लू के सम्बन्ध में सोचने का विचार ही कभी पैदा न हुआ था, अवसर ही नहीं मिला था और न ऐसी परिस्थितियाँ ही कभी सामने आई थीं। मैने अनुभव किया कि अपनी इस प्रिय जन्म-भूमि के सम्बन्ध में मेरी यह जानकरी अत्यन्त सीमित है। केवल उपर्युक्त कुछ यादें उभरी हैं और वे भी पण्डित जी के आगमन से। मेरी अनुभूति जागृत हो उठी। सोई हुई भावनाओं ने अंगड़ाई ली।

दिल्ली पहुंचने पर जब एक इन्टर्व्यू के दौरान कुल्लू घाटी में अपने वास के बारे में वर्णन करते हुए पण्डित जी ने कहा कि "कुल्लू में एक साकार मूक वास्तविकता का अनुभव होता है", तो मैं सच-मुच सोचने लगा, कि कुल्लू वादी केवल पर्यटक-स्थान ही नहीं इस से अधिक भी कुछ है। इसका केवल भौगोलिक महत्व ही नहीं है अपितु जो कुछ मैंने पीछे लिखा है उसकी पृष्ठ-भूमि में कुछ मनोरंजक सच्चाईयाँ भी हैं। कुछ ऐसे राज़ हैं जो सदियों से खामोश हैं। इस के हिमाच्छादित ऊँचे ऊँचे पहाड़ों की मनमोहक चोटियाँ, देवदार के घने जंगल, प्रफुल्लित चरागाहें, साफ और सुन्दर झीलें, झरझराते झरने, ठण्डे चश्में, सब किसी भूली हुई कहानी की ओर संकेत करते हैं। युग-युगांतर से चन्द्रभागा व्यास, पार्वती, सरवरी, तीर्थन, सैंज और सतलुज आदि सरिताओं की किलकिल निनाद करती हुई जलधाराओं में कोई कहानी छुपी है। मनु, व्यास, वसिष्ठ, श्रृंगी, परशुराम से सम्बन्धित अनुश्रुतियाँ किसी लम्बी कहानी की टूटी-फूटी कड़िया हैं—ऐसी कथा जिस का क्रम विद्यमान नहीं, याद भी नहीं। वादी के स्थूल वातावरण में सदियों से बिखरे हुए इस मधुर संगीत को साज़ में समोया नहीं गया। इस की लय को बांधा नहीं गया एक ऐसा गीत जो किसी ने गाया नहीं, किसी ने सुना नहीं।

इसी लिए जब कभी कुल्लू का कहीं वर्णन होने लगता है तो लोग कितनी ही विचित्र, उचित और अनुचित बातें कुल्लू से सम्बन्धित कर देते हैं। गरीब की जोरू सब की भाबी के अनुसार लोगों की निर्धनता और पिछड़ेपन के कारण उन की सुन्दर अनुश्रुतियाँ, समाजवाद से सुलझी हुई संस्कृति, सुदृढ़ धार्मिक विश्वास, इनकी मूक वास्तविकता का साकार रूप, सब कुछ मजाक बन कर रह जाते हैं। उद्यान में फूल भी होते हैं और कांटे भी। परन्तु कुल्लू घाटी के सम्बन्ध में प्रायः ऐसा हुआ है कि इस के कांटों की कहानी को ही सारे उद्यान की कहानी समझा जाता रहा है, और इस लिए हिमालय का यह विशेष भाग न केवल यूं ही नजर अन्दाज होता रहा, बल्कि गत परतन्त्रता के दौर में तो इसे घृणा की हद तक ठुकराया जाता रहा हैं। इस वादी के मूक इतिहास में पहली बार पण्डित नेहरु ने वास्तविकता की अनुभूति की बात कह कर इस के उद्यान की कहानी की प्रस्तावना हमारे सामने रखी। विचारों को एक झटका लगा। मैंने महसूस किया कि अब समय आ गया है जब पण्डित जी के आगमन के बाद स्वाभाविक रूप से असंख्य लोगों की रुचि कुल्लू वादी से बढ़ेगी। लोग इस वादी में आएंगे। उन्हें न केवल कुल्लू को देखने का, बल्कि इसे समझने का भी शौक होगा। वे इस की सुन्दरता और आकर्षण से प्रभावित होने के साथ साथ इस की अनुश्रुति, इस की संस्कृति, इसके इतिहास और दूसरे पहलुओं पर भी जानकारी प्राप्त करना चाहेंगे। परन्तु यहाँ तो केवल कांटों की कहानी थी। कुछ अधिकारी वर्ग के लोगों ने इस से सम्बन्धित कुछ उलटी-सीधी धारणाएं स्थापित कर रखी हुई थीं। वही इस की कहानी थी, जो हर एक को सुनाई जाती थी।

विचारों को ठेस लगी। मैं ने सोचा यदि अब भी फूलों की कहानी की रचना न हुई जबकि पण्डित नेहरु ने वास्तविक प्रस्तावना हमें दी है, तो फिर लोग कांटों की कहानी को ही कुल्लू की कहानी समझते रहेंगे। देव-भूमि तपोभूमि कभी देवताओं की वादी की शकल में ठीक रूप से लोगों के सामने नहीं आ सकेगी।

परन्तु फूल थे कहाँ जिन की कहानी लिखी जाती। यहाँ तो दूर-दूर बिखरी हुई पत्तियाँ थीं। तस्वीर यहाँ थी कहाँ जिसके रंग विशिष्ट किए जाते। यहाँ तो केवल धुन्धले-धुन्धले से चित्र थे। माला नहीं थी, दूर पार गिरे पड़े कुछ मनके थे। गीत नहीं था, वायु में लहराती हुई

कुछ टूटी फूटी धुनें थीं। ये इकट्ठे किए जाते तो कहानी बन सकती थी, तस्वीर बन सकती थी, माला बन सकती थी, एक गीत बन सकता था। यह इकट्ठा करना ही कठिन था, क्योंकि ये सब अतीत की गहराइयों में डूबी और बिखरी पड़ी थीं और अतीत था कि हजार पर्दों में छुपा हुआ था।

तुरन्त विचार आया कि अतीत से चल कर ही तो हम वर्तमान में पहुंचे हैं। अपने ही पदचिह्नों के सहारे यदि हम वर्तमान से अतीत की ओर चल पड़ें, तो इस मार्ग में बिखरी पड़ी कहानी की कड़ियां, बिखरी हुई पत्तियां, टूटे हुए मनके, अधूरी धुनें जरूर मिल जाएंगी। और इस प्रकार वह फूल खिल जाएगा जिस की मुझे कहानी लिखनी थी। वह तस्वीर मिल जाएगी जिसमें मुझे रंग भरना था। वे धुनें मिल जाएंगी जिन्हें जोड़ कर मुझे एक गीत पूर्ण करना था, जो गीत कि मुझे लोगों को सुनाना था। वह कहानी लिखनी थी, जो फूलों की कहानी थी, और तब मैं ने अतीत के अन्धेरे में छलाँग लगाने का निश्चय कर लिया.......................................

कहानी की तलाश में......।

दूसरा अध्याय

कहानी की तलाश

चांद की रोशनी में :

> औरों की लिखी हमने कहानी लेकिन
> उनवां[1] न मिला अपने फसाने[2] के लिए।

अब मैं वर्तमान काल में खड़ा था।

हर उठता हुआ कदम भविष्य की ओर बढ़ रहा था। उठा हुआ कदम अतीत बनता चला जा रहा था। जीवन के जिस मार्ग से मैं स्वयं हो कर आया था और वर्तमान तक पहुंचा था, उसका अच्छा स्मरण मेरे मस्तिष्क में था। मैं ने अतीत की ओर मुड़ कर देखा। मुझे चाँद की रोशनी में वादी के सुन्दर झिलमिलाते पर्दे पर एक फिलम सी उभरती हुई दिखाई देने लगी। यह फिलम मेरे सामने ही तो फिलमाई गई थी। यह नाटक वादी के रंगीन रंगमंच पर मेरे सामने ही तो खेला गया था। मेरा खुद भी तो इस में कुछ हल्का फुल्का सा योगदान था ही। कितनी मन मोहक थीं ये यादें.............

एक साथ कितनी सुन्दर ! कितनी भयानक !
एक दम कितनी आमोदजनक ! कितनी शोकाकुल !

बत्तीस सौ वर्ष पहले की बात है जब भारतवर्ष न केवल सैंकड़ों छोटी रियासतों में बटा हुआ था, अपितु सिकन्दर के आक्रमण के बाद एक बड़ा भाग गुलाम भी बन चुका था। तब महर्षि चाणक्य ने नारा लगाया था 'नत्वेव आर्यस्य दास भावः' अर्थात् दास रहना तो आर्यों का स्वाभाव नहीं है। और तब उन्होंने कहा था कि हिमालय से कन्या कुमारी तक भारत की यह पवित्र भूमि एक अखण्ड चक्रवर्ती राज्य का मेरुस्थल होनी चाहिए। और आज सैंकड़ों वर्षों की दासता के बाद एक बार फिर महर्षि चाणक्य का स्वप्न साकार हो गया था, हिमालय से कुमारी अन्तरीप तक एक आज़ाद और अखण्ड भारतवर्ष की नींव रख दी गई थी।

---

1. शीर्षक। 2. कहानी।

अब मैं इसी स्वतन्त्र भारतवर्ष के नक्शे पर एक उभरता हुआ कुल्लू चाँद की रोशनी में देख रहा था—धीरे धीरे आगे बढ़ता हुआ कुल्लू। पिछले कुछ वर्षों में यहाँ सड़कें बन रही थीं। पुलों का निर्माण हो रहा था। नवीन भूमि कृषि योजनाओं के अधीन लाई जा रही थी ढांक ढंकार फलोद्यानों में परिणत हो रहे थे। गांवों की गलियाँ पक्की हो रही थीं, सिंचाई और पेयजल योजनाओं का विस्तार होने लगा था। विद्या का प्रसार और प्रचार भी शनै २ आगे बढ़ रहा था। देहातों में बिजली पहुंच रही थी। यातायात की व्यवस्था सुधर रही थी। इलाके के निर्माण और विकास के काम अत्यन्त तीव्रता से हो रहे थे। देहातों के रंग रूप में निखार आ रहा था। रोहतांग के उस पार जीप का पहिया घूमने लग गया था। जलोड़ी जोत पर विजय पा कर कुल्लू और शिमला को निकट लाने के प्रयत्न विचारधीन आ रहे थे। लाहुल और स्पिति के दुर्गम इलाकों में हज़ारों मज़दूर प्रकृति की रुकावटों पर काबू पाने के लिए डट गए थे। जिन लोगों के मस्तिष्क में वायुयान की कभी कल्पना तक न थी, उन्हीं को मैंने कुल्लू से चण्डीगढ़ और दिल्ली हवाई जहाज़ में आराम से यात्रा करते देखा था।

पहाड़ों में समय और दूरी की जो कल्पना होती है, वह धीरे-धीरे बदलती रही। भारतवर्ष की सीमा पर चीन की छेड़ छाड़ और लद्दाख के बारह हज़ार वर्गमील पर उसके कब्ज़े ने नए खतरे का अलार्म दे दिया और तब सुरक्षा विकास तथा राज काज प्रबन्ध हेतु लाहुल-स्पिति के नए ज़िले ने जन्म लिया। हज़ारों, लाखों वर्षों से सतलुज, व्यास और चन्द्रभागा के एक संयुक्त खाके के बीच राजनैतिक इष्टसिद्धि ने एक भद्दी सी लकीर खींच दी। यह निकटतम अतीत की तस्वीर थी जो मैं देख रहा था। फिल्म चल रही थी, सीन बदल रहे थे।

तब मेरी दृष्टि के सामने अगस्त १९४७ के स्वतन्त्रता समारोह और फिर हिन्दू-मुस्लिम उपद्रवों की घिनौनी तस्वीरें एक साथ घूमने लगीं। देवताओं की भूमि में निर्दोष व्यक्तियों का खून, मानवता की मृत्यु और दुष्टता का नग्न-नृत्य हमने यहाँ देखा था। फिर कश्मीर पर पाकिस्तानी आक्रमण का प्रभाव, जस्कर तथा स्कँदू तक कबाइली लुटेरों का पहुंचना, भारतीय सेना का कुल्लू और लाहुल से हो कर लेह तक मुकाबला के लिए बढ़ना, पाँच हज़ार कुल्वी नौजवानों का फौजी सामान ले कर कुल्लू से केलंग तक जाना, ये सब यादें ताज़ा हो गईं।

लेह और लद्दाख का नाम आया तो मस्तिष्क के पर्दे पर कर्नल पृथी चन्द भूतपूर्व कर्नल खुशहाल चन्द और सूबेदार भीम सिंह उभर आए, जिन की अथाह हिम्मत, प्रबल उत्साह तथा सुदृढ़ निश्चय ने उत्तर-पश्चिमी सीमा पर लुटेरों के मुंह फेर दिए थे और जिस वीरता के बदले में उन्हें महावीर चक्र जैसे उच्च पदकों से भारत सरकार ने विभूषित किया था।

इससे भी पूर्व स्वतन्त्रता के लम्बे संग्राम में कुल्लू का भाग था। भूतपूर्व मुन्शी अयोध्या प्रसाद, प्यारे लाल सूद, पण्डित सर्वदयाल, अमर चन्द सोहल, पं० मनसा राम, लाला शिव दयाल, श्री नागर दास पटेल, श्री राम लाल संगर तथा अन्य देश-भक्तों का तप और त्याग, कुल्लू में डंडा-पुलिस, विदेशी कपड़ों की होलियाँ, हाई स्कूल की हड़ताल, सभाएं और समागम, इन्कलाब ज़िन्दाबाद के गगनभेदी नारे, और जनता का असीम जोश......ये सब घटनाएँ और विपत्तियाँ सीन के बाद सीन बन कर आंखों के सामने घूमने लगीं......और तभी मैंने अपनी हथेलियों की तरफ देखा। यद्यपि अब उनमें कोई चोट, कोई निशान बाकी न थे, परन्तु इसकी पृष्ठ भूमि में अपनी और अपने दो साथियों की......दर्द करती हुई हथेलियाँ और मुख्याध्यापक का बेंत नज़र आने लगे......तब तीस वर्ष पहले मैंने और लाल देवी प्रसाद गुप्ता ने और आह ! डाक्टर देवी चन्द। तुमने भी दो दो दर्जन बेंत अपने हाथों पर खाए थे, इस अपराध में कि हमने आज़ादी की देवी को प्रणाम करने के लिए ये हाथ जोड़े थे......इन हाथों ने विदेशी कपड़ों की होलियाँ जलाई थीं और इन हाथों ने जन साधारण को अंग्रेज़ों के खिलाफ विद्रोह करने का इशारा किया था। फिल्म चल रही थी और सीन बदल रहे थे। यद्यपि मेरी आयु कुछ ज्यादा नहीं थी, फिर भी मुझे अंग्रेज़ों के समय के कुल्लू की कुछ-कुछ याद आने लगी। उस समय की नौकरशाही का दबदबा, जबरी बेगार की लानत, अंग्रेज का डर, एक एक गोरे रंग वाले के साथ दो दो सौ कुलियों का सामान ले कर पहाड़ों पर चढ़ना, सेब के बागीचों पर अंग्रेज़ों का स्वामित्व, इन सब यादों के धुन्दले से चित्र मेरे मस्तिष्क में बाकी थे।

इसी दौर में मैंने कुल्लू के आकाश पर कुछ सितारे उदय होते हुए देखे। कंवर टेढ़ी सिंह, ठाकुर उत्तम सिंह, कर्नल खुशहाल चन्द, भवानी चरण पराशर, और डाक्टर देवी चन्द। ये सितारे उभरे...... शोले न बन पाए और बुझ गए। अगर बस चले तो कुल्लू की धरती से पूछूँ कि......**"तूने वोह गंजहाए गिरांमाया क्या किये ?"**

(ऐ धरती ! तूने वे बहुत कीमती खज़ाने क्या किए अर्थात् उन्हें कहां छिपा लिया।)

सीन बदलते रहे। निकटतम अतीत की फिल्म मस्तिष्क के पर्दे पर चलती रही। मैंने पिछले तीस वर्षों में इस पहाड़ी प्रान्त को बहुत निकट से देखा था......लुहरी से लिंगटी तक। जन जीवन के हर पहलू में मैं ने झांका था। लोगों के रीति-रिवाज, यहां के नाच रंग, मेले, लोकगीत, देवी-देवता, ऋषि आश्रम, तीर्थ स्थान, मन्दिर और इनसे ओत प्रोत जनता का विश्वास, लोगों का सामाजिक, आर्थिक तथा राजनैतिक जीवन और इससे सम्बन्धित लोगों के विचार आदि सब का मैं ने गहरा अध्ययन किया था। मैं जनता के जीवन का एक अंग बन कर उसमें समा गया था। और अब जब कि इन बीते हुए वर्षों पर वापसी नज़र दौड़ाने लगा हूं, तो मुझे वे सारी बीती हुई बातें तथा अतीत की घटनाएं और विपत्तियाँ सारी यादें एक एक करके तस्वीर बन कर सामने आने लगीं। मुझे अत्यन्त प्रसन्नता हुई और विश्वास हो गया कि जिस कहानी की तलाश में मैं निकला हूं, उस के निकटतम अतीत की लग-भग सारी कड़ियां मेरे स्मर्ण कोष में सुरक्षित हैं। आंखों देखी फिल्म समाप्त हो गई, चांद की रोशनी मद्धम पड़ गई।

तारों की छांओं में :

कहानी की तलाश में......अब मैं अतीत के उस मोड़ पर आ गया था जहाँ तारों की झिलमलाती छांओं थी। मैं स्वयं कुछ देख नहीं सकता था, परन्तु इस मोड़ पर ऐसे लोग सुलभ थे जो अतीत की मंज़िलों से हो कर आ रहे थे। जिन्होंने स्वयं बहुत कुछ देखा था और बहुत कुछ सुना था जो उनके भी पूर्वज साथ साथ क्रम में सुनते चले आए थे।

ऐसे लोगों से मैंने उनके कुलों के वृतान्त सुने। उनके गाँवों और ग्राम देवता की ऐतिहासिक पृष्ट भूमि तथा उनकी वंशावलियाँ खोजने का प्रयत्न किया। यह लोग अतीत की जितनी यादें अपने मन में सुरक्षित रख सकते थे, वे उन्होंने मेरे सामने खोल कर रख दीं। जो लोग अतीत में मुझे अपने साथ जितनी दूर ले जा सके, मैं उनके साथ उतनी दूर तक गया।

बूढ़े लोगों ने मुझे टुन्डी राक्षस की कथा सुनाई। स्पिति ठाकरों के अत्याचार और धृष्टता के किस्से सुनाए। झीणा राणा और उसके पिता फांगू राणा की वीरता की कहानियाँ सुनाईं। भोसल राणा की कथा गा कर सुनाई, और उसकी मूर्खता की कहावतें सुनाईं। वह दर्दभरी कहानी भी मैंने सुनी कि किस तरह टीटा मोहता के कहने पर भोसल राणा ने अपनी रानी रूपणी को बड़ाग्रां की नहर के स्रोत पर जिन्दा दीवार में चुनवा दिया था। इसी तरह किसी ने विहंगमणि पाल की कहानी सुनाई, और किसी ने सिद्ध सिंह की,......जगत सुख की कहानी ......जय धार की कहानी,......बरशाई की कहानी,......मकड़से की कहानी,......राजा सुलतान चन्द और जोग चन्द की कहानी, अयोध्या से लाई हुई रघुनाथ जी की मूर्ति की कहानी...मणिकर्ण तथा चांदी की कान की कहानी, पंडित दुर्गा दत्त के आत्म दाह और 'लै! राजा पौथा मोती' की कहानी राजाओं और राज महलों की रोमांचक और व्यथापूर्ण पृष्ठ भूमियोंकी कहानी, मलाणा के प्राचीनतम गणतन्त्र की कहानी, मुगलों और सिखों के कुल्लू पर आक्रमण, लूट मार और अत्याचार की कहानी, कुल्लू के अन्तिम राजा अजीत सिंह और तुंग के नाले में सिराजी देश भक्तों के पराक्रम की कहानी, कपूरु विष्ट, अंगता वज़ीर और खेखर के सुआणों[1] की कहानी,......गद्दी–पद्धर और कोठी रियुणी की कहानी, और गाँव के तापू लुहार ने मुझे राजा सिद्ध सिंह से ले कर आज तक के राजाओं की कहानियाँ सुनाईं जो उसने पूर्वजों से सुन कर अपने हृदय पटल पर सुरक्षित रख ली थीं। अनपढ़ बेचारा......परन्तु बीसियों कहानियाँ उसे याद थीं।

देवताओं के गुरों, पुजारियों और कारदारों ने अपने अपने देवता के प्रगट होने की कथाएं सुनाईं। देवता जमलू की कथा,......जगती-पट की कथा, अठारह करड्डू की कथा, नागों और नारायणों की कथा, दानवों और खशों के संघर्ष की कथा, शिव और शक्ति की कथा, कितने ही ऋषियों की कथाएं, जिन्हें देवता रुप से मान लिया गिया है। भृगु, कश्यप, कार्तिक, व्यास, वसिश्ट, गौतम, कपिल, कण्व, शाँण्डित्य, धौम्य, नारद, कात्यायन, दरबाशा, श्रृंगी, परशुराम, जमदग्नि आदि की कथाएं सुनाईं, जो उनकी भारथा[2] में सीना बसीना याद की जाती रही हैं।

---

1. सीढियां 2. भार्था शब्द वार्ता का अपभ्रंश है अर्थात बात-चीत जो देवता का गुर देवता का इतिहास वंणन करते हुए करता है।

चरवाहों और पुहालों से मुझे पहाड़ों की चोटियों और मार्गस्थलों पर बास करने वाली जोगनियों की बातें सुनाईं। बाहू और लाम्बा-लम्बरी की जोगनियां, जलोड़ी और बशलेऊ की जोगनियाँ, वशिष्ठ और छोइड़ की जोगनियाँ, शैंशर और शाँघड़ की जोगनियाँ, कोठी सारी की जोगनियाँ, लग घाटी की देवी फुँगणी, पहाड़ी की चोटियों पर चढ़ने और ऊंचे-ऊंचे दर्रों को पार करने वाला प्रत्येक साधारण व्यक्ति जिनकी शक्ति और महानता से प्रभावित होता है और आते जाते हुए एक कपड़े की झण्डी, एक धूप की बत्ती, कुछ गुड़, मिसरी भेंट चढ़ा जाता है। और कुछ ना हो तो फूल ही उनके नाम पर हवा में उड़ा देता है। विचित्र और मनोरंजक कहानियाँ सुनी मैंने इनकी, कि किस तरह ये कठिनाई के समय इन भोले–भाले लोगों की सहायता और मार्ग–दर्शन करती हैं।

मनीकरण में मैंने कुलान्त–पीठ की कहानी सुनी। जीया संगम पर महादेव की, मलाणा में ऋषि जमदग्नि की, नगर में अठारह करडू की, नरमण्ड में भगवन् परशुराम की और नरमेध यज्ञ की, सीसू में राजा घेपन की, पटन में त्रिलोक नाथ की, इन्द्रकील पर्वत पर अर्जुन की, मनाली में मनुमहाराज, हिडिंबा और भीमसैन की कहानियाँ सुनी। बंजार में ऋष्य श्रंग की कथा सुनी जो महाराज दशरथ के पुत्रेष्टी यज्ञ में पुरोहित बने थे और जिस के फलस्वरुप भगवान् राम का जन्म हुआ था। हर गाँव का अपना देवता, अपना मन्दिर, अपना रथ, अपने मोहरे, अलग अलग हर एक की कहानी, अलग अलग हर एक के मानने वाले। परन्तु अपने देवता में श्रद्धा और आस्था इतनी कि दुःख सुख, शादी ग़मी, बीमारी, कष्ट, फसल, वर्षा, सफर, यात्रा, निर्माण और विधान, आरम्भ और अन्त, यहाँ तक कि जीवन और मृत्यु में भी देवों की दया और कृपा पर जीवन निर्भर है। लोगों का पूर्ण सामाजिक जीवन देवता के गिर्द घूमता है। मैंने महसूस किया कि मेरी कहानी की सब से ~~की~~ मज़बूत कड़ी तो कुल्लू का देवता है।

बहुत लोगों से मैंने लोक गीत सुने, और उन में मैंने अपनी कहानी के लिए बहुत कुछ सामग्री पाई। उन लोक–गीतों में विशेष घटनाएं, दुर्घटनाएं और ऐतिहासिक अनुश्रुतियाँ झलकती हैं। उदाहरणार्थ काली-ग्हाण्टी के गीत में। १८९४ में फोजल नाला में आई बाढ़ का वर्णन आता है। एक दूसरे गीत में १९०५ के भूकम्प के हालात मिलते हैं। एक और लोक गीत में खेखर के सुआण पर चड़ते हुए राजा मान सिंह

के वजीर 'अंगत' के कुम्हारसेन पर आक्रमण का ज़िक्र आता है। इसी तरह लारन-बारन से शुरु अंग्रेज़ी शासन-सत्ता का पता लगता है। और लाइल साहब के गीत से कुल्लू में हुए बन्दोबस्त का वर्णन मिलता है। औटर सिराज के बहुत से गीतों में लड़ाई-झगड़े के बर्णन मिलते हैं। कुल्लू के लोक गीतों में और कुल्लू के देवताओं से सम्बन्धित संस्कृति में कुल्लू की जितनी कहानी छुपी पड़ी है उतनी कहीं और नहीं है।

चाँद की रोशनी में मैंने बहुत कुछ देखा। तारों की छाओं में मैंने बहुत कुछ सुना। परन्तु आवश्यकता इस बात की महसूस हुई कि इन सुनी-सुनाई कहानियों की, इन बिना सिर-पैर कथाओं की और इन बेजोड़ कहावतों की सत्यता भी तो प्रमाणित हो। यह इस लिए भी ज़रुरी था, कि आज के वैज्ञानिक युग में केवल उन्हीं बातों पर विश्वास किया जाता है, जिनका नियमित एवं लिखित प्रमाण प्रस्तुत किया जाए और जिन्हें लोग अनुशीलन और परिशीलन की कसौटी पर पूरा उतरा हुआ देख लें। अन्यथा कौन विश्वास करेगा उन दन्त–कथाओं पर, कौन समझेगा इस ज़माने में इस बात को कि देवता अपने खास चेले के माध्यम से लोगों के साथ बातें भी करता है, और लोगों के सुख दुःख में शामिल भी होता है। मेरी सुनी-सुनाई कहानियां कुछ महत्व नहीं रख सकतीं यदि वे प्रमाणित सबूत के बिना हों। अतएव, कहानी की तलाश में अतीत की मंज़िलों की ओर बढ़ते हुए इस नए मोड़ पर ऐसे नियमित लिखित अभिलेखों की ज़रुरत थी, जिन पर कहानी की आधारशिला रखी जा सकती, जिन के साथ इन सुनी सुनाई कहानियों की कुछ अनुकूलता हो, ताकि जो कुछ लिखा जाए वह प्रमाणित हो, और जो केवल चंडू-खाने की गप बन कर न रह जाए।

तारों की छाओं में कहानी की तलाश एक नए चरण में दाख़िल हुई, और वास्तविकता यह है कि इस मंज़िल पर पहुंच कर हमारे सामने घुप-अंधेरा था। आज तक कुल्लू से सम्बन्धित जो कुछ लिखा जा चुका था, वह कहीं उपलब्ध नहीं था। जिस के कब्ज़े में कुछ था, वह उस को देने के लिए तैयार नहीं था। ले-दे कर कुल्लू गज़ट ही एक पुस्तक थी जिस से कुछ प्रकाश मिल सकता था।

मार्च १८४६ में सिक्खों की पहली लड़ाई के समाप्त होने पर सतलुज और रावी के बीच कुल्लू का पहाड़ी इलाका अंग्रेज़ों के हाथों

में चला गया, और इस तरह कुल्लू, लाहुल और स्पिति पर अंगरेज़ों का अधिकार हो गया। लार्ड लारेंस ने जो उस समय ट्राँस सतलुज रियास्तों का कमिश्नर था, आरम्भिक बन्दोबस्त कर के यह इलाका मिस्टर अरस्कन सुपरिन्टेण्डेण्ट शिमला हिलज़ को सौंपा, जिन्होंने इस का नियमित बन्दोबस्त किया और उस की लिखित रिर्पोट प्रकाशित की। यह रिर्पोट इस दौर का सब से आरम्भिक रिकार्ड माना जा सकता है। सम्भवत: इसी दौरान जनरल कनिंघम भारत सरकार की ओर से पुरातत्व विभाग के डायरेक्टर-जनरल नियुक्त हुए थे, और उन्होंने इस इलाके का सर्वेक्षण किया था। यह जनरल कनिंघम ही था जिस ने राजा वीरायासा के सिक्के पर जो कुल्लू से मिला था, खोज करवाई और परिणाम-स्वरुप उन्हें एक ऐसे शब्द का पता लगा जिस की तस्दीक ह्यू न साँग के यात्रा संस्मरण से हो गई, और यह शब्द था 'कुलूत' जो अन्य संस्कृत रचनाओं की सहायता से वर्तमान कुल्लू सिद्ध हुआ। एक ऐसी वास्तविकता से पर्दा उठा, जिस के बिना कुल्लू का इतिहास आज तक गुमनामी के लाखों पर्दों में छुपा रहता।

१८६१-६२ में मिस्टर जे० बी० लायल (J. B. Lyall) ने कुल्लू का बन्दोबस्त किया और उस की रिर्पोट तैयार करके प्रकाशित की। १८८७–६० में मिस्टर डाइक ने और फिर १६१०-१२ में मिस्टर कोल्ड-स्ट्रीम ने बन्दोवस्त किए। इन सब की रिर्पोटें प्रकाशित होती रहीं जो आरम्भिक रिकार्ड के रुप में काम में लाई जा सकती हैं। परन्तु जहाँ तक ऐतिहासिक तथ्यों का सम्बन्ध है, इन सब ने जनरल कनिंघम को ही प्राधिकारी माना है। १८६६-७१ में कैप्टन ए० एफ० हारकोर्ट (Capt. A.F. Harcourt) कुल्लू के सहायक कमिश्नर रहे। मालूम होता है कि उन्होंने कुल्लू, लाहुल स्पिति की काफी ऐतिहासिक छान-बीन की। उन्होंने एक किताब **"दि डिस्ट्रिक्ट आफ कुल्लू, लाहुल एण्ड स्पिति"** (The District of Kulu, Lahul & Spiti) लिखी भी थी, जिस की प्रति नगर अभिलेखालय में कभी मौजूद थी, परन्तु बाद में वह वहाँ से गुम हो गई, और अब यह पुस्तक उपलब्ध नहीं है। मालूम होता है कि उन्होंने कुल्लू, लाहुल स्पिति का इतिहास लिखने के लिए भी अपने समय में काफी सामग्री एकत्रित की थी, और वह इंग्लेंड जा कर कुल्लू का इतिहास लिखना चाहते थे परन्तु जीवन ने साथ न दिया। उनकी इच्छा के अनुसार वे ऐतिहासिक पत्र डाक्टर वोगल (Vogal) को दिए गए,

जिन्होंने उन की सहायता से अपनी पुस्तक **"हिस्टरी आफ दि पंजाब हिल स्टेट्स"** (History of the Punjab Hill States) में कुल्लू के इतिहास पर काफी प्रकाश डाला। डाक्टर वोगल ने स्वयं इस बात का वर्णन किया है और यह भी लिखा है कि मिस्टर हारकोर्ट के प्रलेखों में कुल्लू के राजाओं की वंशावली भी थी। इस प्रलेख से कुल्लू राजाओं के इतिहास पर तो प्रकाश पड़ता है, परन्तु यह कुल्लू की कहानी लिखने में ज्यादा सहायक सिद्ध नहीं हो सकता।

१९०५-७ में मिस्टर एच० केलवर्ट (H. Calvert) कुल्लू के सहायक कमिश्नर बने। सेवा निवृत्त होने के बाद उन्होंने कुल्लू वादी में साधारणतया तथा पार्वती वैली में विशेष कर खानों की बहुत खोज की। उन्होंने अपनी खोज के बाद एक पुस्तक **"दि सिलवर वैली"** (The Silver Valley) लिखी। यह पुस्तक कभी बहुत पहले मैंने पढ़ी थी। अब यह उपलब्ध नहीं है। इस से रुपी उपत्यका में असंख्य धातुओं अथवा खनिज पदार्थों का पता चलता है। इसी तरह मिस्टर टाइक ने कुल्लू में शिकार पर पुस्तक लिखी है। मिस्टर फोरबस ने **"टू कुल्लू एण्ड बैक"** (To Kulu and Back) एक पुस्तिका यात्रियों की सुविधा के लिए लग-भग १९११-१२ में लिखी है। **"ए० एच० फ्रेंक"** (A. H. Franke) ने अपनी किताब 'Antiquities of W. Tibet' लिख कर लाहुल स्पिति की कहानी लिखने के लिए कुछ सामग्री प्रस्तुत की है।

असल बात यह है कि कुल्लू पर आज तक जो कुछ लिखा है, वह प्राय: विदशियों ने ही लिखा है। उनमें से हर एक ने साधारणतया कनिंघम की **"सर्वे आफ इण्डिया रिपोर्ट"** (Survey of India Report) और मिस्टर जे० बी० लायल के बन्दोबस्त की रिपोर्ट को आधार मान कर ही लिखा है। उर्दू में कुल्लू के राजाओं का एक संक्षिप्त इतिहास श्री हरदयाल सिंह ने १८८६ में लिखा जब वह राजा दलीप सिंह के समय में कोर्ट आफ वार्ड के मैनेजर रहे। यह पुस्तक, जहाँ तक राजाओं की वंशावली का सम्बन्ध है, प्रमाणित मानी जा सकती है, परन्तु इसकी खोज बड़ी छिछली और दलीलें निराधार हैं। यह पुस्तक कठिनता से प्राप्त हुई है, जो कहानी की पूर्ति में किसी हद तक सहायक सिद्ध होगी।

मौजूदा दौर में श्री एम० एस० रंधावा ने **"कुल्लू के लोक गीत"** एक पुस्तक लिखी है, और दूसरी पुस्तक श्री खोसला सेवा निवृत मुख्य

न्यायाधीश पंजाब उच्च न्यायालय ने **"हिमालयन सर्कट"** (Himalyan Circuit) लिखी है। इस में लाहुल स्पिति की यात्रा के हालात हैं, या यूँ समझ लें कि यह खोसला साहिब का यात्री के रूप में एक यात्रा संस्मरण है।

असल आधार-सामग्री राजाओं की वंशावली हो सकती है। परन्तु वंशावलियाँ भी तो राज दरबार के अपने नियुक्त व्यक्ति लिखते हैं, जिन्हें राजाओं की कृपापात्रता हमेशा सुरक्षित रखनी पड़ती है। अतः यह ज़रूरी नहीं कि वे प्रमाणित हों, और यदि हों भी तो फिर आखिर राजाओं के व्यक्तिगत परिचय से ही सम्बन्धित हैं,......और उन राजाओं से जिन्होंने कुछ सदियां गिरते, पड़ते, लड़ते, झगड़ते इतिहास को अपने अधिकार में रखने की कोशिश की......जिन्होंने कई हालात में इतिहास का गला दबा कर रखा। वंशावली मिली भी यदि तो क्या होगी ? केवल चन्द राजाओं की सूची, जिन्होंने पन्द्रह-सोलह सौ साल कुल्लू पर शासन किया। इतना ज़रूर है कि यह राजाओं की सूची भी इस लम्बी कहानी की एक महत्वपूर्ण कड़ी है, जिसके बिना हमारी कहानी पूर्ण नहीं हो सकती।

तारों की छाओं में बहुत भटका। रामायण, महाभारत और इसके बीच का संस्कृत साहित्य मैंने छान मारा। जहाँ-जहाँ इस कहानी के लिए मुझे किसी कड़ी की खोज लगती, वहाँ वहाँ मैं अतीत के अन्धेरे में छलांग लगा देता। मुझे मिला भी बहुत कुछ। परन्तु मैं समझता हूँ कि अभी कहानी पूर्ण नहीं हो रही है, क्योंकि पुराने संस्कृत साहित्य में सिवाए इस बात के कि कुल्लू का नाम कहीं आया ज़रूर है, कहीं कहीं इस के महत्व पर भी प्रकाश पड़ा है, और सिवाए इसके कि बहुत प्राचीन काल से ले कर कुलूत एक अलग थलग और स्वतन्त्र सा देश रहा है, और कुछ रोशनी मिलती नहीं, जिससे कहानी पूर्ण हो। ये संस्कृत साहित्यकार, ये कवि लोग, ये नाटककार, ये इतिहासकार, ये अनुसंधान-कर्ता भी मुझे अतीत की ओर वहीं तक ले जा सके, जहां तक उन की अपनी कल्पना जा सकती थी। परन्तु मेरी कहानी तो अभी तक अधूरी थी। मुझे तो अभी और पीछे जाना था अतीत में..... रामायण काल से भी पीछे......तारों की छाओं से बहुत दूर पीछे......ठारह करडू के देश में।

ठारह् करड़ू के देश में :

कुरेदो माज़ी[1] की राख इस में शऊर[2] का जामे[3] जम मिलेगा।
इन्हीं रवायात[4] के खज़ाने से हम को ज़ोरे कलम मिलेगा।

प्रसिद्ध इतिहासकार मिस्टर वी० एन० स्मिथ (V. N. Smith) ने ऐतिहासिक खोज के सिलसिले में जहाँ पुरालेखों, यात्रियों के यात्रा संस्मरणों, शिला एवं लिखित अभिलेखों को आवश्यक सिद्ध किया है, वहाँ उसने अनुश्रुतियों-जनश्रुतियों को भी बड़ा महत्व दिया है। जहाँ इतिहास चलते चलते खामोश हो जाता है वहाँ उस देश की और उस देश में रहने वाले लोगों की अनुश्रुतियों से भी कहानी की कड़ियाँ जोड़ी जाती हैं। धूएं से आग की मौजूदगी का अंदाज़ा लगता है। नदी के दहाने से उस के स्रोत का भी विश्वास करना ही पड़ता है, और दूर अंधेरे में सीटी की आवाज़ या कुत्ते के भौंकने से मानव बस्ती के होने का पता लगता है। इसी तरह देश और उस के लोगों की परम्पराओं और अनुश्रुतियों, उन के रीती-रिवाजों, उन की भाषा, लोक कला, यहाँ तक कि समूचे रूप में उन की संस्कृति से न केवल उन का अतीत प्रकाश में आता है, बल्कि लोगों की बिचारधाराओं से उन के भविष्य के बारे में भी अंदाज़े लग सकते हैं, और वास्तविकता यह है कि जनता की संस्कृति की कहानी ही किसी देश की असल कहानी होती है।

जैसा कि मैंने ऊपर वर्णन किया है, चांद की रोशनी में मैंने कुछ देखा, कुछ सुना। तारों की छाओं में मैंने कुछ सुना और कुछ पढ़ा। अब मैं ऐसे स्थान पर आ गया था, जहाँ खड़े हो कर एक बार फिर उस इलाके की संस्कृति पर गहरी नजर डालने की ज़रूरत थी। मैंने मुड़ कर वादी की तरफ देखा......अनगिनत अनुश्रुतियाँ.....असंख्य कहानियाँ जन्म ले चुकी थीं।

मैंने देखा, सारे हिन्दुस्तान पर विजय पाने के बाद आखिर में अंगरेज़ १८४६ में इस इलाके में आए, और ठीक सौ साल के बाद १९४७ में वे हिन्दुस्तान छोड़ गए। उस से पहले यह इलाका कुछ समय के लिए सिख्खों की लूट मार का शिकार रहा, जिसे सिंधी का ज़माना कहते हैं। उस से पहले दूसरी तीसरी शताब्दी तक पाल और सिंघ खानदान तथा

1. भूत काल। 2. बुद्धि, विवेक। 3. प्याला। 4. अनुश्रुतियाँ।

अन्य छोटे-छोटे स्थानीय राजाओं और ठाकुरों के शासनों का भी पता चलता है। इस से भी पूर्व यहाँ राजा "वीरायास" का सिक्का चलता था। और इसी तरह ईसवी सदी से पहले और भी राजे हुए। नागों, खशों, शकों, कोलों, किरातों और यवनों का भी इस भू–भाग पर अमल दखल रहा। सदियों यहां बौद्ध धर्म का प्रभाव रहा। कहते हैं कि महाभारत काल में इस सारे इलाके पर गढ़वाल तक भीम सेन के लड़के घटोत्कच्छ का राज्य था, जो हिडिंबा से पैदा हुआ था।

इन हज़ारों सालों में देश और उस के लोगों में हज़ारों क्रांन्तियाँ आईं। वे सैंकड़ों तूफानों से दो–चार हुए। उन्होंने प्रकृति की हंसी और आकाश की चढ़ी हुई तियूरियाँ देखीं। इस दौरान में जंगल साफ हुए, खेत बने, बस्तियाँ आबाद हुईं और उजड़ गईं, फिर आबाद हुईं और उजड़ गईं। कितने ही ऐसे दौर आए होंगे, कितने गढ़ बनाए गए होंगे और कितने ही नष्ट हुए होंगे। कितने ही पुराने देवताओं और देव-मन्दिरों की जगह नए देवता और नए देव–मन्दिरों ने ले ली होगी। यह सब कुछ हुआ, परन्तु यह देश ऐसा ही रहा, और पता नहीं कब से यहाँ के लोगों ने इसे 'ठारह करड़ू' का देश ही कहा......आज भी कहते हैं।

मैंने देखा राजाओं के इतिहास के साथ इस देश का इतिहास समाप्त नहीं हो गया। क्रान्तियों के दौर खत्म होने से लोगों की अनुश्रुतियाँ मिट नहीं गईं। राज बदल जाने पर भी जनता के विचार–विश्वास और परम्पराओं में कोई तबदीली नहीं आई। यह देश हमेशा और हर हालत में ठारह करड़ू का देश कहलाया। मैंने अनुभव किया कि लोगों के मन और हृदय पर ठारह करड़ू की छाप लगी हुई है। उसे किसी क्रान्ति के थपेड़े, हुन, पार्थियन, यूनानी, तुर्क, मुग़ल, सिख व अंग्रेज़ के आक्रमण मिटा नहीं सके। बहुत लोग कुल्लू में बाहर से आए और आखिर यहीं के हो रहे। हर एक ने अपने जीवन में ठारह करड़ू की छाप को स्वीकार किया। भले ही बढ़ते-बढ़ते कुल्लू भर मैं तीन सौ साठ या इस से भी अधिक देवता अस्तित्व में आए, परन्तु यह देश ठारह करड़ू का देश ही कहलाया और इन सब में ठारह करड़ू देवताओं का समावेश स्वीकार किया गया। ये ठारह करड़ू ही जनता के जीवन पर छाए रहे। प्रत्येक व्यक्ति का व्यक्तिगत जीवन और समूचे रूप से सारे समाज की व्यवस्था इन्हीं देवताओं के गिद घूमती रही। आज भी यही देवता कुल्लू के जनसाधारण की

संस्कृति हैं, यही उन की सभ्यता हैं और वास्तविकता यह है कि ठारह करडू की कहानी ही इस देश की कहानी है।

ठारह करडू की कहानी क्या है? इस सम्बंध में अनुश्रुति है कि एक बार महर्षि जमदग्नि कैलाश की यात्रा और परिक्रमा कर के स्पिति के रास्ते कुल्लू की ओर आ रहे थे। कुछ समय हामटा के स्थान पर ठहर कर वह मलाणा नाम जगह की ओर चले। मार्ग में चन्द्रखणी पर्वत पर पहुंचे। महर्षि एक टोकरी में अठारह देवताओं की प्रतिमाएं उठाए हुए थे। चन्द्रखणी पर इतने ज़ोर की हवा चली कि टोकरी में से सभी प्रतिमाएं उड़ कर दूर-दूर जा गिरीं। जहाँ जहाँ वे प्रतिमाएं गिरीं, वहां वे देवता रूप में प्रगट हो गईं, और तब हर एक प्रतिमा के लिए एक अलग टोकरी बनी, जिसे कुल्लुई जबान में करडू, करड़ी, करण्डी या कण्डी कहते हैं। देवता जो इस से पूर्व निराकार था, मूर्ति के रूप में साकार हो गया। पवित्र हिमालय के इस आँचल में सब से पहले मूर्ति की स्थापना हुई और सम्भवतः मूर्ति पूजा भी शुरू हुई।

महर्षि जमदग्नि वैदिक काल के ऋषि हुए हैं, रामायण के ज़माने से पहले। अतः ठारह करडू की उपर्युक्त अनुश्रुति से मेरी कल्पना में ठारह करडू के देश का वह युग जाग उठा, जब प्राचीन आर्य ऋषि सप्त सिन्धु में रहते थे। जब वेदों की रचना हो रही थी। जब संसार में मूर्ति का कोई विचार तक नहीं था, और वैदिक ऋषि प्रकृति की शक्तियों को ही निराकार देवता के रूप में मानते थे......तब इस देश को महर्षि जमदग्नि ने अठारह प्रतिमाएं दे कर इसे ठारह करडू का देश बना दिया था, और देवता जो इस से पूर्व निराकार था मुर्ति रूप में साकार हो कर पूजा जाने लगा था। इस अनुश्रुति के अनुसार पवित्र हिमालय का यही दामन था जहाँ सब से पहले मूर्ति की स्थापना हुई मालूम होती है, और मूर्ति पूजा भी। ससार की सब से पहली मूर्ति की कल्पना इस ठारह करडू के देश में पैदा हुई, और यहीं से संसार में फैली। इतिहास साक्षी है कि ईरान, यूनान, मिसर, रोम, तिब्बत, चीन के लोग दो हज़ार वर्ष पहले तक प्रकृति की पूजा करते थे। पंदरह सौ वर्ष पहले मुसलमानों के पैगम्बर हज़रत मुहम्मद ने मक्का में रखी हुई तीन सौ साठ देवमूर्तियों को तोड़ा था। मैंने सोचा संसार की इन सब मूर्तियों की कल्पना और पूजा का आरम्भ सब से पहले ठारह करडू के देश में हुआ था...संसार की पहली पुस्तक ऋग–

वेद भी इसी युग में इन्हीं वैदिक ऋषियों ने लिखी और संसार की पहली मूर्ति भी जमदग्नि ने बना कर संसार को दी। निराकार शब्द को भी अक्षर का रूप दिया गया, और निराकार ईश्वर की शक्तियों को भी मूर्ति के रूप में ढाल दिया गया......कितनी अजीब बात थी।

प्रो० राइस डेविड्स (Prof Rhyes Davids) तथा अनेक अन्य इतिहासकारों का विचार है कि कश्मीर और उस से पूर्व का इलाका वह भूखण्ड है, जहां सब से पहले आर्य लोग आबाद थे, सम्भवत: ऋग्वेद की रचना से भी पहले। इस प्रकार कुल्लू भी कश्मीर के पूर्व का वह भाग है जहाँ निस्संदेह आर्य आबाद थे। ठारह करडू की उपर्युक्त अनुश्रुति का भी सम्बन्ध उसी युग से और उन्हीं लोगों से है। महर्षि जमदग्नि उन्हीं आर्य महर्षियों में से एक थे। उसी समय के उन आर्य लोगों की ज़िन्दगी की झलक का कुछ पता ऋग्वेद के मन्त्रों से लगता है जिन को दृष्टि में रखते हुए मैं विश्वास से कह सकता हूं कि ठारह करडू की छाप तो उनके जीवन पर भी लगी हुई थी। उन का जीवन भी देवताओं के गिर्द घूमता था। वे भी बलि देते थे। देवता को सुरा भेंट करते थे। उन के लिए भी देवता ही सब कुछ थे। अन्तर केवल इतना है कि उस समय संख्या अठारह थी......अब यह बढ़ते बढ़ते तीन सौ साठ या इससे भी अधिक हो गई है। परन्तु देश फिर भी ठारह करडू का ही कहलाता रहा है। भाषा पर दृष्टि डाली तो ऐसा प्रतीत होता है कि इस पहाड़ी प्रदेश की भाषा को ही संस्कार कर के सम्भवत: आर्य ऋषियों ने संस्कृत बनाई होगी। लोक नाच देखा तो इस में आत्मोल्लास और ऐसी मस्ती देखी जो देवताओं का ही हिस्सा हो सकती है। जीवन में सादगी, सच्चाई और सुशीलता भी विरसे में ही मिली हुई मालूम होती है। कितनी अनुरूपता और अनुकूलता विद्यमान है......उस समय में जब ऋषि जमदग्नि ने पहले-पहल इसे ठारह करडू देवता दिए थे और आज जबकि उन लोगों ने लाखों वर्षोंके बाद भी ऋषि जमदग्नि की उस इमानत को पूरे सम्मान और पूरी आस्था के साथ अपने हृदय में सुरक्षित छुपा रखा है बल्कि यूँ कहिए कि अपने जीवन में उसी तरह समो रखा है। निस्संदेह आज के कुल्लू में हम सप्त सिन्धु में रहने वाले प्राचीन आर्यों के जीवन की एक झलक देख सकते हैं। प्रो० मैक्स मूलर ने भी हमारे भारतवर्ष के बारे में लिखा था...........

"There is in fact an unbroken continuity between the most modern and the most ancient phases of Hindu Thoughts extending over more than three thousand years."

"भारतीय संस्कृति की वर्तमान और प्राचीनतम विचारधाराओं में निस्संदेह एक ऐसा क्रम है जो तीन हज़ार वर्ष से अधिक समय से भी टूट नहीं सका है।" परन्तु ठारह करडू के वर्तमान कुल्लू में जिस ढंग से महर्षि जमदग्नि के समय के ठारह करडू की संस्कृति सुरक्षित है, उस से सारा कुल्लू ही वैदिक युग की एक जीती जागती तस्वीर मालूम होता है। इसी लिए आज भी इसे देवताओं की भूमि (Valley of Gods) कहते हैं। अनुश्रुतियों, परम्पराओं, भाषा और संस्कृति के धूएँ से मैंने सप्त सिन्धु के ऋषि आश्रमों में हवन की आग का पता लगा लिया। ठारह करडू के इस प्राचीन देश में पहुंच कर मेरी कहानी की आखरी कड़ी मुझे मिल गई। मैंने ऋषि जमदग्नि को और अठारह करडू को प्रणाम किया और कहा—

अगर शामिल न हो किस्सा तुम्हारा
हमारी दास्ताँ[1] कुछ भी नहीं है।

इस से पीछे न कोई कहानी थी और न अंधेरे में मैंने ठोकरें खाने की जरूरत समझी......जिस कहानी की तलाश में मैं जून, १९५८ में निकला था, उस की एक कड़ी मुझे सप्त सिन्धु में मिली, और दूसरी कड़ी को मैं स्वयं थामे हुए था। बीच की कड़ियाँ कुछ मिल गईं, कुछ मिल कर जुड़ न सकीं। कुछ एक की तलाश अभी भी जारी है।

चाँद की रोशनी में, तारों की छाओं में, ठारह करडू के देश में जो कुछ मैंने देखा, सुना, पढ़ा और महसूस किया, उस की कहानी अब मैं आपको सुनाने चला हूं......ठारह करडू के देश की कहानी.........कुलूत देश की कहानी.........कुल्लू की कहानी।

---

1. कहानी

तीसरा अध्याय

हिमालय की गोद में

तुझ से कुछ जन्नते[1] आदम का निशाँ मिलता है।
यह दिलावेज़[2] सकूं[3] और कहाँ मिलता है॥

हिमालय का नाम ज़बान पर आता है तो सिर सम्मान से झुक जाता है। सृष्टि की रचना से लेकर आज तक यह हमारे देश का न केवल अविचल प्रहरी रहा है, बल्कि आदि काल से इस की हिमाच्छादित चोटियों से निकलने वाली महान तथा पवित्र नदियों ने उत्तरी भारत और विशेषत: पंजाब के मैदानों को हरा-भरा, प्रफुल्लित और उपजाऊ बनाया है। इन्हीं नदियों के किनारों पर......इन्हीं मैदानों में प्राचीन आर्यों ने अपनी बस्तियाँ बसाई थीं। यहीं से एक ऐसी सभ्यता ने जन्म लिया था, जिसे संसार में सर्वोत्तम और प्राचीनतम सभ्यता कहलाने का गर्व प्राप्त है। ऋग्वेद की ऋचाओं में हिमालय का वर्णन बार बार आता है। प्राचीन आर्य लोग हिमालय को स्वर्ग और देवताओं का निवास-स्थान मानते थे। विष्णु पुराण में वर्णन आता है कि ब्रह्मा जी ने हिमालय को पर्वतों का स्वामी बनाया। गीता में भगवान् कृष्ण ने यह कह कर कि **"स्थावराणां हिमालय:"** अर्थात जड़ चीज़ों में मैं हिमालय पहाड़ हूँ, हिमालय को अपना ही दर्जा दे दिया, अपना ही स्वरूप बता दिया, और विराट दृष्टि से इस में अपने अस्तित्व की अभिव्यक्ति की घोषणा कर दी। आचार्य विनोबा जी ने भी अपनी पुस्तक **"गीता प्रवचन"**, के पृष्ठ ६१ पर **"स्थावराणां हिमालय:"** की व्याख्या की है और स्थिरता की मूर्ति के रूप में हिमालय की उपासना का वर्णन किया है। काली दास ने इसे "नगाधिराज" लिख कर गौर्वान्वित किया।

हिन्दु शास्त्रों के अनुसार यदि महा प्रलय का होना स्वीकार किया जाए, तो भी पानी हट जाने पर हिमालय का संसार में सब से पहले प्रकट होना सिद्ध होता है, क्योंकि संसार की सब से ऊँची चोटी......

---

1. मानव का स्वर्ग। 2. चित्ताकर्षक। 3. शान्ति।

मौंट एवरेस्ट (Mount-Everest) इसी हिमालय की चोटी है, और कैलाश पर्वत तथा कंचन चंगा भी जो उस से कम ऊँची हैं, इसी हिमालय की चोटियाँ हैं। अतः ज़रूरी तौर पर जो भू-भाग सब से पहले प्रकट हुआ होगा, सब से पहले सृष्टि की रचना भी वहीं हुई होगी......इस दृष्टि से भी हिमालय के महत्व से इन्कार नहीं किया जा सकता। पुराण की एक कथा के अनुसार हिमालय की लड़की गिरिजा का विवाह आदि देव भगवान् शंकर से हुआ था। महाभारत तो हिमालय के वर्णन से भरा पड़ा है। श्री के० एम० मुन्शी के अनुसार पाण्डवों ने संसार में सूर्य की पहली किरण इसी हिमालय की गोद में श्री बदरी नाथ के पास पाण्डु-केश्वर के स्थान पर देखी और इस के बाद तीन बार पाण्डवों ने इस हिमालय की यात्रा की और अन्तिम बार इसी की गोद में आ कर सदा की नींद सोए। ऋषि महर्षियों की तपो-भूमि में आज से ग्यारह सौ वर्ष पहले श्री आदि शंकराचार्य ने बद्री नाथ के निकट ज्योतिर्मठ में तप करके आत्म ज्ञान और अभूतपूर्व शक्तियाँ प्राप्त की थीं।

आज का संसार भले ही हिमालय की महानता और पवित्रता को उस रूप में स्वीकार न करे जिस रूप में हिन्दू शास्त्रों में इस का वर्णन आता है, तो भी हिमालय का महत्व इस से कम नहीं हो जाता। अब जबकि मित्रघाती चीन ने तिब्बत पर अपना कब्ज़ा जमा लिया है...... अब जबकि कैलाश और मानसरोवर जैसे पवित्र हिन्दू तीर्थों की यात्रा में रुकावट पड़नी शुरू हो गई है, तभी हिन्दुस्तान की आत्मा तड़प उठी है, और तभी इस की कदरे कीमत और इस की महत्ता का एहसास होने लगा है।

इसी पवित्र हिमालय की गोद में

एक छोटी सी सुन्दर तथा मनोहर उपत्यका है जिसे कुल्लू कहते हैं। इस में शक नहीं कि हर युग में इस की शक्ल-सूरत, रूप-रंग, सीमाएं और क्षेत्रफल ज़रूर बदलते रहे हैं। परन्तु अन्ततः जिस इलाके को अंग्रेजों ने कुल्लू करार दिया था, वह पंजाब प्रान्त के काँगड़ा ज़िले में उत्तर पूर्व की तरफ का भू-खण्ड था, जिस में कुल्लू, सिराज, लाहुल स्पिति की छोटी बड़ी तहसीलें शामिल थीं और जिसे एक सब-डिवीज़न करार दिया गया था। स्पिति की सीमाएं चूँकि सीधी तिब्बत से मिलती हैं, और इस लिए कि तिब्बत पर चीन का अधिकार हो चुका है, भारत सरकार ने कुछ वर्ष पूर्व लाहुल और स्पिति को मिला कर एक अलग सीमान्त ज़िला बना दिया है। इस तरह यद्यपि कुल्लू की रूप-रेखा को

राजनैतिक उपयुक्तता की बिना पर बदलने की कोशिश की गई है, फिर भी ऐतिहासिक परम्पराओं के अनुसार सतलुज, व्यास और चन्द्रभागा के बीच के भू-भाग को ही आज तक कुल्लू का नाम दिया जाता रहा है। इस में सन्देह नहीं कि दर्रा रोहतांग और हामटा के उस तरफ अर्थात् लाहुल और स्पिति के लोगों की संस्कृति कुल्लू के लोगों से थोड़ी बहुत भिन्न है, फिर भी छः हज़ार वर्ग मील का यह क्षेत्र थोड़ी बहुत भिन्नता रखता हुआ भी एक है और विभिन्न घाटियों और वादियों में बटा हुआ है।

लाहुल में चन्द्रा और भागा नदियों ने दो घाटियाँ बना रखीं हैं—जिन्हें हम चन्द्रा वैली और भागा वैली कह देते हैं, और जहाँ यह दोनों नदियाँ मिलती हैं वहाँ से एक तीसरी घाटी को जन्म देती हैं, जिसे पटन वैली कहते हैं। इसी तरह स्पिति में जहां चन्द्रा नदी ने एक अलग उपत्यका को जन्म दिया है, वहाँ पिन नदी के कारण पिन वैली भी अस्तित्व में आ गई है।

कुल्लू में भृगु तुँग (रोहतांग) से ले कर बजौरे-औट (Aut) तक एक ही बड़ी वादी है। इसे व्यास की वादी कहते हैं, और सच पूछें तो लोग इसे ही कुल्लू वैली समझते हैं। यात्री इसी की सैर करके अत्यन्त शान्ति और प्रसन्नता के साथ वापिस जाते हैं और समझते हैं कि उन्होंने कुल्लू वैली की सैर कर ली। जिन लोगों ने भी कुल्लू से सम्बन्धित आज तक कुछ लिखा है, उन्होंने प्राय: वादी के इस भाग से ही प्रभावित हो कर लिखा है......इसे ही कुल्लू समझा है, हालांकि कुल्लू वादी में सरवरी और पार्वती नाम से दो छोटी-छोटी सुन्दर घाटियाँ और भी हैं। इसी तरह इन्नर सिराज में सैंज वैली और तीर्थन वैली एवं औटर सिराज में आनी वैली और कुर्पन वैली भी अपना २ स्थान रखती हैं। इसी क्षेत्र को ज़िला कांगड़ा से अलग करके और कुल्लू सिराज को मिला कर एक नया ज़िला बना दिया गया, और इस तरह १९६३ में कुल्लू के इतिहास में एक नए अध्याय की वृद्धि हुई और कुल्लू का स्वरूप एक पृथक और स्वतन्त्र इकाई के रूप में हिमालय की गोद में उभरा।

कुल्लू वादी धौलाधार और हिमालय की बीच की कड़ियों से घिरी हुई है। इसके उत्तर में काश्मीर, उत्तर-पूर्व में तिब्बत और किन्नौर तथा दक्षिण पूर्व की ओर महासू अर्थात् महाशिव का देश, इसके उत्तर

पश्चिम में प्राचीनतम आदि-जातियों, गद्दियों, गूजरों और पंगवालों की सुन्दर भूमि चम्बा स्थित है, तथा दक्षिण में वीर भूमि कांगड़े का विशाल क्षेत्र पड़ता है । यह ज़िला नक्शे में जिस तरफ काँगड़ा से मिलता हुआ प्रतीत होता है वह वास्तव में धौलाधार की अपार-गम्य चोटियां हैं, और वास्तव में जिस मार्ग से यह ज़िला कांगड़ा और पंजाब से मिलता है, वह सारे का सारा मार्ग अस्सी मील लम्बा मण्डी ज़िला से गुज़रता है। इस तरह सौ साल तक ज़िला कांगड़े का एक भाग होते हुए भी यह वास्तव में कांगड़ा से अलग थलग रहा। पंजाब का भाग होते हुए भी यह सांस्कृतिक और सामाजिक दृष्टि से बिल्कुल जुदागाना एक पहाड़ी इलाका था जिस की कोई भी बात मैदान वालों से समानता नहीं रखती थी। भाषा के आधार पर जब पंजाब का बटवारा हुआ तब उसके फलस्वरूप नवम्बर १९६६ को कुल्लू भी हिमाचल प्रदेश का अग बना और इसे अपना वह स्थान मिला जो इसे बहुत पहले मिल जाना चाहिये था। आज कुल्लू भारत के नक्शे पर एक छोटा सा नुकता नज़र आता है......दूर हिमालय की तह दरतह घाटियों और वादियों के बीच.........संसार की नज़रों से ओझल.........एक शाँत भू-खण्ड आज के विशाल भारत में आकार प्रकार के लिहाज से भले ही छोटा है, परन्तु प्रकृति की अपूर्व छटा का प्रतिबिम्ब और कारीगरी का एक विशिष्ट नमूना अवश्य है। केवल विस्तार से किसी इलाके की महानता और विशिष्टता का अदाज़ा करना उचित न्याय नहीं हुआ करता। आखिर भारत की राजधानी दिल्ली कितनी विस्तृत है, यही बीस-तीस मील लम्बाई चौड़ाई। परन्तु सारी पृथ्वी पर इस प्रतिष्ठा से स्थित है कि जितनी क्रान्तियों का यह स्थान रहा है, इतनी शायद ही किसी और जगह पेश आई हों। बनना और बन कर बिगड़ना, यहाँ तक कि बिगड़ बिगड़ कर फिर बनना यह पाण्डवों के इन्द्रप्रस्थ का स्वभाव और भाग्य विशेष रहा है। यही हाल कुरुक्षेत्र और दूसरे कितने ही स्थानों का रहा है। इसी तरह कुल्लू भी अपनी प्रसिद्धि और विशेषता के लिए अपनी लम्बाई चौड़ाई पर आश्रित नहीं है। प्रकृति इस पर दयालू है। कुल्लू को गर्व है अपने हरे-भरे खेतों पर......फलों और फूलों से लदे हुए पेड़ों और पौधों पर,......सतलुज, व्यास, सैंज, तीर्थन, पार्वती, सरवरी, चन्द्र, भागा के खिलखिलाते मधुर संगीत पर। कुल्लू को मान है अपने शान्तिप्रद रहस्यमय वातावरण पर जिसकी तलाश में ऋषि, मुनी, देव, गन्धर्व, किन्नर, किरात, मानव, दानव, नाग, नारायण, और हर

युग के महापुरुष यहाँ आए हैं। कुल्लू मान करता है अपनी प्राचीनतम वैदिक संस्कृति पर, अपनी दैवी सम्पत्ति पर, अपनी उज्ज्वल परम्पराओं और अद्भुत लोक कलाओं पर, और उपयुक्त रूप से गर्व करता है उन अनुश्रुतियों पर जो उसने अपने हृदय में हज़ारों लाखों सालों से सुरक्षित रखी हैं......उस युग से जब अभी संसार की पहली पुस्तक ऋग्वेद भोजपत्र पर लिखी नहीं गई थी,.........जब अभी मानव की कल्पना वैज्ञानिक शक्ति के प्रभाव में नहीं आई थी। हाँ ! कुल्लू कृतज्ञ है प्रकृति की उदारता का जिसने इसे यह भौगोलिक स्थिति प्रदान की, और जिस की अनुकम्पा से वह न्यूनाधिक सुरक्षित रहा उन सभी प्रभावों से जो हर दौर में बाहर के आक्रमण कारियों के कारण सप्त सिन्धु और पंजाब की सभ्यता को बार बार मिट्टी में मिलाते रहे।

इस मनोरम घाटी को जिसने भी प्यार और सौहृद की दृष्टि से देखा, वह इसके प्राकृतिक दृश्यों, हरे-भरे तथा लहलहाते खेतों, ऊँची-ऊँची हिमाच्छादित चोटियों, गहरी-गहरी घाटियों, इसके संगीतमय वातावरण और बहार की मुस्कराहटों से प्रभावित हुए बिना नहीं रह सका। अमन और शान्ति के देवता पण्डित जवाहर लाल नेहरू पर इस वादी के शांत वातावरण ने क्या असर किया, यह उनके अपने शब्दों में सुनिए। उन्होंने कहा "मैं पहाड़ों का उपासक हूं। पहाड़ों के असंख्य रोचक, आकर्षक और अनेक मनोरंजक रौशन पहलू हैं। इस में समानता और भिन्नता स्पष्ट करना एक कठिन काम है। देश में जंगलों से अटी हुई और भी वादियां हैं और ऊँचे भू-खण्ड हैं, जहाँ बर्फ ही बर्फ है, और वृक्षों का कहीं निशान नहीं मिलता। परन्तु मेरा विचार है कि कुल्लू की वादी और विशेषत: मनाली में एक ऐसी मनोहरता है,...... जो केवल काश्मीर में पाई जाती है, वहां एक साकार मौन वास्तविकता का अहसास होता है।"

प्रो० मैक्स मूलर ने एक बार कैम्बरिज विश्वविद्यालय लंदन में १८८२ में भाषण देते हुए कहा **था** :—

"If we were to look over the whole world to find out the country most richly endowed with all the wealth, power and beauty, that nature can bestow—in some parts a very paradise on earth I should point to India."

पं० नेहरु भृगु तुँग (Pohtang Pass) पर

······चन्द्रभागा उपत्यकाओं में स्थित शैल गिरिराज के गगन चुम्बी शिखिरों की मूक भाषा

कि 'यदि संसार भर में हमने किसी ऐसे देश की खोज करनी हो, जिसे प्रकृति ने पूर्ण रूप से धन, शक्ति और सौंदर्य से मालामाल किया हो, और जिसके कुछ भाग में पृथ्वी पर स्वर्ग ही हो, तो मैं बताता हूं वह देश भारतवर्ष है।'—फारसी के एक कवि ने भी लिखा है—

अगर[1] फिरदौस बर रूए ज़मीं अस्त।
हमीं अस्तो हमीं अस्तो हमीं अस्त॥

और अब जबकि पंडित जवाहर लाल नेहरू ने कुल्लू की वादी-विशेषत: मनाली को सौन्दर्य के लिहाज़ से काश्मीर की बराबरी का दर्जा दिया है तो स्पष्ट है कि यह खामोश वादी भी प्रो० मैक्स मूलर के भारत के स्वर्ग में अपना स्थान अवश्य रखती है। कवि भी तड़प उठता है और लिखता है :—

तारों भरी तहरीर नज़र आती है।
तनवीर[2] ही तनवीर नज़र आती है।
कुल्लू की हसीं वादियों के साए में
कश्मीर की तस्वीर नज़र आती है।

शताब्दी पूर्व एक अंग्रेज़ यात्री एम० सी० फोर्बस (M. C. Forbes) ने कुल्लू से सम्बन्धित अपनी पुस्तक "To Kulu and back" में लिखा है कि "For a man whether with a camera or brush, Kulu indeed is a paradise." अर्थात् 'प्रत्येक उस आदमी के लिए, जो चाहे कैमरा ले कर जाए या ब्रश ले कर, कुल्लू वास्तव में एक स्वर्ग है।' पंजाब के भूतपूर्व चीफ जस्टिस श्री खोसला इसे "Valley of Peace and Natural Beauty" अर्थात् शान्ति और प्राकृतिक दृश्यों की वादी कहते हैं, तो श्री एम० एस० रन्धावा (M. S. Randhawa) का दृष्टिकोण है कि "कुल्लू वादी में वह सब कुछ है जिसकी एक प्यासी, थकी हुई और बेचैन आत्मा को हरकत और ज़िन्दगी पैदा करने के लिए ज़रूरत होती है।" और जब इस के सौंदर्य से प्रभावित होते हैं तो लिखते हैं "In its grandeur beauty

1. यदि पृथ्वी पर कोई स्वर्ग है तो वह यही है, यही है, यही है।
2. रोशनी।

and lonliness, the Beas Valley stands unrivalled in the Himalayas." अर्थात् "अपनी महानता, सौंदर्य और एकान्तता के लिए व्यास की वादी का हिमालय भर में कोई मुकाबला नहीं है।" जब वे प्रकृति की रंगीनियों में खो जाते हैं, तो उनका दिल खिल उठता है। तब वे यूँ इस का वर्णन करते हैं "व्यास की वादी में जो बात है, वह हिमालय के दामनमें दूसरी जगह नहीं है। ऊपर पहाड़ों पर रई और तोस का नीला रंग छाया रहता है। और नीचे वादी खनोर की हरयाली से निखर जाती है। अक्तूबर में जब आकाश फिर साफ हो जाता है तो धूप खिली वादी इन्द्रधनुष के बेशुमार रंगों में मुस्करा उठती है। कोश और खनोर के वृक्षों की गुलाबी सब्ज़ी झलक देखने से सम्बन्ध रखती है। किसानों के मकानों की सलेटी छतों पर सूखती हुई मक्की का गाढ़ा पीला रंग वादी की सुन्दरता को चार चाँद लगा देता है। कोदरा खेतों को किर्मिज़ी रंग से रंग देता है। और दूर क्षितिज पर नीले आकाश की पृष्ठ पर बर्फ से ढके हुए साफ और सफेद पहाड़ स्थिरता और दृढ़ता की जीती जागती तस्वीर नज़र आते हैं।" डाक्टर बुद्ध देव भट्टाचार्य की बंगला भाषा में लिखी पुस्तक **"बिपाशा नदीर तीरे"** इसी बर्ष प्रकाशित हुई है जिस के आरम्भ में ही वे लिखते हैं "संसार में प्रसिद्ध है कुल्लू उपत्याका......मैं कहूंगा विपाशा नदी का देश।

जो कहता हूं इस का कारण है। इस देश में विश्वास, अविश्वास, इतिहास, किंवदन्ति, जीवन, यौवन बिपाशा नदी के दोनों किनारों पर से पनपे हैं। यहाँ आने वाले यात्री हर्षोल्लास से भरे चित्त से यह अनुभव करते हैं कि अद्‌भुत और रहस्यमय है यह देश......विपाशा नदी का देश इस प्रदेश के नदी नाले अद्‌भुत हैं और अद्‌भुत हैं इस प्रदेश के नर नारी। यहाँ के अरण्य प्रान्तर, पर्वत, किंदराएं सभी कुच्छ अद्‌भुत रहस्यमय है। विपाशा नदी के संगीत में उन्मत्त खड़ी है यहाँ की आकाश स्पर्शी पर्वत श्रेणियाँ और इन में पली है वह सभ्यता जो इन्द्र धनुष से भी सुंदर है। और इसी इन्द्र धनुषी सौंदर्य से शोभित रूपपुरी में निखर रहा है हिमालय का अपीरमेय सौंदर्य।

और यह सब कुछ एक हकीकत है। कुल्लू वादी प्रकृति की ऐसी रचना है, जिस का हर रंग अपनी जगह पर समानुपातिक और उपयुक्त है। इसे दूर से देखो या निकट से इस का हर पहलू सुहावना और मनोहर

दृश्य लिए हुए है। यह एक ऐसी पुस्तक है जिस का हर विषय रुचिकर है, एक ऐसी कविता है जिस के हर पद्य पर कवि को दाद देने को जी करता है। सच-मुच यह देवताओं की वादी है, जिस के एक किनारे पर श्री तृलोकनाथ का मन्दिर है, और दूसरे किनारे पर भगवान् परशुराम का। बीच में बिजली महादेव, और श्री खण्ड महादेव अपने उच्च स्थान से सारी वादी पर नज़र रखे हुए हैं। मणिकरण और वशिष्ट के गर्म पानी के चश्मों ने लोगों के दिलों में धर्म और आस्था की ऊष्णता को कम नहीं होने दिया है। हर गाँव एक देवस्थान, हर ऊँचे स्थान पर बनी हुई झील एक तीर्थस्थान, हर एक चश्मा पवित्र, हर एक झरना पुनीत, हर ऊँची चोटी योगी–योगिनियों का निवासस्थान[1] पहाड़, दरया, नदी, नाले, हर बड़ा वृक्ष, हर बड़ी चट्टान किसी न किसी देवता से सम्बन्धित–ऐसा प्रतीत होता है कि यहाँ का हर प्राणी ज़बाने हाल से पुकार कर कह रहा है :—

पत्थर की मूरती में समझा है तू खुदा है।
ख़ाके[1] वतन का मुझ को हर ज़र्रा[2] देवता है॥

1. देश की मिट्टी। 2. कण।

चौथा अध्याय

कुलूत देश

इस गुलिस्ताँ[1] को भला कौन गुलिस्ताँ समझे
जो बहारों से चले और खिज़ाँ[2] तक पहुँचे।

कुल्लू वास्तव में कुलूत शब्द का संक्षिप्त रूप है, जिस से केवल 'त' अक्षर निरसित कर दिया गया है जो बोलते समय अनुच्चरित हो जाता है। अंग्रेज़ी भाषा में ऐसे असंख्य शब्द हैं, जिन में कई अक्षर लिखने में आते हैं परन्तु बोलने में उन का उच्चारण नहीं होता। ऐसा न भी हो तो भी शब्द कुलूत से बिगड़ कर कुल्लू बनना बिल्कुल उचित प्रतीत होता है, जैसे स्थानेश्वर से बिगड़ कर थानेसर बन गया है, मन्वालय से मनाली और कात्यायन से कटराईं आदि। जगत सुख को लोग बोलचाल में जगसुख ही कहते सुने हैं, वे 'त' की ध्वनि की झंझट में जाते ही नहीं। मिस्टर डायक का दृष्टिकोण भी इस का समर्थन करता है कि कुल्लू शब्द कुलूत का ही संक्षिप्त रूप है।

कुल्लू के इतिहास से सम्बन्धित जो भी पुराने से पुराना रिकार्ड इस समय तक उपलब्ध है इस में कुल्लू के लिए कुलूत शब्द ही प्रयुक्त हुआ है। कहीं इस शब्द को अलग जाति के लिए लिखा गया है, और कहीं कुलूत को एक देश मान कर उस के राजा को कुलूत राज से व्यक्त किया गया है। यद्यपि संस्कृत की कई पुरानी पुस्तकों, रामायण और महाभारत में कुलूत का वर्णन मौजूद है, परन्तु किसी का ध्यान इस की ओर आकर्षित नहीं हुआ। कुलूत शब्द की छान बीन शताब्दियों तक एक रहस्य ही रही। उन्नीसवीं शताब्दी के आरम्भ में पुरालेख विभाग को एक ऐसा सिक्का मिला जो कुलूत के राजा वीरायास से सम्बन्धित है, और जिस पर 'राजन: कोलूतस्य वीरायासस्य' लिखा है। इस का ठीक उद्धरण और हवाला सब से पहले जनरल कनिंघम (Gen. Cunningham) ने अपनी रिपोर्ट में प्राचीन भारत के सिक्के "Coins of Ancient India" के शीर्षक से प्रकाशित किया। यह सिक्का ब्रह्मी लिपि में है, एक अक्षर खरोष्ठी

1. फुलवाड़ी 2. पतझड़।

"राजन: कोलूतस्य वीरायासस्य"
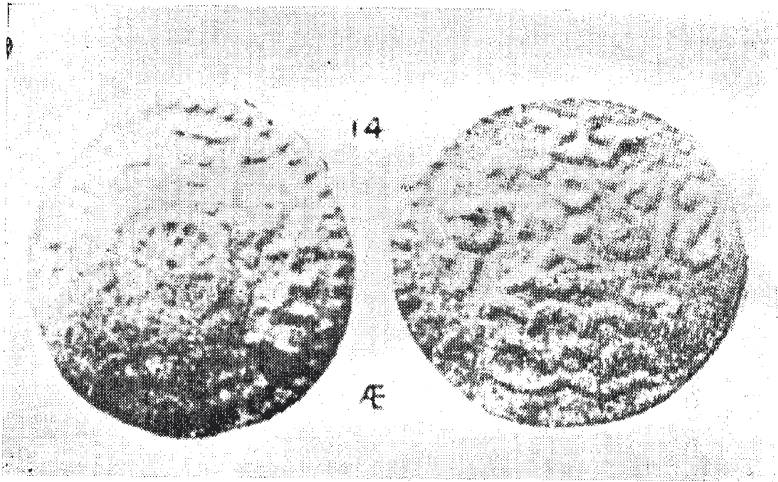
पहिली व दूसरी शताब्दी के सिक्के के दोनों पृष्ट तल, जिससे राजा वीरायासा के कुलूत राज्य का पता चला।

"Coins of Ancient India"

का भी है। इसे स्वीडन के एक विद्वान, डाक्टर ए०वी० बरगनी (A.V. Bergny) ने ठीक ढंग से पढ़ा और फिर प्रोफेसर रैप्सन (Prof. Rapson) जैसे विद्वान इस परिणाम पर पहुंचे कि यह सिक्का पहली या दूसरी सदी ईसवी का है......सम्भवत: दूसरी का। इस से सिद्ध हुआ कि पहली और दूसरी सदी में कुलूत शब्द प्रचलित था, और यह भी कि कुलूत एक देश का नाम था, और उस का राजा था वीरायास। प्रश्न पैदा हुआ कि यह कुलूत देश कौन हो सकता है। तब जनरल कनिंघम, श्री हीरानन्द शास्त्री, प्रोफेसर रैप्सन तथा अन्य विद्वानों ने ह्यू न साँग के यात्रा संस्मरण तथा पुराने संस्कृत साहित्य के संदर्भों से सिद्ध किया कि वर्तमान कुल्लू ही वह कुलूत देश है, जिस का वर्णन इस सिक्के में 'राजन: कोलूतस्य' लिख कर किया है। इस सिद्धान्त का आधार वास्तव में चीनी यात्री ह्यू न साँग का वह सफरनामा है जिस में उसने KI-O-LU-TO नाम से एक ऐसे देश का वर्णन किया है जो जालन्धर से ७०० मील या ११७ मील उत्तर-पूर्व की ओर स्थित है। और फिर ह्यू न साँग ने इस भू-खण्ड का जो वर्णन किया है, उस से भी साफ स्पष्ट है कि यह कुलूत नाम का देश वर्तमान कुल्लू के सिवाए और कोई नहीं हो सकता, क्योंकि कुलूत के साथ ही ह्यू न सांग ने जिन दूसरे इलाकों का वर्णन किया है वे हैं LO-U-LO अर्थात लाहुल और SHE-TO-LO अर्थात शतद्रु—सतलुज नदी का देश। ह्यू न साँग ने ६३५ के लग-भग यह यात्रा की थी, जिस से सिद्ध होता है कि दूसरी सदी ईसवी में वीरायास के शासन के बाद से छटी सदी तक इस इलाके को कुलूत ही कहते थे। बृहत्संहिता का लेखक बराह मिहिर जो ह्यू न साँग से कुछ ही पहले लग-भग ५८७ ईसवी में हुआ है, अपनी रचना में कुलूत का वर्णन करता है। संहिता के कूर्म विभाग में हिमालय में बसने वाली जातियों का वर्णन करता है तो कुलूत नाम की जाति का पूर्व और पश्चिम में दोनों तरफ होना प्रकट करता है। उत्तर-पश्चिम की जातियों का वर्णन करते हुए वह श्लोक २२ में लिखता है :—

दिशि पश्चिमोत्तरस्याँ माण्डव्य, तुषार, तालहल, भद्रा।
अश्म, कुलूत, हलडा, स्त्रीराज्य, नृसिंहवन, सस्या ॥ १/२२ ॥

परन्तु श्लोक का ध्यान से अध्ययन करने से पता चलता है कि पश्चिमोत्तर में बसने वाली जिन जातियों के साथ कुलूत का वर्णन किया

है, उन से किसी तरह सम्बन्ध और अनुकूलता नज़र नहीं आती। इन जातियों के साथ कुलूत नाम की जाति का उत्तर-पश्चिम में होना एक ऐसी बात है जिस की आज तक किसी ने खोज नहीं की। सम्भवत: ज़रूरत महसूस ही नहीं की, शायद इस लिए कि उत्तर-पूर्व की जातियों का जहाँ उल्लेख किया है वहाँ कुलूत नाम को बिल्कुल उचित और ठीक स्वीकार करने में शक की गुँजाइश नहीं रहती है। वराह मिहिर उत्तर-पूर्व में बसने वाली जातियों का इस तरह उल्लेख करता है :—

ऐशान्या मरेक नष्ट राज्य, पशुपाल, कीर, काश्मीर: ।
अभिसार, दरद, तग्गण, कुलूत, सैरिंध्र वनराष्टा ॥
ब्रह्मपुर............इत्यादि............॥ १/२९ ॥

उपर्युक्त श्लोकों में जब हम कुलूत का वर्णन काश्मीर, अभिसार, दरद, ब्रह्मपुर, सैरिन्ध्र आदि के साथ देखते हैं तो कुलूत नाम का भारत के उत्तर पूर्व में होना अधिक ठीक और स्वीकार्य प्रतीत होता है। हो सकता है पहली स्थिति में श्लोक नं० २२ के मुताबिक उत्तर पश्चिम में भी कुलूत की कोई देश या कोई जाति उस समय रही हो, जो युग की क्रान्तियों की चोट न सह सकने पर अपने आप को सुरक्षित न रख सकी हो। परन्तु जहाँ तक श्लोक नं० २९ के अनुसार उत्तर पूर्व में कुलूत शब्द आया है यह निस्सन्देह उचित है और यह बृहत्संहिता का कुलूत वही है जो आज का कुल्लू है। रही यह बात कि वराह मिहिर ने उस समय इसे एक जाति के रूप में क्यों लिखा ? सो यह बात कुछ अधिक महत्व की नहीं। लेखक ने ब्रह्मपुर, अभिसार, काश्मीर को इस सूची में दर्ज करके इस प्रश्न का उत्तर तो स्वयं ही दे दिया है। ब्रह्मपुर निस्सन्देह कोई जाति नहीं हो सकता है। काश्मीर भी देश का नाम है। परन्तु जिस तरह हम आज भी काश्मीर के लोगों को ज़ात-पात का लिहाज़ किए बिना काश्मीरी कह देते हैं, इसी तरह से बृहत्संहिता के लेखक ने भी काश्मीर: से अभिप्राय कश्मीर के लोग कह कर इसे जातियों की सूची में लिख दिया है। इसी तरह अभिसार से अभिप्राय अभिसार के लोग और ब्रह्मपुर से अभिप्राय ब्रह्मपुर के निवासी हैं। इस तरह 'कुलूत' शब्द को यदि इन जातियों की सूची में रखा है, तो यहाँ लेखक का अभिप्राय कुलूत से कुलूत देश के लोगों से है निस्सन्देह कुलूत एक देश ही सिद्ध होता है, जो काश्मीर, अभिसार, ब्रह्मपुर[1] के निकट स्थित

1. चम्बा ज़िला में भरमौर नाम का स्थान।

हो सकता है और यह वर्तमान कुल्लू ही है।

उपर्युक्त विचारों का समर्थन श्री हीरा नन्द शास्त्री ने भी अपनी रिपोर्ट (Survey of India) के पृष्ठ २६० पर किया है, जिस में वह लिखते हैं कि कुलूत का वर्णन महाभारत में उन देशों की सूची में आता हैं, जो भारत के उत्तर में स्थित हैं, और इस सूची में कुलूत का उल्लेख अभिसार के साथ आया है। इस से स्पष्ट है कि अभिसार भी एक देश था। इस बिना पर कुलूत भी एक देश था। वराह मिहिर ने कुलूत को भी अभिसार के साथ जातियों की सूची में दर्ज किया। बहरहाल, कुलूत को एक जाति भी माना जाए, तो भी कोई आपत्ति नहीं। इतिहास में ऐसा भी होता रहा है कि कभी किसी जाति के कारण किसी देश का नामकरण हो जाता है और कभी किसी देश के कारण किसी जाति या राष्ट्र का नाम प्रसिद्ध हुआ है। कोई भी स्थिति हो, हमें तो यह कहना है कि बृहत्संहिता में भी कुलूत का नाम आया है, और उस युग में कुल्लू को कुलूत ही कहते थे। जब ह्यू न साँग भारत में आया उस समय (६०६-६४२ में) महाराज हर्ष वधन उत्तर भारत में राज करता था। उस के दरबार में वाण भट्ट नाम का एक कवि हुआ है, जिस ने कादम्बरी नाटक लिखा। इस नाटक में बताया गया है कि किसी समय उज्जैन के राजा तारा पीड ने कुलूत पर चढ़ाई की थी और वापसी पर कुलूत राज की कन्या पत्रलेखा को साथ लाया था, जिसे उस ने बाद में अपने लड़के चन्द्र पीड को दासी के रूप में दिया था। कादम्बरी संस्कृत का एक प्रसिद्ध नाटक है। नाटक होने के नाते चाहे इस के पात्र कल्पित ही क्यों न हों, फिर भी इस से यह तो सिद्ध हो ही जाता है कि न केवल वाण भट्ट के समय में कुलूत एक देश के रूप में मौजूद था, बल्कि उस से पहले उज्जैन के राजा पीड की जिस कुलुत विजय का उस ने कादम्बरी में वर्णन किया है, उस से कुछ ऐति–हासिक तथ्य की झलक भी टपकती है। प्रसिद्ध इतिहासकार फरिश्ता लिखता है कि बहुत दिन पहले कनौज (उज्जैन) के राजा राम देव ने शिवालक के पहाड़ी इलाकों पर आक्रमण कर के पाँच सौ छोटे छोटे राजों को पराजित किया था। हो सकता है कि वाण भट्ट का संकेत ऐसी ही किसी घटना की ओर हो। कादम्बरी को इस नाटक में एक गन्धर्व कन्या बताया गया है, और इस के पिता गन्धर्व राज का स्थान हेम कूट लिखा है। हेम कूट को कुल्लू में हामटा से भी सम्बन्धित किया जा सकता है। मालूम होता है कि कादम्बरी नाटक का लेखक कवि वाण भट्ट कुल्लू में

घूमा है, और स्पष्ट है कि उस समय इसे कुलूत कहते थे। जिसे आज कुल्लू कहते हैं उस देश के राज को कहते थे कुलूत राज। मि० वोगल "History of Punjab Hill States" के पृष्ठ ४१७ पर कादम्बरी पर टिप्पणी करने के बाद लिखते हैं "In any case the reference proves that in the seventh century Kuluta was recognised as a separate kingdom," अर्थात् कुछ भी हो, इस संदर्भ से सिद्ध होता है कि सातवीं शताब्दी में कुलूत एक अलग राज्य स्वीकार किया जाता था।

मुद्रा राक्षस एक और संस्कृत का प्रसिद्ध नाटक है, जिसे कवि विशाख दत्त ने लिखा है। श्री हीरा नन्द शास्त्री का कहना है, कि यह लग भग छटी सदी ईसवी में हुआ है। कुछ अन्य विद्वानों के विचार में मुद्रा राक्षस चन्द्र गुप्त के समय में चौथी पाँचवी सदी में लिखा हुआ होना चाहिए। खैर, कवि विशाख दत्त ने मुद्रा राक्षस को जब भी लिखा ठीक लिखा है, और उस में कुलूत राज का खूब वर्णन किया है। नाटक की कहानी का सम्बन्ध ईसवी पूर्व तीसरी शताब्दी से है, जब चन्द्र गुप्त मौर्य ने नन्द वंश को समाप्त कर के मगध की राज गद्दी सम्भाल ली थी। नाटक में पांच राजाओं को पर्वतेश्वर के लड़के म्लेच्छ राज मल्लय के साथी दिखाया गया है, जो चन्द्रगुप्त का विरोधी था। इन पाँच राजाओं में काश्मीर, सिन्धु, यूनान, और मल्लय के राजाओं के साथ कुलूत राज का भी नाम है। इस उल्लेख से दो बातें सिद्ध होती हैं—एक यह कि कवि विशाख दत्त के समय भी कुलूत एक प्रसिद्ध राज्य रहा होगा, और ईसवी सदी से तीन सौ साल पहिले चन्द्र गुप्त मौर्य के जमाने में भी कुलूत बड़ा देश रहा होगा, क्योंकि उसका वर्णन काश्मीर, सिन्ध और यूनान जैसे बड़े देशों के साथ किया जाना उचित समझा गया, और कुलूत के राजा को कहा गया कुलूतेश्वर अर्थात् कुलूत देश का स्वामी।

जहाँ तक मेरी खोज का सम्बन्ध है, मैं समझता हूं कवि विशाख दत्त ने भी कुलूत नाम अपने नाटक के लिए कौटिल्य के अर्थशास्त्र से लिया है, क्योंकि डाक्टर सत्य केतु ने अपनी जो किताब **"विष्णु गुप्त चाणक्य"** के नाम से लिखी है, उसमें उन्होंने स्वयं स्वीकार किया है, कि किताब में जो भी ऐतिहासिक नाम आए हैं, वे उन्होंने आचार्य कौटिल्य के अर्थशास्त्र से लिए हैं। डाक्टर सत्य केतू ने भी अपनी किताब में

कुलूत देश का उल्लेख किया है। डाक्टर सत्य केतू ने यहाँ तक लिखा है कि 'कुलूत और काश्मीर की सेनाएं उस बड़े युद्ध में शामिल थीं जो कुमार गुप्त ने सिन्ध नदी पर लड़ा था।' यहां पर यह लिखना भी अनावश्यक नहीं होगा कि मुद्रा राक्षस नाटक संस्कृत साहित्य में एक उत्कृष्ट ग्रन्थ माना जाता है। छटी सातवीं सदी से दसवीं सदी तक इस के बाद जो भी संस्कृत का साहित्य लिखा गया है, उस में न्यूनाधिक मुद्रा राक्षस नाटक का किसी न किसी रूप में वर्णन आता है।

मुद्रा राक्षस के वर्णन से प्रतीत होता है कि दसवीं सदी में यह नाटक बहुत प्रसिद्ध था, और स्वाभाविक रूप से भारत भर के साहित्यिक केन्द्रों में इस नाटक के साथ ही कुलूत का नाम एक स्वतन्त्र पहाड़ी राज्य के रूप में साधारण पढ़े-लिखे लोगों के मन में ज़रूर मौजूद होगा। ईसवी सदी ९१७ के लग-भग राजशेखर नाम का एक और कवि हुआ है जो कनौज के महाराजा मही पाल का दरबारी था। महाराजा महीपाल की दिग्विजय के बाद उसने **बाल भारत** या **प्रचण्ड पाण्डव** के नाम से एक नाटक लिखा जिस में महाराजा महीपाल की कुलूत विजय का उल्लेख बड़े गर्व से किया है। इस के उल्लेख से ऐसा मालूम होता है कि उन दिनों सम्भवत: कुलूत को विजय करना एक कठिन कार्य था, और उसे विजय किए बिना दिग्विजय पूर्ण नहीं हो सकती थी। श्री के० एस० मुन्शी ने कुलूत को पंजाब और हिमाचल में ही बताया है, जो ठीक आज का ही कुल्लू है और ऊपर लिखित सब घटनाएं और ऐतिहासिक तथ्य सिद्ध करते हैं कि निस्सन्देह उस समय इस की सीमा काफी विस्तृत होगी, और काश्मीर, गढ़वाल तक फैली हुई होगी।

कालिदास के मेघदूत को यदि ध्यान से पढ़ा जाए तो ऐसा प्रतीत होता है कि उसकी कल्पना की अल्का पुरी पार्वती वैली और मनीकरण के इर्द-गिर्द का इलाका ही हो सकती है। यक्षराज कुबेर का भी इधर होना सिद्ध होता है, क्योंकि यह कुल्लू ही है जहाँ कुबेर को भी एक देवता माना जाता है। बड़ी मनोरंजक उलझन सामने आती है, जब बोद्ध लामाओं का एक मन्त्र हमारे सामने आता है। वे कहते हैं **'जम्बला जलन्धराय नमः'**। शब्द 'जम्बला' वे धन के स्वामी को कहते हैं, जिसे संस्कृत में कुबेर कहते हैं। इधर मलाणा का देवता 'जम्बलू' के नाम से पुकारा जाता है। क्योंकि मलाणी भाषा के बहुत से शब्द तिब्बती

भाषा से मिलते हैं, इस लिए यदि तिब्बती शब्द 'ज़म्बला' से ही 'ज़म्बलू' कहा गया हो तो फिर मलाणा का देवता जिसे लोग जमदग्नि ऋषि कहते हैं, वास्तव में ज़म्बला अर्थात कुबेर सिद्ध होता है। और इसी आधार पर मलाणा, पुलगा और पार्वती वैली का इलाका, और उस के ऊपर उत्तर-पूर्व में जो इलाका है वही कालिदास की कल्पना का वह इलाका है जिस का उल्लेख कालिदास मेघदूत में करता है, जिस में यक्ष भी एक महत्वपूर्ण पात्र है और अलका पुरी काव्य की पृष्ठ भूमि।

ग्यारहवीं सदी में चम्बा के एक ताम्र पत्र (Copper plate) में चम्बा के राजा सहेलावर्मन ने कुल्लू के राजा को '**कुलूतेश्वरा स्वकुल्य**' लिखा है अर्थात् अपने कुल का, कुल्लू देश का स्वामी। **राज तरंगिणी** में भी जो काश्मीर का प्रमाणित प्राचीन इतिहास माना जाता है, दो बार कुलूत का वर्णन आता है। पहला वर्णन छटी शताब्दी का है। लिखा है कि चोला नरेश.........रति सेन ने अपनी लड़की राना रम्भा को अपने मित्र कुलूत राज के यहाँ भेजा, जहाँ उसे मिलने के लिए रामादित्य काश्मीर का राजा आया। दूसरी बार तब वर्णन आया है जब काश्मीर के राजा ज़ैन-उल–आबदीन ने १४२०–१४७० के बीच गूगा देश अर्थात अपर किन्नौर के इलाका पर आक्रमण किया। लिखा है "Robbed by his splender the glory of town of Kuluta," अर्थात "**उस ने आपनी वीरता से कुलूत की राजधानी की शान को लूटा**।" उपर्युक्त दोनों उल्लेख यह सिद्ध करते हैं कि चौदहवीं सदी तक भी कुल्लू का नाम कुलूत ही रहा है, और इस की महानता उस समय भी एक आज़ाद और स्वतन्त्र राज्य की रही है।

रामायण और महाभारत में भी कुलूत शब्द आया ज़रूर है, परन्तु कुछ परिवर्तन के साथ। महाभारत के भीष्म पर्व में आठवें अध्याय के श्लोक ५२ में दर्ज है :—

काशमीरा सिंधु सौवीरा गाँधारा दसकस्तथा
अभिसार: उलूतश्च शैवाला वाहि कस्तथा (५२)

यहाँ शब्द उलूत आया है, परन्तु बृहत्संहिता में जिस का वर्णन पहले आ चुका है, अभिसार के साथ कुलूत शब्द आया है। इस तरह मुद्रा

राक्षस में कुलूत का उल्लेख काश्मीर और सिन्ध के साथ आया है। उक्त श्लोक में भी उलूत का शब्द काश्मीर और सिन्ध के साथ ही आया है। फिर इस के साथ गाँधारा, शैवाला और वाहिक शब्द हैं। इन में शैवाला से अभिप्राय उस देश से है जिसे आज हम शिवालक कहते हैं, और वाहिक देश उस समय पंजाब को कहा जाता था। अत: स्पष्ट है कि पंजाब, शिवालक के साथ उलूत नाम के किसी देश का इतिहास में कभी उल्लेख तक नहीं आया। अतएव यह शब्द उलूत नहीं कुलूत ही है, जिस की सीमाएं उस समय सम्भवत: शिवालक तक फैली होंगी। कुलूत की इस भौगोलिक स्थिति का प्रमाण इस श्लोक से आगे आने वाले दूसरे श्लोक में भी मिलता है जिस में हिन्दुस्तान से उत्तर पूर्व और उत्तर पश्चिम की कुछ मलेच्छ जातियों का वर्णन आता है, लिखा है :—

यवन, चीन: काम्बोजा दारण म्लेच्छ जातय
सक्रदग्रह: कुलाथश्च हुणा पार्सिकाय सह (६४)

पार्सियों के साथ एक कुलाथ जाति का भी वर्णन आया है, यह तो ठीक है कि कुलूत और श्लोक ५२ के बाकी देशों के इर्द-गिर्द दूर-दूर तक यह म्लेच्छ जातियाँ होंगी, परन्तु कुलाथ से कुलूत का सम्बन्ध कुछ दिखाई नहीं देता। बहुत से विद्वानों का शक है कि मुद्रा राक्षस में वर्णित म्लेच्छ जाति कहीं यही कुलाथ जाति न हो जिस का इस श्लोक में उल्लेख किय गया है। परन्तु यह विचार स्वीकार नहीं किया जा सकता क्योंकि मुद्राराक्षस में कुलूत का वर्णन काश्मीर के साथ आया है। और महाभारत के उपर्युक्त श्लोक ५२ में भी कुलूत का उल्लेख काश्मीर के साथ आया है। इस लिए मुद्रा राक्षस का कुलूत वही है, जो ऊपर महाभारत का कुलूत है। हाँ, श्लोक ६४ के शब्द कुलाथ से हम उस कुलूत शब्द की शुद्धि शायद कर सकें जिस का वर्णन वराह मिहिर ने बृहत्संहिता में उत्तर पश्चिम में बसने वाली जातियों में किया है। चम्बे में भी कलाथ नाम का एक स्थान है......और यह भी सम्भव है कि यह उत्तर पश्चिम में बताया कुलाथ 'कलात' नाम की रियास्त ही हो जो आज भी पाकिस्तान में बलोचिस्ताँ के अन्दर स्थित है। किसी समय यह सब इलाका आर्यवर्त में ही शामिल समझा जाता था। अफगानिस्तान तो आज भी अपने आप को आर्याना कहलाने में गर्व महसूस करता है। कुल्लू में भी एक स्थान कलाथ है, जिसे कपिल मुनि का स्थान कहा जाता है।

यह स्थान मनाली से पाँच मील नीचे है, जहाँ गर्म पानी के चश्मे हैं। उपर्युक्त शब्द कुलाथ और कुल्लू के इस कलाथ नाम तीर्थस्थान का आपस में क्या सम्बन्ध है इस के बारे में अभी कुछ नहीं कहा जा सकता। सम्भवतः भविष्य में कोई अनुसंधान कर्ता शायद इस गुत्थी को सुलझाने का प्रयत्न करे।

श्री हीरा नन्द शास्त्री "**सर्वे आफ इण्डिया रिपोर्ट १९०७-८**" में स्वीकार करते हैं कि महाभारत में कुलूत शब्द कुल्लू के लिए आया है, और कि '**मार्कण्डेय पुराण** में भी कुलूत का वर्णन मिलता है। जनरल कनिंघम के अनुसार **विष्णु पुराण** में भी कुलूत शब्द होने का वर्णन है, जो वर्तमान कुल्लू और उसके लोगों के लिए प्रयुक्त हुआ है। जनरल कनिंघम के अनुसार रामायण में Kaulata नाम ऐसे लोगों का उल्लेख आया है जिसके बारे में उस का विचार है कि ये वही लोग हैं जिन का वर्णन बृहत्संहिता में कुलूत नाम से किया गया है। रामायण के किष्किन्धा काण्ड में निम्नलिखित श्लोक आया है :—

मरीची पट्ठनम् चैव शैव्यं च जटिलस्थलम्
सौवीरम् अंग लोकं च तथा कोलुकमेवच ॥

विलसन का विचार है कि इस श्लोक के शब्द कोलुक का सम्बन्ध उसी देश और वंश के लोगों से है जिसे कुलूत कहते हैं या जो वर्तमान कुल्लू है। इसे किसी हद तक ठीक स्वीकार किया जा सकता है, क्योंकि इस श्लोक में शब्द 'कोलुकम्' दो और शब्दों के साथ आया है—एक सौवीरम् और दूसरा जटिलस्थलम्। ऊपर वर्णन आ चुका है कि महाभारत में कुलूत शब्द जिस श्लोक में आया है, उसमें काश्मीरा, सिन्धु, सौवीरा देशों का एक साथ वर्णन आया है। रामायण के उपर्युक्त श्लोक में सौवीर शब्द का कोलुक के साथ ही वर्णन में आना सिद्ध करता है कि महाभारत का शब्द कुलूत और रामायण का यह शब्द कोलुक एक ही नाम है, क्योंकि शब्द '**सौवीर**' दोनों में सांझी है। दूसरे शब्द '**जटिलस्थल**' का इशारा हमें बृहत्संहिता के श्लोक नं० ३० में मिलता है, जहां भारत में उत्तर-पूर्व की जातियों का वर्णन करते हुए वराह मिहिर ने लिखा है। इस में एक जाति का नाम आया है जटासुर और रामायण में उल्लिखित '**जटिलस्थल**' का अर्थ है '**जटिल**' अर्थात् जटा वाले लोगों का स्थान।

अब जटासुर और जटिल का संस्कृत में एक ही अर्थ है। बृहत्संहिता के अनुसार जटासुर जाति भारत में उत्तर पूर्व की ओर थी, इस लिए यह स्थान जटिलस्थलम् भी वही है जहाँ जटासुर जाति का होना लिखा गया है। इसी आधार पर कि **'जटिलस्थलम्'** भी उत्तर पूर्व में है, और सौवीर के साथ ही इस का वर्णण आया है, यह स्वीकार करने की गुँजाइश पैदा करता है कि उपरिलिखित शब्द **'कोलुक'** भी वही इलाका है जिसे महाभारत और बृहत्संहिता में कुलूत नाम दिया गया है। एक और बात विशेष रूप से यहाँ उल्लेखनीय है कि रामायण के उपर्युक्त श्लोक में जितने नाम आए हैं अर्थात् मरीची, पट्टनम, शैव्य, जटिलस्थल, सौवीर, अंगलोक आदि यें सब देश और स्थान हैं। अत: कोलुक भी देश है, और ऊपर उल्लिखित हमारे दृष्टिकोण के अनुसार तथा विलसन और कनिंघम के विचारों के अनुसार यह कोलुक देश कुलूत देश ही है, जो हमारा आज का कुल्लू है। मालूम होता है कि रामायण काल में इस देश का नाम कोलुक था, और यह नाम इसे कोल नाम की उस बड़ी जाति के कारण मिला था, जो उस समय इस सारे इलाके पर आबाद और काबिज़ थी, जिसके वंशज आज भी इस इलाके में कोली कहलाते हैं और गढ़वाल के कुछ एक क्षेत्रों में जिन्हें कोल्टा कहा जाता है। सम्भव है यही कोल, कोल्टा अर्थात् कुलूत के लोग ही उस मलेच्छ राज्य के नाम से लिखे गए हों जिस का उल्लेख मुद्रा राक्षस नाटक में किया गया है। और हो सकता है उस समय उन लोगों का राज्य हिमालय की तराई में इतना विशाल रहा हो कि उस की गणना सिंधु और काश्मीर के राज्यों से की गई।

इसके बहुत बाद अर्थात् महाभारत के युग म इस देश का नाम कुलूत पड़ा, फिर वहां रहने वाले लोगों को भी कुलूत ही कहा गया। इसके बाद के युग में इस इलाके को कुलूत नाम से ही लिखा जाता रहा है। पंदरहवीं सदी तक के जो ऐतिहासिक अभिलेख उपलब्ध हो सके हैं, और जिन का वर्णन ऊपर हो चुका है, इन से यही सिद्ध होता है कि कुल्लू का असली नाम कुलूत ही था। इस में अब शक और संदेह की रत्ती भर भी गुंजाइश नहीं है। यहाँ पर यह वर्णन कर देना भी कुलूत नाम के इतिहास पर एक प्रमाणित मोहर लगा देगा कि लाहुल-स्पिति के पुराने बूढ़े लोग आज भी कुल्लू को कुलूत ही कहते हैं।

ऊपर जो कुछ लिखा गया है उस से एक बात तो स्पष्ट सिद्ध हो

गई है कि कुल्लू का असल नाम कुलूत है, और इस के उल्लेख लग-भग रामायण युग से ले कर पंदरहवीं सदी तक के लिखित रिकार्डों में मौजूद हैं। जनरल कनिंघम भी अन्तिम रूप में कुलूत को ही पुराना नाम स्वीकार करते हुए, और मिः डाइक उस का समर्थन करते हुए काँगड़ा गज़ट के पृष्ठ १२ पर लिखते हैं कि "I conclude that the modern Kulu must be only an abbreviation of the ancient name", अर्थात् **"मैं इस परिणाम पर पहुंचा हूं कि आज का कुल्लू पुराने नाम का ही संक्षेप है।"** इस बहस से एक दूसरा पहलू भी विशेष रूप से हमारे सामने आया है, और यह बात सिद्ध हो गई है कि बहुत पुराने समय से ले कर कुलूत को एक देश और उस के शासक को कुलूत राज कुलूतेश्वर और कुलूत देश के स्वामी के रूप में स्वीकार किया गया है। चाहे कुलूत का राज्य कभी हिमालय पर्वत के विशाल दामन में फैल गया हो, या कभी सिकुड़ कर एक छोटे से राज्य की सीमा में किसी बड़ी शक्ति की छाया में रहा हो, यह वास्तविकता है कि कुलूत का एक अलग अस्तित्व रहा है, और इस लिए हमेशा से इसे एक देश कहा गया है। जिस समय राजा वीरायास का सिक्का मिला है और उसे ठीक ढंग से पढ़ा गया है, उस समय से डाक्टर बोगल, डाक्टर हैचीसन, डाक्टर रैप्सन तथा डाक्टर वरगनी ने एक-मत हो कर कहा था कि **"कुलूत को भी प्राचीन भारत की पुरानी रियास्तों की सूची में स्थान दिया जाता है, अतः काश्मीर और काँगड़ा के बाद कुल्लू भी पंजाब की पहाड़ी रियास्तों में एक बहुत ही पुरानी रियास्त स्वीकार की जानी चाहिऐ"**। इसी दृष्टि से कुल्लू के लोगों ने इसे हमेशा एक देश के नाम से पुकारा है। पुराने समय में देश और प्रदेश का दृष्टिकोण भी तो अत्यन्त विचित्र और सीमित था। यातायात के साधन न होने के बराबर थे। जब घोड़े से अधिक तेज़ सवारी नहीं थी उस समय देश का दृष्टिकोण अपने ही इर्द-गिर्द के वातावरण तक जा सकता था जहाँ तक लोग जा कर अपने देश को देख सकते थे, या जहाँ तक आसानी से साधारणतया वे देश की कल्पना कर सकते थे, उसे वे लोग अपना देश कहते थे। इस से बाहर उन के लिए प्रदेश हुआ करता था। यदि किसी राजा की रियास्त थी तो लोगों के लिए उस रियास्त की सीमाएँ ही अपना देश कहलाता था। यदि कोई जन-पद था तो उस की सीमाएँ उन का देश होता था। कुल्लू चूंकि एक बहुत पुराने समय से ले कर एक अलग-थलग दूर हिमालय के दामन में......एक जनपद या रियास्त के रूप में रहा है, और चूंकि उस तक

पहुंच और यातायात अत्यन्त कठिन कार्य था, इस लिए कुल्लू देश की कल्पना लोगों की अपने ही ढंग की रही है, और वे कुल्लू को ही अपना देश कहते हैं। भारत में पुराने समय में कई बार चक्रवर्ती राज्य भी स्थापित हुए। विशेषतया चन्द्र गुप्त मौर्य से हर्षवर्धन तक देश की कल्पना चाहे हिमालय से कुमारी अन्तरीप तक फैल गइ परन्तु कुल्लू की वादी के लोग इस से बहुत कम प्रभावित हुए होंगे। उन की नज़रों के सामने इतना विशाल भारत वर्ष.........हिमालय से कुमारी अन्तरीप तक कब उभरा होगा......और उभर भी कैसे सकता था।

पुराना समय तो खैर पुराना समय था। अब नए समय में भी जबकि समय और फासला एक मज़ाक बन कर रह गए हैं, अब जबकि हज़ारों सालों की गुलामी के बाद हिन्दुस्तान......हिमालय से रास कुमारी तक एक राष्ट्र बन चुका है.........अब जबकि हर भारती के लिए देश की कल्पना एक महान भारत देश है, कुल्लू वादी के भोले-भाले लोग अपनी प्यारी जन्म-भूमि कुल्लू को ही अपना देश कह कर पुकारते हैं। इन के मन और हृदय में उस कविता का सम्भवतः कोई प्रभाव नहीं होगा, जिस में इकबाल ने कहा था :—

सारे जहाँ से अच्छा हिन्दुस्ताँ हमारा
हम बुलबुलें हैं इस की यह गुलिस्ताँ हमारा।

उन की कल्पना में......उनके मस्तिष्क के रंगीन पर्दों पर, उन की रग रग में......उन की नज़र के आगे फैले हुए आकाश के नीचे.........उन के सुहावने सपनों में कुल्लू ही उन का अपना प्यारा देश है......सतलुज, व्यास और चन्द्र भागा का देश......और तब उन की भावनाएं दिल की गहराइयों से निकल कर इस लोक गीत की शक्ल में उभर आती हैं, और धीरे धीरे, हमेशा हमेशा कुलूत देश के सुहावने वातावरण में बिखरती रहती हैं :—

देशा देशा न शोभला देश कुलू पियारा।
आसै सी एइरै तीतरू चाकरू ऐ बगीचड़ू म्हारा॥

पाँचवाँ अध्याय

जब वेदों की रचना हुई

तब कुल्लू का नाम कुलूत नहीं था—

क्या नाम था ? क्या हो सकता था ? यह भी कोई कुछ नहीं कह सकता, क्योंकि यह इतने पुराने युग की बात है—जहाँ तक पहुंचते पहुंचते हमारी अनुश्रुतियाँ खामोश हो जाती हैं। हमारी कल्पना की तो मजाल ही क्या जो वहाँ तक उड़ान भर पाए।

और जब इस देश का अपना अस्तित्व ही जुदागाना तौर पर नहीं था, तो इस की कहानी भी अलग रूप में अपनी कहानी नहीं थी। हो भी नहीं सकती थी। तब यह उस देश का भाग था, जिसे 'सप्त सिन्धु' कहते थे, अर्थात् सात नदियों का देश। अतः सप्त सिन्धु की कहानी ही इस की कहानी थी।सप्त सिन्धु की सात नदियों में से चार नदियाँ कुलूत देश से निकल कर सप्त सिन्धु के मैदानों की ओर बढ़ती थीं। तब तक बढ़ती चली गईंजब इसे......हज़ारों वर्षों के बाद....सात की बजाए पाँच नदियों का देश अर्थात् पंजाब कहा गया.........

और अब भी बढ़ती चली जा रही हैं, जब आधे सफर के बाद उन की लहरों से ऋग्वेद के मंत्रों की मधुर ध्वनि सुनाई देनी बन्द हो जाती है, जब सिन्धु और सतलुज के स्रोत से ऋग्वेद की ऋचाओं की बजाए गोलियों की आवाज़ें निकल कर वातावरण में बिखर रही हैं, और इसी लिए वैदिक काल के सप्त सिन्धु की कहानी की केवल बीच की कड़ियाँ आज हमारे हाथों में रह गई हैं।

जैसे रामायण और महाभारत की बड़ी कहानियों में छोटी-छोटी सैंकड़ों कहानियाँ शामिल हैं, उसी तरह सप्त सिन्धु की महा गाथा में कुलूत देश की छोटी सी कथा भी शामिल है। इस लिए कुलूत देश की कहानी से पहले सप्त सिन्धु का कुछ हाल मालूम हो जाना चाहिए। इसे सप्त सिन्धु की कहानी कह लें या श्री के० एम० मुन्शी के शब्दों में आर्यवर्त की महा गाथा।

और जिस स्रोत से हमें सप्त सिन्धु की कहानी का पता चलता है, वह है हमारा प्राचीनतम ग्रन्थ ऋग्वेद। वेदों में ऋग्वेद ही सब से पुराना और सब से पहला ग्रन्थ माना जाता है, और इस बात पर संसार भर के विद्वान और इतिहासकार लग-भग सहमत हैं। प्रसिद्ध दार्शनिक तथा इतिहासकार मिस्टर मैक्स मूलर ने इसे "The first word spoken by the Aryan man" 'एक आर्य की ज़बान से निकला हुआ पहला शब्द कहा है।' पण्डित नेहरू भी इस विचार से सहमत हैं और अपनी पुस्तक "Discovery of India" 'डिस्कवरी आफ इण्डिया' में ऋग्वेद को संसार के पुस्तकालय में सब से पहली और पुरानी पुस्तक स्वीकार करते हैं। इसी ऋग्वेद में सप्त सिन्धु का उल्लेख आया है। इसकी सात नदियों—सिन्ध, जेहलम, चनाब, रावी, व्यास, सतलुज, और सरस्वती का वर्णन आया है, और इन्हें क्रमशः सिन्धू, वितस्ता, परुषणी, अस्कनी, अर्जीकीया, शतद्रु, सरस्वती, लिखा गया है। इस लिए ऋग्वेद ही आज हमारे पास ऐसा पुराने से पुराना रिकार्ड है जिससे सप्त-सिन्धु और उसमें रहने वाले उन प्राचीन लोगों के बारे में बहुत कुछ मालूम हो सकता है। वास्तविकता यह है कि ऋग्वेद के विधिवत लिखित रूप में लाए जाने से पहले.........बहुत पहले इस की ऋचाओं का निर्माण और इस के मंत्रों का दर्शन किया जाता रहा है, जिन्हें बाद में क्रमशः केवल स्मरण शक्ति द्वारा सुरक्षित रखा गया और फिर जबानी सीना बसीना आगे चलाया गया। ऋग्वेद के ही एक मंत्र में कहा गया है कि हमने पूर्वजों की कथाएँ नई भाषा में लिखीं, जिस का अभिप्राय यह है, कि ऋग्वेद की भाषा से पहले उन पुराने लोगों की कोई और भाषा भी थी, जिसका संस्कार करके शायद बाद में वैदिक संस्कृत बनी है।

इसके बाद पुराण आते हैं जिन से ऋग्वेद में दिए हुए इशारों की सहायता से इस की कहानी की पूर्ति होती है। बहुत दिनों तक अपने और पराये पुराणों को केवल गडरियों के गीत कहते रहे। परन्तु पूर्व और पश्चिम के बहुत से विद्वानों ने जब इन की उपयुक्त छान-बीन आरम्भ की तो धीरे-धीरे यह विचार बदलना पड़ा। प्रसिद्ध इतिहासकार वी० एन० स्मिथ (V. N. Smith) का का कहना है कि पुराणों में जो वंशावलियों की सूचियाँ दी गई हैं वे भारत की ऐतिहासिक परम्पराओं का उत्तम और पूर्ण अभिलेख है। इनके गहरे अध्ययन से इनमें उचित और अमूल्य अनुश्रुतियों का पता चलता है। इसी तरह मिस्टर पार्जीटर

(Mr. Pargitar) ने अपनी पुस्तकों में, जो उसने केवल भारतवर्ष की पुरानी ऐतिहासिक अनुश्रुतियों पर लिखी हैं, पुराणों की इन अनुश्रुतियों पर विश्वास करने का इशारा दिया है। इसके अतिरिक्त श्री काशी प्रसाद जैसवाल और जर्मन विद्वान मिस्टर कर्नेल (Mr. Kernel) ने भी पुराणों की ऐतिहासिक विशेषता और तथ्य को स्वीकार किया है।

उपर्युक्त दो प्रमाणित स्रोतों के अतिरिक्त हम वर्तमान वज्ञानिक दौर के अनुसंधान और खोज की उपेक्षा नहीं कर सकते, क्योंकि आज की दुनियाँ में अधिकतर आदमी उसी चीज़ पर विश्वास करते हैं जो विज्ञानशाला की टेस्ट टीयूब में ठीक उतरे और जो सूक्ष्मदर्शी के शीशे पर नज़र आए। दूर अतीत की चीजें देखने के लिए भी आज उन प्रयोगों और परिणामों को सामने रखना पड़ता है जो इस युग के विद्वानों ने वर्तमान विज्ञान के प्रकाश में सिद्ध किए हों। कुछ बातें तो सच-मुच ऐसी हैं जिन्हें वैज्ञानिक अनुसंधान तथा प्रयोग के प्रकाश में देखना पड़ता है, इन की जाँच पड़ताल करनी पड़ती है, और परिणामों का मुकाबला करने के लिए इसी कसौटी पर परखना पड़ता है।

इन्हीं दृष्टिकोणों को सामने रखते हुए और ऋग्वेद और पुराणों की ऐतिहासिक परम्पराओं की सहायता से सप्त सिन्धु और उस में कुलूत देश की कल्पना उभारी जा रही है। यही हमारी कहानी की पहली कड़ी है, जो सप्त सिन्धु से आरम्भ होती है, जिस की सात नदियों की कहानी में कुल्लू देश की चार नदियों सतलुज, व्यास, रावी और चन्द्रभागा (चनाब) की आरम्भिक कहानी शामिल है और तब ये चारों नदियाँ सप्त सिन्धु से कहती हैं, कि :—

अगर शामिल न हो किस्सा[1] हमारा।
तुम्हारी दास्ताँ[2] कुछ भी नहीं है।

सप्त सिन्धु

सप्त सिन्धु की जो कल्पना ऋग्वेद की सहायता से उभरती है, और जिस पर कोई भी मतभेद नहीं है, वह भारत भू-खण्ड का वह भाग

1. कहानी 2. कहानी

है, जिस में से उपर्युक्त सात नदियाँ निकलती थीं, इस में बहती थीं, और फिर समुद्र में जा गिरती थीं। बहुत पहिले, नहीं कह सकते कब, यह भूखण्ड दक्षिणी भारत से बिल्कुल कटा हुआ था। जहाँ आज राजपुताना का रेगिस्तान है वहाँ उस युग में एक बड़ा समुद्र था, अरब खाड़ी से आरम्भ हो कर पूर्व में बंगाल तक फैला हुआ। उत्तर पश्चिम में यह खुश्की के रास्ते ईरान तथा दूसरे हिस्सों से मिला हुआ था। उत्तर में हिमालय से उस पार चीनी तुरकिस्तान से मंगोलिया तक भी समुद्र था, जो रोम सागर से मिला हुआ था। सिन्ध का निचला भाग सुलेमान पर्वत तक फैले हुए अरब सागर के नीचे था। उस समय सप्त सिन्धु में पंजाब (पाकिस्तान बनने से पहले) काश्मीर, गन्धार (कन्धार) अफगानि-स्तान (आर्यांना) मानसरोवर और कैलाश के आस पास का सारा इलाका शामिल था। पूर्व में सरस्वती नदी तक इस की सीमाएं थीं। हिमालय सप्त सिन्धु का सब से महान और पवित्र पहाड़ था। सप्त सिन्धु की सातों नदियाँ इस से निकलती थीं, और वास्तविकता यह है कि उन्होंने ही सप्त सिन्धु को यह नाम दिया था। ऋग्वेद में सप्त सिन्धु का वर्णन इस तरह आता है :—

अजयो गा अजयः शूरं सोममवासृजः
सर्तवे सप्तसिंधून: (ऋग्वेद २/३२/१२)

अर्थात 'इन्द्र ने गौवों को जीता, सोम को जीता और सप्त सिन्धुओं के प्रवाह को जीता'। सप्त सिन्धु के इर्द-गिर्द जिन समुद्रों के होने का वर्णन किया गया है उन की भी तस्दीक ऋग्वेद के निम्नलिखित मंत्र से हो जाती है, लिखा है :—

रायः समुद्रांश्चतुरो अस्मभ्यं सोम विश्वतः।
रायः समुद्रोश्चतुरा आपवस्व सहास्त्रणा॥ (ऋग्वेद) ६/३३/६

'हे सोम! धन पूर्ण चारों समुद्र और हज़ारों कामनाएं हमें पूर्णतः प्रदान करो।'

वर्तमान काल की ऐतिहासिक खोज भी इस बात को प्रमाणित करती है कि राजपुताना के रेगिस्तान की जगह कभी बहुत पहले समुद्र

ही था। इस सदी में सिन्धु के आस पास मोहिंजोदारो और हड़प्पा ज़िला मिण्टगुमरी में जो खुदाइयाँ हुईं हैं और जिन में तह दर तह रेतीली ज़मीन निकली है उन से भी सिद्ध होता है कि यह क्षेत्र अवश्य कभी समुद्र था और प्रकृति के संघर्ष का केंद्र रहा है। ऋग्वेद के असंख्य मंत्रों में सिन्धु नदी की प्रशंसा की गई है। सिन्धु के स्रोत उस युग में वे नदियाँ भी शामिल की जाती थीं जो अफगानिस्तान की तरफ से आ कर इस में शामिल होती थीं। इसी तरह सरस्वती नदी की महिमा भी ऋग्वेद में लिखी गई है। तब गंगा यमुना न तो इतनी महान थीं, और न इतनी पवित्र मानी जाती थीं। ऋग्वेद में केवल एक जगह गंगा का वर्णन आया है, जिस में सप्त सिन्धु के पूर्वी भाग में बहने वाली छोटी बड़ी सब नदियों का इस प्रकार वर्णन किया गया है :—

इमं मे गंगे यमुने सरस्वती शुतुद्रि स्तोमं सचवा गरणया
असिकन्या मरुदवृधे वितस्तया आर्जीकीये श्रृणुहया सुषोमया'
(ऋग्वेद) १०/७५/५

इस से सिद्ध होता है कि सप्त सिन्धु में उल्लिखित सात नदियाँ ही विषेश रूप से मानी जाती थीं, जिन के कारण उस देश का नाम सप्त सिन्धु पड़ गया था, और सप्त सिन्धु का क्षेत्र पूर्व में केवल सरस्वती नदी तक ही माना जाता था।

सप्त सिन्धु की जिस रूप रेखा का ऊपर वर्णन किया गया है इसे इस हालत में पहुंचने के लिए लाखों नहीं बल्कि करोड़ों वर्ष लगे हैं। यूं तो ज़मीन की खोज लगाने वाले वैज्ञानिकों और सम्बन्धित विषय के विद्वानों ने अंदाज़ा लगाया है कि इस पृथ्त्री को बने दस करोड़ से ले कर एक अरब साठ करोड़ तक वर्ष लगे हैं। प्राचीन हिन्दु ज्योतिष के अनुसार पृथ्वी को बने एक अरब छियानवे करोड़ वर्ष हुए हैं। हमारी ज़मीन को वर्तमान रूप धारण करने से पहले करोड़ों वर्ष प्रकृति के जिन भयानक उपद्रवों और बर्फ के तूफानों और विचित्र भौतिक परिवर्तनों का सामना करना पड़ा है, वह अपनी जगह पर एक अलग कहानी है। सप्त सिन्धु भी इन परिवर्तनों में से हो कर गुज़रा है और तब यहाँ तक पहूंचा है, जिस का वर्णन हम ऋग्वेद की उपर्युक्त ऋचाओं में पाते हैं। पुराणों के अनुसार प्रलय और महा प्रलय भी निस्सन्देह भौतिक परिवर्तनों का ही अंग प्रतीत

होती हैं। कुछ भी है परन्तु एक बात स्पष्ट है कि इन भौतिक परिवर्तनों के बाद जब भी पृथ्वी का एक स्थायी रूप बना, तब पृथ्वी का वह भाग जिसे पुराणों में भारत भू-खण्ड कहा गया है और जिस का उत्तरी भाग था सप्त सिन्धु, दक्षिणी भारत से अलग थलग और बिल्कुल कटा हुआ था।

पुराणों के अनुसार मच्छ, कच्छ और वराह आदि अवतारों का वर्णन भी प्राय: इस सृष्टि रचना की तरफ एक इशारा है, जो मानव जन्म से पूर्व प्रकृति की अजीव उथल–पुथल और प्राकृतिक नियमों में वैकासिक परिवर्तनों के परिणाम स्वरूप अभिव्यक्त होती रहीं हैं, और फिर मानव जन्म के बाद की मंज़िलें भी वैकासिक सिद्धान्त (Evolution theory) के अनुसार क्रमिक रूप में परिवर्तित हुई होंगी, जिन का इशारा वामन अवतार और बाद में नरसिंह अवतार से मिलता है। नरसिंह अवतार इसी सप्त सिन्धु में मुलतान के स्थान पर हुआ था, जिसे प्रह्लाद पुरी भी कहा जाता है, और देश के विभाजन से पहले जहाँ नरसिंह भगवान् का बहुत बड़ा मन्दिर था। अलग सिद्ध होता है कि नरसिंह अवतार से पहले के अवतार भी सप्त सिन्धु में ही हुए थे, और अगर पौराणिक अवतार के दार्शनिक सिद्धान्त को वर्तमान खोज की रोशनी में देखा जाए तो सब से पहले मच्छ अवतार का साफ और सीधा अर्थ है कि मछली की शक्ल में ही सब से पहले जिन्दगी का प्रतिरुपण हुआ और वह हुआ सप्त सिन्धु में।

हिन्दुओं में अवतार वाद चूँकि बहुत बाद का विचार है जब उपनिषदों के अध्ययन के अनुसार 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म' और 'एको ब्रह्म-द्वितीयो नास्ति' के सिद्धान्त प्राकाष्ठा तक पहुंच गए। इस लिए सृष्टि के आरम्भ में मछली में ही सब से पहले ईश्वर का रूप स्वीकार कर लिया गया और उसे मछ अवतार कहा गया। अवतार से अभिप्राय यदि युग समझा जाए तो भी यह ऐसा युग कहा जा सकता है, जिस में पहले पहल जीवन देखने में आया हो और तब उस जीवन का स्रोत सिद्ध होतां है सप्त सिन्धु। इस विषय का समर्थन और प्रमाणन ऋग्वेद के एक मंत्र से भी हो जाता है, जिसमें सिन्धु और सरस्वती के बीच का देश 'देव कृत योनि' कहलाता है, अर्थात् इसे जन्म और जीवन का स्रोत माना गया है।

सृष्टि की रचना और सप्त सिन्धु—

सृष्टि की रचना के सिलसिले में संसार में कितने ही विभिन्न विचार चल रहे हैं। विभिन्न अनुश्रुतियाँ और परम्पराएं हैं, और कई किस्म की कहानियाँ। इस्लाम और ईसाई धर्म की किताबों में मानव जीवन का आरम्भ आदम और हव्वा से बताया जाता है, जिन्हें स्वर्ग से निकाल कर इस संसार में भेज दिया गया था। भाषा विज्ञान के बहुत बड़े पण्डित प्रो० रेडलम का कहना है कि इस संसार में काशमीर ही स्वर्ग है और यहीं मानव का जन्म हुआ है। इसी तरह एक घटना का वर्णन शतपथ ब्राह्मण में आता है, कि एक बार सप्त सिन्धु में बहुत बड़ी बाढ़ आई। प्रलय का समां बंध गया। तब मनु महाराज सप्त ऋषियों को साथ ले कर किश्ती में सवार हो कर उत्तर की ओर गए, यहाँ उनकी नाव इला के स्थान पर जा लगी। यहाँ उन्होंने कई वर्ष तप किया, और फिर इसी तप के ज़ोर से श्रद्धा नाम की एक स्त्री पैदा हुई, और फिर उन से मानव सृष्टि का आरम्भ हुआ। कहते है यह इला का स्थान काश्मीर में है। हो सकता है कि जिस आदम और हव्वा का उल्लेख स्वर्ग के हवाले से किया गया है वह यही काश्मीर हो, तथा आदम और हव्वा भी मनु और श्रद्धा के ही नाम हों, जिन्हें बदल कर एक दूसरी कहानी के रूप में पेश किया गया हो। बहरहाल इस संसार में काश्मीर का स्वर्ग होना भी कल्पना से बाहर नहीं है। शाहाने मुग़लिया ने भी काश्मीर के बारे में कहा था, "अगर पृथ्वी पर कोई स्वर्ग है तो वह निश्चित रूप से यही है।"

अगर फरदोस बर रूए ज़मीं अस्त।
हमीं अस्तो, हमीं अस्तो हमीं अस्त॥

और जैसा कि मैंने कहीं वर्णन किया है, प्रो० मैक्स मूलर ने भी भारत में ऐसे स्थानों का उल्लेख किया है जिन्हें स्वर्ग ही समझा जाना चाहिऐ, तो निस्सन्देह इस का इशारा काश्मीर की ओर है। अतः इन सभी बातों से प्रो० रेडलम के इस विचार की पुष्टि हो जाती है कि हो न हो काश्मीर ही इस संसार में स्वर्ग है और यहीं पर मानव का जन्म हुआ हो।

स्वामी दया नन्द जी ने सृष्टि की रचना का तिब्बत से होना लिखा है। इस विचार को भी उपयुक्त माना जा सकता है, क्योंकि कैलाश, जो आदि देवशंकर का स्थान माना जाता है, तथा मानसरोवर के आस पास का क्षेत्र और फिर सिन्धु नदी के आर-पार का सारा इलाका सप्त सिन्धु ही कहलाता था, जैसा कि ऊपर स्पष्ट किया जा चुका है। इस प्रकार पश्चिमी तिब्बत का बहुत सा भू-भाग सप्त सिन्धु में शामिल था। तब सप्त सिन्धु के इस भाग अर्थात पश्चिमी तिब्बत के इलाके से भी सृष्टि की रचना मान ली जाए, तो वह कैलाश के आस-पास के ही इलाके में हुई होगी।

श्री बाल गंगाधर तिलक ने आर्य लोगों के बारे में लिखते हुए यह विचार प्रकट किया है कि वे लोग उत्तरी ध्रुब से आए हैं। जिस का स्पष्ट अर्थ यह है कि वे लोग पैदा भी वहीं हुए और सृष्टि की रचना उत्तरी ध्रुब अर्थात कुतब शमाली में हुई है। परन्तु इस विचार की प्रसिद्ध इतिहासकार बाबु अविनाश चन्द्र दास ने कड़ी आलोचना की है। श्री दास ने वेदों के प्रमाणित संदर्भों से अपनी पुस्तक ऋग्वेदिक इण्डिया (Rigvedic India) में यह सिद्ध किया है कि 'सप्त सिन्धु ही भारत भू-खण्ड में सब से पुराना देश है जहाँ सब से पहले जीवन देखने में आया। इसी स्थान पर फैलाव अर्थात विकास के सिद्धान्त पर अमल होता रहा, और परिणाम के रूप में यहीं मानव का जन्म हुआ है।' इस सिद्धान्त की पुष्टि इस वास्तविकता से भी हो जाती है कि पौराणिक दृष्टि के अनुसार महा प्रलय में सब जगह पानी ही पानी था, और जब पानी उतरना आरम्भ हुआ तो अनिवार्य रूप से सब से पहले संसार का सब से ऊँचा पहाड़ ही पृथ्वी पर प्रकट हुआ, और फिर धीरे धीरे हिमालय का दामन खुश्की में आया, और फिर सप्त सिन्धु के मैदान।

उस समय की परिस्थितियों के अनुसार बहुत ऊँचे स्थान ज़रूर अधिक ठण्डे होंगे और चूँकि ठण्डे वातावरण में जीवन के चिन्ह पैदा होने की गुँजाइश नहीं बनिस्बत थोड़े गर्म वातावरण के, अतः हिमालय की चोटियों के सख्त ठण्डे वातावरण के बाद उस का दामन और उस के मैदान ही जीवन पैदा करने के लिए उत्तम क्षेत्र हो सकते थे। तब इसी लिए सप्त सिन्धु में सब से पहले जिन्दगी के आसार ही नहीं बल्कि क्रमशः मानव का जन्म भी बिल्कुल कल्पना के अनुकूल है। और फिर न केवल

जीवन की व्यापकता से ले कर मानव जन्म तक क्रमिक विकास की मंज़िलें सप्त सिन्धु में तय हुईं, बल्कि मानवीय नसल का फैलाव भी सप्त सिन्धु के भू-खण्ड में ही हुआ। इस लिए सप्त सिन्धु की प्राचीनतम आबादी को जिस में मोहिंजोदारो और हड़प्पा भी शामिल हैं, आज संसार भर में सब से पुरानी सभ्यता का आदर्श माना जाता है।

सप्त सिन्धु ही आर्यवर्त—

सप्त सिन्धु में मानव जन्म के बाद उस के शारीरिक और मानसिक क्रमिक विकास में कितना समय लगा होगा, इस विषय में कुच्छ नहीं कहा जा सकता। पौराणिक दार्शनिक सिद्धान्त के अनुसार वामन अवतार का भी एक युग हुआ है जिस का इशारा मानव नसल के छोटे से छोटे कद की ओर होगा, और फिर इस के बाद नरसिंह अवतार का युग मानव के शरीर के बहुत भारी और बलवान होने का संकेत है। हिन्दु शास्त्रों ने मानव सभ्यता को चार युगों में बाँट रखा है। पहला सतयुग था जब जनसंख्या बहुत कम और उस के मुकाबले में ज़मीन अत्यधिक थी। कोई लड़ाई नहीं थी और न कोई झगड़ा। न ईर्ष्या ने तब मानव हृदय में जन्म लिया था, न शत्रुता के विचारों ने मानव के मस्तिष्क में घर किया था। न कोई राजा था, और न किसी प्रशासन की अवश्यकता। एक प्रजा थी, सुखी और शान्त प्रजा। जीवन अत्यन्त सादा था और पूर्णत: प्रकृति के असूलों के अनुसार।

सम्भवत: नरसिंह अवतार तक के युग को सतयुग कहा गया है। इसी युग के शुरू के किसी दौर में मनु की वह बाढ़ आई होगी, जिस का वर्णन पहले किया गया है, और जिसे पारसियों की धार्मिक पुस्तक ज़िंदा-वेस्ता में तूफाने नूह कहा गया है। सम्भवत: इसी उथल-पुथल में राजपुताने का समुद्र सूख गया होगा, और भारत भू-खण्ड के उत्तरी और दक्षिणी भाग खुश्की के कारण आपस में मिल गए होंगे। इसी सिलसिले में सिन्ध के भू-खण्ड पर वह तूफान आया होगा, जिस ने उस समय की इस सभ्यता को समाप्त कर दिया होगा, जिसे इतिहासकार आज सिन्धु सभ्यता (Indus Valley Civilization) कहते हैं। राम अवतार से बहुत पहले की बात है। यह इस युग में ऋग्वेद की रचना शुरु हुई और हज़ारों वर्ष होती रही। ऋषि लोग मंत्रों का दर्शन करते रहे और ऋचाओं का निर्माण होता रहा। ऋग्वेद की रचना का अन्तिम दौर वह

था जब इसे नियमित रूप से लेखनी-बद्ध किया गया। उस समय के ही एक मंत्र से पता चलता है कि उस से पहले बहुत पहले से ऋग्वेद की रचना होती रही है :—

इदाहि ते वेविश्वत: पुराजा प्रलास ग्रासु पुस्कत सरवाय
ये मध्यमास उत नतमासू उतावमस्य पुरुहते बाधि।
(ऋग्वेद ६/११/५०)

"हे इन्द्र ! तू भी विस्मय से पुर्ण है। जो ऋषि ग्रादि काल में रहते थे वे तुम्हारे लिए यज्ञ कर के तुम्हारे मित्र बन गए। बीच के काल वालों ने भी ऐसा ही किया ग्रौर फिर ग्राज कल के ऋषियों ने भी तुम्हारी मित्रता प्राप्त की है। इस लिए तुम उस मंत्र को सुनो जो तुम्हारी पूजा करने वाले तुम्हारे सामने प्रस्तुत कर रहे हैं।";

तब इन्द्र को ही सब से बड़ा देवता माना जाता था। इन्द्र को ही प्रसन्न करने के लिए विभिन्न काम किए जाते थे। इन्द्र के साथ प्रकृति की दूसरी शक्तियों ग्रर्थात सूर्य, वायु, ग्रग्नि ग्रादि को भी देवता मान कर उन की पूजा की जाती थी। यह लोग ग्रार्य कहलाते थे। इन की सारी संस्कृति पर ऋषि जीवन ही छाया हुग्रा था। ऋग्वेद के ग्रनुसार ग्रार्य लोगों के जन्म ग्रौर जीवन का स्रोत ग्रारम्भ में हिमालय का दामन ग्रौर सिंधु नदी के ग्रास पास का ही इलाका रहा होगा। परन्तु १८२६ में सब से पहले जे० बी० रहोड्ज़ (J. B Rhodes) ने यह विचार संसार के सामने रखा कि ग्रार्य मध्य एशिया से भारत में ग्राए। उस के बाद १८५६ में जर्मनी के संस्कृत के महापण्डित प्रोफेसर मेक्स मूलर ने इसकी ग्रौर छान बीन कर के पुष्टि की, ग्रौर फिर एक ग्रौर इतिहासकार मिस्टर साईस (Mr. Syes) ने १८७४ में इस सिद्धान्त की पुन: पुष्टि की। उस समय से यही विचार इस सिलसिले की खोज ग्रौर तलाश का केन्द्र बन गया, तथा फिर विभिन्न ग्रौर विचार ससार के सामने ग्रार्यों की जन्म-भूमि के सम्बन्ध में ग्राने लगे। किसी ने डैन्यूब की वादी को ग्रार्यों का स्थान बताया, किसी ने दजला फरात के ग्रास-पास ग्रार्य सभ्यता के संकेत पाकर उसे ही ग्रार्यों का प्राचीन देश कहना ग्रारम्भ किया। श्री बाल गंगाधर तिलक ने ज्योतिष के ग्राधार पर सिद्ध किया कि ग्रार्य लोग उत्तरी ध्रुव में ग्रावाद थे। वहीं वेदों की रचना हुई

और वहाँ से चल कर वे मध्य एशिया के रास्ते यूरोप में फैले और सिन्धु नदी के किनारे आ कर आबाद हुए। परन्तु जैसा कि ऊपर वर्णन किया गया है बाबू अविनाश चन्द्र दास ने बहुत गवेषणात्मक विचार और अध्ययन के बाद श्री तिलक के विचारों का ज़ोरदार विरोध किया है, और सिद्ध किया है कि सप्त-सिन्धु ही आर्य लोगों की जन्म भूमि है। यहीं ऋग्वेद की रचना हुई और यहीं से आर्य जाति चल कर मध्य एशिया के रास्ते यूरोप की तरफ गई। ज्यूं-ज्यूँ इस सिलसिले में खोज बढ़ रही है, त्यूँ-त्यूँ पूर्वी पश्चिमी विद्वानों के दृष्टिकोणों में परिवर्तन आ रहा है, और धीरे-धीरे सप्त सिन्धु को ही आर्यों की जन्म-भूमि कहा और माना जाने लगा है।

ऋग्वेद में आर्यों के बाहर से आने का कोई भी उल्लेख नहीं मिलता। न ही पुराणों में इस किस्म का कोई इशारा मौजूद है, न ही वैदिक सभ्यता का कोई निशान ससार के किसी और भाग में इस सुन्दरता से आज तक प्रचलित चला आ रहा है, जिस प्रकार यह असंख्य क्रान्तियों के बावजूद भी भारत में कायम और विद्यमान तथा जीवित एवं प्रचलित है। खैर, आर्यों की जन्म भूमि के सम्बन्ध में पूर्व और पश्चिम में भिन्न राय ही सही, परन्तु एक बात पर तो सभी विद्वान एक मत हैं, कि आर्य जाति के प्राचीनतम इतिहास का सम्बन्ध हिमालय और सिन्धु नदी से रहा है, जबकि उपरोक्त के बारे में तो अनगिनत मंत्र ऋग्वेद में मौजूद हैं। हिमालय को आर्य लोग देवताओं का निवासस्थान समझते थे। सिन्धु की वादी में और इसके इर्द-गिर्द जब आर्य लोग शक्तिशाली हो रहे थे, तब वे अपनी उन्नति और विकास की हज़ारों मंज़िलें पार कर चुके थे, जिस का उल्लेख हम पहले ऋग्वेद के श्लोक (५/२१/६) में कर आए हैं। वे पत्थर के पुराने और नये युग को बहुत पीछे छोड़ कर आए थे। अब उन्होंने अपनी बस्तियां बसा ली थीं, और एक अच्छी खासी नई सभ्यता को जन्म दे दिया था। उन्होंने जीवन के कुछ ऊँचे सिद्धान्त और समाज के उच्च आदर्श अपना लिए थे जिनका वे पूरी निष्ठा से अनुकरण करते थे। एक जगह पर एक कबीला आबाद हो जाता था, जिसे गोत्र या गण कहते थे, और उस का नाम कबीले के मुखिया के नाम पर चलता था। कई बार ये गोत्र एक दूसरे से भी लड़ पड़ते थे।

आर्य लोग मांस खाते थे। कोल, भील, द्रविड़ आदि भी कुछ

मांसाहारी जातियाँ इस दौर में इसी सप्त सिन्धु में जीवन के संघर्ष को जारी रखे हुए थीं। आर्यों में चूंकि तेज़ी से सूझ-बूझ पैदा हो रही थी, इस लिए उन्होंने निर्णय किया कि प्रथम तो मांस न खाया जाए, यदि माँस खाना ही हो तो देवता की भेंट चढ़ा कर खाया जाए। यज्ञ में मांस की आहुती देने के प्रश्न पर आर्यों का एक संप्रदाय नाराज़ हो गया। इस सम्प्रदाय के लोग इन्द्र को सब से बड़ा देवता न मान कर अग्नि को देवता मानते थे, इस लिए हवन में मांस डालना पसन्द नहीं करते थे। अतः दो सम्प्रदायों में आपस में झगड़ा हो गया, और एक सम्प्रदाय सप्त सिन्धु से ईरान की ओर चला गया, जहाँ उन के एक महान पुरुष जरथुस्त्र ने पारसी सम्प्रदाय की स्थापना की, जो आग की पूजा करते थे। सम्भवतः यही समय था जब यूनान, अरब, मिसर, जर्मनी, हंगरी तथा यूरोप के अन्य देशों में जा कर आर्य लोग आबाद हो गए। कुछ इतिहासकारों ने आर्यों के इन दो सम्प्रदायों के झगड़ों को ही देवासुर संग्राम कहा है। इन्द्र को देवता न मानने वालों को असुर कहा जाने लगा, और दूसरे सम्प्रदाय ने देव शब्द को 'जिन' या भूत कह कर व्याख्या करनी आरम्भ की।

जैसा कि ऊपर वर्णन आया है, आर्यों के साथ कुछ और जातियाँ भी सप्त सिन्धु में अपने जीवन के विकास की मंज़िलों को पार करने में लगी हुई थीं, परन्तु उन की गति बड़ी धीमी थी। उनकी भी अपनी बस्तियाँ थीं, अपने रीति-रिवाज थे, अपने देवता थे। यह लोग थे कोल, किरात, भील, द्राविड़ और संथाल। इन में कोल और संथाल ज्यादातर हिमालय के दामन में, और किरात लोग हिमालय के उस पार तक आबाद थे। भील और द्राविड़ मैदानी इलाकों में रहते थे। द्राविड़ काफी सूझ-बूझ वाली कौम थी, और कई इतिहासकारों का तो यहाँ तक विचार है कि सप्त सिन्धु में आर्यों के शक्ति में आने से पहले द्राविड़ सभ्यता ही कभी उन्नति के शिखर पर थी। इसी को सिन्धु सभ्यता (Indus Velley Civilization) कहा जाता है। गार्डन चाइल्ड (Garden Chiled) का विचार है कि यह सभ्यता किसी दैवी विपत्ति, भूचाल या बाढ़ आदि के परिणाम स्वरूप अकस्मात तहस नहस हो गई थी। परन्तु बात कुछ ऐसी भी थी कि जब आर्य लोगों ने अपनी शक्ति संगठित कर ली तो उन्होंने सप्त सिन्धु में हर ओर आगे बढ़ना आरम्भ किया। इनका मुकाबला कोलों और द्राविड़ों से हो गया, और

अन्ततः द्राविड़ लोग सप्त सिन्धु को छोड़ कर दक्षिणी भारत की ओर चले गए और कोल प्रास्त हो कर अछूत बना दिए गए। तब उन्हें द्राविड़ या कोल नहीं कहा जाता था, बल्कि आर्यों के मुकाबले में दूसरी सब जातियों को अनार्य या दस्यु अथवा दास कहते थे। जहाँ आर्यों के बड़े-बड़े जनपद बन गए थे वहाँ इन दस्यु लोगों के भी जनपद बन गए थे। ऋग्वेद में यह उल्लेख आया है कि सप्त सिन्धु में इन दास लोगों के सात बुर्ज और नव्वे दुर्ग अर्थात् किले थे। ज्यों–ज्यों आर्य लोग बढ़ते गए उन स्थानीय दस्यु लोगों से उनकी टक्कर होती गई। जहाँ-जहाँ आर्य ऋषि जाते अपनी आत्मिक शक्ति और अपने उच्च आदर्श के कारण इन दास लोगों को परास्त और पराजित कर देते थे। ये राक्षसों से भी लोगों की रक्षा करते थे।

आर्य लोग बड़े वीर थे। आर्य सभ्यता ऐसी लहर थी जिस में प्रायः छोटी बड़ी जातियाँ बह गईं और कुछ मुकाबले में नष्ट हो गईं। कुछ लोग विजेता आर्य जाति में शामिल होते गए और कुछ मर-मिट गए। कुछ हिमालय के जंगलों की ओर भाग निकले। कुछ आदि वासी परास्त लोगों के रूप में विजेताओं के रहमो करम पर रहने लगे, और इन्हें शूद्र और चण्डाल कहा गया। यह संघर्ष सैंकड़ों हज़ारों वर्ष जारी रहा।

आरम्भ में आर्य का अर्थ खेती बाड़ी करने वाले लोगों से था। ये अच्छे काश्तकार और कुशल पशुपालक थे। कुल्लू में दास लोग इन्हें धौणी कहते थे, क्योंकि भेड़-बकरियों के रेवड़ को 'धण' कहा जाता था इस कारण इन्हें धण के मालक धौणी कहा गया। (ऋग्वेद ३/३२/१) चूँकि आर्य लोगों का सामाजिक जीवन दूसरी जातियों की अपेक्षा काफी ऊँचा था, इसलिए धीरे-धीरे आर्य का अर्थ हुआ 'श्रेष्ठ' अर्थात् अच्छा और भद्र, और जब सप्त सिन्धु में यह लोग विजेता के रूप में आगे बढ़ते गए, और अन्य जातियों को पराजित करके उन्होंने शासन चलाना आरम्भ किया तो आर्य का अर्थ शासक हो गया। इस समय तक जनपदों का काम चलाने के लिए राजा बनाए गए थे। हर एक जनपद का गुरू ब्राह्मण ऋषि होता था। इस सारे समय में ऋग्वेद की रचना होती रही। ऋषि लोग दूर दूर जंगलों में अपने आश्रम बना कर लम्बे समय तक तप करते रहते थे। गृहस्थ की ज़िम्मेदारियों और दिलचस्पियों से भी पूर्णतः

अप्रभावित नहीं रहते थे, और जब कभी ज़रूरत पड़ती वे अपने जनपदों का मार्गदर्शन करते तथा लड़ाइयों में भी शामिल होते थे।

इस प्रकार की एक बड़ी लड़ाई सप्त सिन्धु में लड़ी गई, जिसे वैदिक साहित्य में दाश राज्ञ कहा जाता है। तब पंजाब में पाँच जनपद बहुत प्रसिद्ध थे—भर्त, त्रित्सु, अणु, द्रुह्यु, और यदु ये पंचजन भी कहलाते थे। सप्त सिन्धु के तीन बड़े भाग थे—सरस्वती के ऊपर का इलाका, सरस्वती से नीचे का देश जिस में भर्तजन रहते थे और उनके मार्गदर्शक थे ऋषि विश्वामित्र। तीसरा था इला या काश्मीर। परुषणी (रावी) नदी के पूर्व में त्रित्सु नाम का जनपद था, जिसके अधिष्ठता वसिष्ठ थे। इन दो ऋषियों में, अर्थात् विश्वामित्र और वसिष्ठ में कुछ सामाजिक सिद्धान्तों पर झगड़ा हो गया और परिणाम स्वरूप इतना बड़ा युद्ध हुआ कि सप्त सिन्धु के सभी जनपदों को इसमें शामिल होना पड़ा। अन्त में वसिष्ट मुनि की विजय हुई। दस्यु लोग सदा के लिए पराजित हो गए। सम्भवतः यही समय था जब बहुत से द्राविड़ लोग दक्षिण की ओर चले गए, और वहाँ जाकर आबाद हुए। ऐसा प्रतीत होता है कि आर्यों की संगति में वेदों का जो ज्ञान इन्होंने सप्त सिन्धु में प्राप्त किया था, उसे उन्होंने तामिल भाषा में सुरक्षित रखा। परन्तु आर्यों से उन्हें सदा घृणा ही रही, क्योंकि आर्यों ने उन्हें सप्त सिन्धु से बाहर निकाल दिया था, और जब यह दक्षिण में जाकर आबाद हुए तो रामायण काल में फिर इन लोगों को उनके ही घर पर जा कर पराजित किया था।

अभी तक वर्णाश्रम धर्म की बुनियाद पड़ी नहीं थी, परन्तु अब धीरे-धीरे इस की आवश्यकता अनुभव की जाने लगी थी। आदि काल में सब ब्राह्मण थे। फिर ब्राह्मण और राजपूत दो हुए। फिर वैश्य बनाए गए, और इन तीनों को द्विज कहा जाने लगा। विभिन्न जातियों के सूझ-बूझ वाले लोगों को वर्णाश्रम धर्म की गोद में लिया गया और उन्हें क्षत्रीय वर्ण में शामिल किया गया। इन दूसरी जातियों से समझोता की बिना पर कुछ आर्य असूल उन पर अनिवार्य घोषित किए गए और कुछ एक में उन्हें ढील दी गई। यहाँ तक कि आर्य देवताओं के साथ साथ अपने देवताओं को मानने और अपने कुछ पुराने रीति-रिवाज प्रचलित रखने के अधिकार भी उन्हें दिए गए। साधारणतया विजेता वर्ग को

पराजित लोगों के साथ ऐसे समझौते करने ही पड़ते हैं। इसके बिना नए असूलों का प्रचार और नई संस्कृति की छाप दूसरों के दिलों पर बिठाई नहीं जा सकती, और स्थायी रूप में स्थापित नहीं की जा सकती। प्रयत्न किए गए कि जो भी जातियाँ उचित सीमा तक आर्य सभ्यता में समा सकीं उन्हें बीच में समो लिया जाए, और जो अड़ियल बन गई और अपने पुराने रीति रिवाजों में परिवर्तन न ला सकीं उन्हें शुद्र बना दिया गया। फिर भी उस समय शूद्रों से इतना परहेज़ नहीं था और छूत छात की भी यह शक्ल न थी जो बाद में बनी। वर्ण आश्रम धर्म तब कर्म प्रधान था। हर मनुष्य अपनी योग्यता, समझ, शक्ति, और कार्य-कुशलता अनुसार अपना वर्ण बदल सकता था। फिर भी सप्त सिन्धु की विजय और आदि वासियों के साथ समझौते की बिना पर अब शंकर को देवाधिदेव रूप से स्वीकार कर लिया गया था। यह समय था जब सिन्धु के साथ साथ सरस्वती भी आर्य ऋषियों के ध्यान का केन्द्र बन गई। इसके तट ऋषि आश्रमों से आबाद हो गए। सप्त सिन्धु को पूर्णत: विजय कर लेने के बाद कुछ समय सरस्वती नदी के आस-पास ऋषियों ने वेदों की ऋचाओं को भी अन्तिम रूप दिये। बल, वीरता, शौर्य और शारीरिक शक्ति से आगे बढ़ कर ऋषियों ने अध्यात्मवाद की दिशा में भी मनन चिन्तन सम्पन्न किया। उन्हीं ब्राह्मणों की औलाद सारस्वत ब्राह्मण कहलाती है।

श्री के० एम० मुन्शी की राय में ऋग्वेद का युग ऋषि जमदग्नि तक पूरा हो जाता है। और प्राय: अंगी रस, वसिष्ठ, भारद्वाज, अत्रि, वामदेव, विश्वमित्र, गृत्समद और मनु को ऋग्वेद के ऋषि माना जाता है। ऋषि जमदग्नि के बाद उनके लड़के श्री परशु राम से दूसरे युग का आरम्भ होता है जिसे त्रेता युग कहा जाता है। यही सत्युग का अन्तिम समय था जब ऋषि जमदग्नि ने सप्त सिन्धु के कुलूत देश में आर्यवर्त को ठारह करडू देवताओं की मूर्तियाँ देकर निराकार ईश्वर को साकार बना दिया था, जिसका संक्षिप्त सा वर्णन हम पहले कर आए हैं।

सप्त सिन्धु अब आर्यावर्त बन चुका था, इसे आर्यावर्त कहा जाने लगा था, क्योंकि यही आर्य जाति की जन्म भूमि थी। यहीं पर अपनी वीरता, योग्यता और उत्कृष्ट शासन प्रणाली के कारण वह एक विजेता जाति के रूप से शासक बन गई थी। अत: यही इस की कर्म-भूमि थी। इसी जगह आदि काल से ले कर आर्य ऋषियों ने तप, त्याग, साधना,

और कर्मयोग की वह रोशनी प्रकाशित की थी, जिसे लाखों आंधियाँ न बुझा सकीं। आर्य संस्कृति के वे मीनार खड़े किए जिन्हें हज़ारों तूफान आज तक न गिरा सके। यही आर्य ऋषियों की तपो भूमि थी। इसी लिए इसे आर्यावर्त्त कहा गया। यद्यपि अगले युगों में आर्य राजाओं ने सारे भारत को अधीन करके आर्यावर्त्त के दृष्टिकोण को और उसकी सीमा को इतना विस्तृत कर दिया था जितना कि आज है परन्तु जिस समय की कहानी हम लिख रहे हैं उस समय सप्त सिन्धु ही आर्यावर्त्त था, और इसी आर्यावर्त्त का एक महत्वपूर्ण भाग था हमारा '**कुलूत देश**' जहाँ हिमालय से निकल कर इस की चार नदियाँ सतलुज, व्यास, रावी और चन्द्रभागा.........आर्यावर्त्त के मैदानों में बढ़ती हुई आर्य जाति की रगों में नई जिन्दगी की लहर भरती रही हैं। सप्त सिन्धु की विजय में और आर्यावर्त्त के बनाने में इन का ही तो सब से अधिक हिस्सा था।

छठा अध्याय

फूल कुछ मैं ने चुने हैं......।

सहरा में भी गुल खिलते हैं आती हैं बहारें
मौसम का असर वक्फे गुलिस्तां नहीं होता।

अर्जिकीया अर्थात् व्यास की वादी—

प्राचीनतम आर्यों की जन्म-भूमि के बारे में यद्यपि अब भी इतिहास-कारों और विद्वानों में मतभेद है, और ये मत आए दिन बदलते जा रहे हैं, परन्तु ऋग्वेद काल के सप्त सिन्धु या आर्यावर्त की सीमाओं का जो दृष्टिकोण अब तक चला आ रहा है, उससे लग-भग सभी सहमत हैं। ऋग्वेद आर्यावर्त में कन्धार (गान्धारा) काश्मीर, अफगानिस्तान, और सिन्ध से सरस्वति तक का प्रदेश शामिल था, और यही वह देश था जिस में ऋग्वेद की रचना हुई।

ऋग्वेद को संसार की लाइब्रेरी में सब से पुरानी और पहली पुस्तक मान लेने में भी कोई मतभेद नहीं। ऋग्वेद की ऋचाओं को चाहे जब भी लिखित रूप में लाया गया, हिन्दु दृष्टिकोण के अनुसार तो वेद श्रुति हैं अर्थात् देववाणी का दर्जा रखते हैं। ये ईश्वरीय ज्ञान है, जिसे ऋषियों ने ऋचाओं का साक्षात दर्शन करके प्राप्त किया है। इसी कारण इन का प्रत्येक शब्द तथा इनके लल्लेखों में आया हुआ प्रत्येक वाक्य आज भी इतिहासकारों और विद्वानों की दृष्टि में प्रमाणित माना जाता है। यद्यपि वेदों और विशेषतया ऋग्वेद का इतिहास से विशेष सम्बन्ध नहीं है, फिर भी इसकी ऋचाओं में ऐसे वर्णन आए हैं जिन से कुछ ऐतिहासिक घटनाओं, भौगोलिक परिस्थितियों और प्राचीनतम आर्य संस्कृति पर प्रकाश पड़ता है।

ऋग्वेद के लिखित रूप में लाए जाने का प्रश्न हमारे विचाराधीन नहीं, परन्तु यह तथ्य सर्वव्यापी सच्चाई है कि सृष्टि के आरम्भ में जिस

भृगु तुँग पर आर्जिकीया, विपाशा, व्यास नदी का आदि स्रोत

समय भी मनुष्य इस ईश्वरीय ज्ञान को सुनने और ग्रहण करने के योग्य हुआ उस समय से आर्य ऋषियों ने इस देववाणी को सुना, महसूस किया और अपने मन और हृदय में इसे सुरक्षित रखा और फिर उसे मौखिक रूप में क्रमश: आगे चलाया, हज़ारों, लाखों वर्षों तक यह सिलसिला चलता रहा......पीढ़ी दर पीढ़ी,......। सीना बसीना।

ऋग्वेद को भोज पत्र पर लिखे जाने से पहले कब से इन ऋचाओं का निर्माण होता रहा, यह कुछ विश्वास से नहीं कहा जा सकता। फिर भी ऋग्वेद की उस ऋचा से, जिसका वर्णन हम पिछले अध्याय में कर आए हैं (ऋग्वेद ५/२१/६) यह सिद्ध होता है कि अन्तिम दौर से पहले ऋषियों ने ऋग्वेद की ऋचाओं के निर्माण के दो चरण और भी नियत किए हैं। पहला चरण वह है जिसे आदि काल अर्थात् आरम्भिक दौर कहा जा सकता है, और दूसरा चरण है मध्य काल अर्थात् बीच का दौर। तीसरा दौर निस्सन्देह ही वह है जिस में आर्य लोग विजेता के रूप में सरस्वती के आस पास हो गए थे। गंगा और यमुना का उन्हें ज्ञान तो था, परन्तु उनकी मान्यता का अभी डंका नहीं बजा था, बल्कि सरस्वती ही आर्य जीवन का केन्द्र थी।

ऋग्वेद की दस हज़ार ऋचाएं हैं। यह एक ऐसा उद्यान है, जिस में फूलों की छान बीन करना अत्यन्त कठिन कार्य है। यह एक ऐसा जंगल है, जिसके घने वृक्षों में से गुज़रना और उन्हें पहचानना साधारण परिस्थिति में सम्भव नहीं, और फिर उस समय की ऋग्वैदिक भाषा भी तो ऐसी विचित्र है जिस के अर्थ और भाव को समझना आसान नहीं। जिन विद्वान लोगों ने वेदों पर भाष्य लिखे हैं उन में से प्रत्येक ने अपने ही दृष्टिकोण और अपने ही विचारों के अनुसार वेद के किसी भी शब्द के अर्थ निकाल लिए हैं। बहरहाल इन सारी कठिनाईयों के बावजूद भी हम ने इस उद्यान से कुछ फूल चुनने का प्रयत्न किया है, जिन से आदि काल अर्थात् ऋग्वेद की ऋचाओं के निर्माण के आरम्भिक दौर पर न केवल रोशनी पड़ती है, वरन् कुछ ऐसे राज़ भी हैं जिन पर से पर्दा उठता है,......वे राज़ जो आज तक रहस्य के पर्दे में रहे,......वे पर्दे जिन्हें किसी ने हटाने के प्रयत्न नहीं किए और जिन का सीधा और स्पष्ट सम्बन्ध है हमारी कहानी से......कुलूत देश की कहानी से।

ऋग्वेद के गम्भीर अध्ययन से प्रकट होता है कि ऋग्वेद के लिखे

जाने का न तो एक विशेष समय निश्चित है और न कोई विशेष स्थान। यद्यपि मेक्स मूलर, वेबर, मूयेर और अन्य विद्वानों का विचार है कि ऋग्वेद की पूर्ण रचना पंजाब के भू-खण्ड पर ही हुई। हापकिन और कीथ का कहना है कि सरस्वती नदी के आस-पास अम्बाला के निकट के क्षेत्र में ऋग्वेद की रचना होती रही है। बरन, हूफर, हरटल और होसिग जैसे पाश्चात्य विद्वानों का विचार है कि ऋग्वेद की पूर्णता के अफगानिस्तान और इरान भी केन्द्र रहे हैं। कुछ भी हो ऋचाओं के निर्माण की कोई विशेष जगह नहीं। इसके लिए विशेष इलाका नियत भी नहीं किया जा सकता। विभिन्न परिस्थितियों में, विभिन्न स्थानों में, विभिन्न कबीलों के श्रेष्ठ ऋषियों नें अपने अपने समय में ऋचाओं के निर्माण किए हैं। ऐसी ही कुछ ऋचाओं से यह बात बिना किसी शक और सन्देह के सिद्ध हो चुकी है कि आरम्भिक दौर अर्थात् आदि काल में ऋग्वेद के ऋषि निस्सन्देह ऐसी जगहों पर रहते थे, जहां बर्फ पड़ती थी, **"तरेम तरसा हिमं शतः"** का सीधा और साफ सा अर्थ यह है कि हम **"सौ सरदियों को आराम से व्यतीत करें"** स्पष्ट है कि तब वष का अन्त केवल सरदियाँ गुज़र जाने से मान लिया जाता था। जिससे यह भी सिद्ध होता है कि आरम्भिक दौर के वे आर्य ऐसी जगहों में रहते थे, जहाँ वर्ष के अधिक भाग में सरदी और बर्फ होती थी। उन के अनुभव में दूसरा अच्छा मौसम या तो था ही नहीं या उस की अवधि कम होगी। इसी लिए उन्होंने सौ सरदियाँ आराम से गुज़ारने की प्रार्थना की। सम्भवतः इन्हीं दृष्टिकोणों की बिना पर लोकमान्य तिलक और स्वामी दयानन्द जी ने क्रमशः उत्तरी ध्रुव और तिब्बत को आर्यों की जन्म भूमि बतलाया। परन्तु यह जरूरी नहीं कि सरदियाँ और बर्फ केवल उन्हीं जगहों पर पड़ती हों। सप्त सिन्धु के जिस आर्यावर्त का हम आरम्भ में वर्णन कर आए हैं, उन में भी तो ऐसी ऊँची जगहें हैं जहां मुकाबले में सरदियां लगभग सारा वर्ष रहती हैं। प्रोफैसर राइस डेविड्स (Rhys Davids) ने गलत नहीं लिखा है कि काश्मीर और उससे पूर्व का इलाका हिमालय का वह दामन है, जहाँ ऋग्वेद की रचना से हज़ारों वर्ष पहले आर्य लोग आबाद थे, और ठीक तौर पर हिमालय का यही दामन है, जहाँ सरदियाँ भी होती हैं और बर्फ भी पड़ती है।

ऋग्वेद के ऋषियों में भारद्वाज भी अपना पहला और विशिष्ट स्थान रखते हैं। उन्हों ने भी ऊपर के मंत्र की पुष्टि की है। वह ऋग्वेद

के छठे मण्डल, चौथे सूक्त, आठवें मंत्र के अन्त में अग्नि देवता से प्रार्थना करते हैं **"मदेम शत: हिम: सुवीरा"** अर्थात् हम वीर सन्तानों के साथ सौ सरदियाँ आनन्द से गुज़ारें। बर्फ और सरदी का मुकाबला करने के लिए अग्नि से प्रार्थना की जानी उचित प्रतीत होती है। यही नहीं ऋग्वेद का सब से पहला मंत्र अग्नि की प्रार्थना से आरम्भ होता है, जिससे साफ स्पष्ट है कि सृष्टि के आरम्भ में बर्फीले तूफानों के परिणाम स्वरूप प्रकट हुए भौतिक परिवर्तनों के बाद जिस चीज़ की आर्य ऋषियों ने सब से पहले ज़रूरत महसूस की थी वह थी गरमी। गरमी का स्रोत तो सूर्य है। इस लिए प्राचीन आर्य सूर्य के उपासक थे। परन्तु पृथ्वी पर वे अग्नि को ही सूर्य का प्रत्यक्ष रूप मानते थे। और वास्तव में पृथ्वी पर तो अग्नि ही जीवन का स्रोत है। मौजूदा माद्दा परस्ती (वस्तुवाद) के दौर में लोग चाहे अग्नि को देवता न भी माने, तो भी विज्ञान इस बात से तो सहमत है कि जीवन का राज़ गरमी और नमी (Heat and moisture) के आनुपातिक मेल में है। ऐसी गरमी का आसमानी रूप सूर्य तथा ज़मीन पर अग्नि और बिजली है। इसी लिए सौ सरदियाँ आनन्द से गुज़ारने के लिए आदि काल के आर्य ऋषियों ने अग्नि से प्रार्थना की है और इसी तरह उस समय के आर्यों के सर्वश्रेष्ठ देवता इन्द्र से एक दूसरी ऋचा (ऋग्वेद १०/२४/६) में भारद्वाज प्रार्थना करते हैं कि वह लड़ाई में उन की रक्षा करे, ताकि वह **"मदेम शत: हिम: सुवीरा,"** अर्थात् सौ सरदियाँ अपने सब वीरों के साथ आनन्द से गुज़रे।

ऋग्वेद के उपर्युक्त मंत्रों से अब शक की कोई गुँजाइश नहीं रहती। निस्सन्देह ही आदिकाल के ऋषि और आर्य लोग बर्फीले और सख्त सरद जगहों में रहते थे, और सप्त सिन्धु के आर्यावर्त्त में ये जगहें काशमीर और उस के पूर्व में सतलुज पार तक स्थित हैं, जिन में आज के चम्बा, काँगड़ा, लाहुल, स्पिति, कुल्लू और हिमाचल प्रदेश के ऊँचे ऊँचे पहाड़ी इलाके शामिल हैं। ऋग्वेद का यही वह दौर था जब कुलूत देश से निकलने वाली महान और पवित्र नदी व्यास को आर्जिकीया कहा गया है (ऋग्वेद ५/६५/१०)। इस नाम से व्यास को पूरे तौर पर स्वीकार कर लिया गया है, और इस पर कोई मतभेद इतिहासकारों में नहीं है। जिस तरह व्यास के कारण उस वादी को जिस में वह बहती है व्यास की वादी कहा जाता है, उसी तरह ऋग्वेद के उस दौर में आर्जिकीया जिस भू-खण्ड

से बहती थी उसे आर्जीक कहा जाता था।

मरीची के लड़के कश्यप ऋषि से रचित ऋग्वेद की एक ऋचा है (ऋग्वेद २/११३/६) जिस में कहा गया है कि **"हे सोम ! तुम आर्जीक से बहो। सत्य, तप और श्रद्धा से तैयार किए हे सोम ! तुम इन्द्र के लिए बहो।"** मंत्र का अर्थ स्पष्ट है। आर्य ऋषि इन्द्र के लिए इतनी मात्रा में सोम रस चाहते थे कि वह आर्जीक से अर्थात अर्जिकीया की वादी से बह निकले। इस का एक अर्थ यह भी निकलता है कि इस वादी में सोम बूटी जिस से सोम रस निकाला जाता था, अधिकता से पैदा होती थी, और वह यहाँ से सप्त सिन्धु के मैदानी इलाकों में ले जाई जाती थी। बाहर ले जाने को ही सम्भवतः बहना कहा गया है। इस से पहिली ऋचा इस प्रकार आरम्भ होती है—**"शर्यणावति सोममिन्द्रः पिबत वृत्रहा"**—जिस का अर्थ है कि **"वृत्र के मारने वाले इन्द्र ने शर्यणावत में सोम पीया"**। अब यह जगह कहाँ है निश्चित रूप से तो इस के बारे में कुछ नहीं कहा जा सकता, परन्तु ऋग्वेद में दोनों ऋचाओं के एक जगह आने से न केवल विषय की व्यवस्था का पता लगता है, बल्कि एक दूसरे के हवाले से दोनों का पास होना ज़रूर सम्भाव्य है। पहली ऋचा में इन्द्र के शर्यणावत पर सोम पीने का वर्णन है और साथ ही सोम से प्रार्थना की गई है कि वह इन्द्र के लिए बहे और कहाँ बहे ? इस बात को साथ ही दूसरी ऋचा में साफ कर दिया कि आर्जीक से बहे। प्रतीत होता है कि आर्जीक में ही कहीं शर्यणावत नाम की जगह होगी। ऋग्वेद (१/३५/१०) में भी शर्यणावान् पर्वतों का उल्लेख आया है, और आया है सोम के सिलसिले में ही। इस की व्याख्या करते हुए राहुल सांकृत्यायन अपनी पुस्तक **'ऋग्वैदिक आर्य'** के पृष्ठ ११ पर लिखते हैं कि 'शर्यणावत सोहान नदी (सुशोमा) के ऊपर वाले प्रदेश का नाम प्रतीत होता है जो कि अर्जिकीया की सीमा में पड़ता था।" अतः पहली और दूसरी ऋचाओं का सिलसिला स्थापित हो जाने से अब आर्जीक से सोम बहने की बात पक्की हो गई। और यह बात सिद्ध हो गई कि ऋग्वैदिक काल में व्यास की वादी और इस से सम्बन्धित इलाके सोम के लिए प्रसिद्ध थे। और यहाँ से आर्यों के लिए हर तरफ को बहुत बड़ी मात्रा में सोम नाम की बूटी बाहर भेजी जाती थी। यही नहीं उपर्युक्त ऋचाओं से तो यह भी पता चलता है कि आर्यों के सब से बड़े तथा तेजस्वी देवता इन्द्र ने स्वयं जा कर वहाँ सोम पीया है। इन्द्र वहाँ क्यों गए ? यह भी पहली ऋचा (१/३५/१०) से स्पष्ट प्रतीत हो

रहा है। वह हिमालय की इन चोटियों पर 'वृत्र' नाम असुर को मारने गए थे, क्योंकि जिस इन्द्र की प्रशंसा में ऋग्वेद भरा पड़ा है उसे 'वृत्र हन्ता' कहा गया है अर्थात् वृत्र को मारने वाला।

ऋग्वेद की कितनी ही ऋचाओं से यह स्पष्ट होता है कि वृत्र ने सप्त सिन्धुओं (सात नदियों) के प्रवाह को रोका हुआ था। उस समय सप्त सिन्धु की सातों नदियों का या तो अस्तित्व नहीं था या उनके बहाव का रुख कुछ ऐसा था जिस से इस भू-खण्ड को लाभ नहीं पहुंचता था, जिस पर आर्य लोग आबाद हो रहे थे।

सच पूछें तो ऊपर की यह दोनों बातें उपयुक्त हैं। सप्त सिन्धु की सात नदियों के अस्तित्व की कल्पना तो दूर रही, हिमालय की ढलानों में इकट्ठे हुए पानी का जो रुख किसी समय था, उसका नक्शा सम्भवत: हम अपने मस्तिष्क में बना ही नहीं सकते। किसे विश्वास होगा कि मानसरोवर से निकल कर ब्रह्मपुत्र और सतलुज नदियाँ उत्तरी ढलान की ओर पानी जमा करती हुई सिन्धु नदी में जा मिलती थीं। इस तरफ न गंगा थी और न यमुना। एक था विशाल समुद्र जो राजपुताने के मरुस्थल की जगह पश्चिम में अरब खाड़ी और पूर्व में बंगाल की खाड़ी से मिला हुआ था। और तब भारत वर्ष उत्तर और दक्षिण दो भागों में बटा हुआ था। पुराणों की अनुश्रुतियों के अनुसार इक्ष्वाकु वंशी अयोध्य के राजा भागीरथ ने हिमालय से गंगा को लाया। यह चाहे उसके तप से था या उस समय की इंजिनीयरिंग का कमाल था। इसी प्रकार की एक और अनुश्रुति है कि हिमाचल प्रदेश के बुशहर राज्य का एक बहादुर राजा था बाणासुर। इस इलाके में उस समय सतलुज नाम की नदी नहीं थी। सारा इलाका शुष्क था और पानी की आवश्यकता थी। बाणासुर सम्भवत: भागीरथ की तरह पानी की तलाश में निकला और मानसरोवर तक जा पहुंचा, जहाँ उसने देखा कि ब्रह्मपुत्र जिसे सांगपो कहते थे पूर्व की ओर से आकर मानसरोवर में गिरता था। उत्तरी पहाड़ों का नीला और लाल पानी भी मानसवोर में गिरता था। एक जनश्रुति के अनुसार उस समय भगवान शिव अपना ताण्डव नाच कर रहे थे, या यूं समझ लें कि बाढ़ और भूचाल जोरों पर थे, जिन के परिणाम स्वरूप कैलाश पर्वत पहले भगवान शिव की ठोकर से ज़मीन में धंस गया और फिर मानसरोवर के निकट ही उभर आया। इस

भौतिक धमाके से ऐसा उथल पुथल हुआ कि मानसरोवर जो ब्रह्मपुत्र की अन्तिम मंज़िल थी अब उसका स्रोत बन गया और बजाए पूर्व से आकर मानसरोवर में गिरने के मानसरोवर से निकल कर दक्षिण की ओर बहना आरम्भ हुआ। मानसरोवर का कुछ पानी सिन्ध में चला गया और कुछ राक्षताल में। शेष पानी को बाणासुर अपने साथ लाया जो शतुद्री या शतद्रु कहलाई और जो ऋग्वेद काल से ले कर इस नाम से बहुत बाद तक प्रसिद्ध रही और अब वर्तमान समय में जिसे सतलुज कहा जाता है।

इसी प्रकार की एक पुरानी बात का वर्णन अब इतिहासकार और पुरातत्व विद्वान करते हैं। उनके पास ऐसे प्रमाण मौजूद हैं जिन से पता लगता है कि इन भौतिक परिवर्तनों के दूसरे या तीसरे दौर में हिमालय के बीच में से पश्चिम से पूर्व की ओर एक बहुत बड़ी नदी बहती थी जिसे **पिलग्रिम** (Pilgrim) जैसे विद्वानों ने **'शिवालिक नदी'** का नाम दिया है। यह नदी सिन्ध के ऊपरी भाग से निकल कर हिमालय की कड़ियों से निकलती हुई, शिमला से नैनीताल होती हुई आसम में जा गिरती थी। इस का अर्थ यह हुआ कि हिमालय का सारा पानी यह शिवालिक नदी पश्चिम से पूर्व की ओर ले जा कर गिराती थी। और तब निस्सन्देह उस देश के लिए बहुत कम पानी रह जाता होगा, जहां सप्त सिन्धु के मैदानों में आर्य आबाद हो रहे होंगे। तब उसका नाम सप्त सिन्धु भी नहीं होगा। उसके बाद उत्तर-पश्चिम पंजाब में ज़ोरदार भौतिक परिवर्तन आए जिनके परिणाम स्वरूप शिवालक का यह प्रबन्ध अस्त-व्यस्त हो गया, और तब सिन्ध का अपना मार्ग खुल गया अर्थात् समुद्र जो सिन्ध की वादी में काफी ऊपर तक एक खाड़ी के रूप में चढ़ गया था, पीछे हट गया और सिन्धु नदी अरब सागर में गिरने लगी। पंजाब की पाँच नदियाँ अलग अलग अस्तित्व में आईं और वे सिन्ध की सहायक नदियां बन गईं। पूर्व में गंगा और यमुना अस्तित्व में आईं जो दक्षिण पूर्व में बहने लगीं, हालांकि यह बात भी सिद्ध हो चुकी है कि एक समय यमुना भी सरस्वती के भू-खण्ड से होती हुई सिन्ध में जा गिरती थी।

कुछ भी हो हमारा मन इन बातों पर विश्वास करे या न करे, ऐसी बातें हुई हैं, और जिस घटना का हम अपनी कहानी के क्रम में वर्णन करने

जा रहे थे, यह थी आर्यों के राजा इन्द्र की, जिसने ऋग्वेद (११/३२/१) के अनुसार सप्त सिन्धुओं की धारा को जीता था, उनकी धारा पर काबू पाया था, और इस धारा को जीतने के लिए उसे वृत्र को मारना पड़ा, जिसने इन नदियों की धारा को रोका हुआ था। सप्त सिन्धु की सात नदियों में से चार नदियां तो उस देश से निकलतीं और बहतीं थीं, जिस की कहानी हम लिख रहे हैं। वशेषत: रावी, चन्द्रभागा, और व्यास में से हर एक का स्रोत ही कुलूत देश में था। अत: इन की धारा को काबू करने कें लिए यदि इन्द्र देवता ने शर्यणावत में आ कर सोम पिया हो और फिर वृत्र को मार कर जिसे ऋग्वेद में 'अहि' अर्थात् सांप भी कहा गया है, और जिस पर इन नदियों के पानी रोकने का आरोप था, इन नदियों को आज़ाद किया हो तो कोई आश्चर्य की बात नहीं। तब इसी सिलसिले में उपर्युक्त ऋचाओं और उनकी पुष्टि करने वाले प्रमाणों से आर्जीक अर्थात् व्यास वादी के महत्व पर ऐसी मोहर लगती है, जिस से हम सप्त सिन्धु के आर्यावर्त्त में कुलूत देश को नज़र अन्दाज़ नहीं कर सकते।

बात यहीं समाप्त नहीं होती। सोम का वर्णन चल गया है तो ऋग्वेद की एक और ऋचा का दर्शन कर लें (ऋग्वेद २३-२४-२५/६५/६) जिसका निर्माण भृगु पुत्र महर्षि जमदग्नि ने किया है। इस में कहा गया है कि **"जो सोम आर्जीकों, कर्मनिष्ठों और पस्तयों के बीच तथा पंचजनों में छाना गया हो वे सोम बादलों से वर्षा और हमें वीरता एवं साहस प्रदान करते हुए बहते रहे"**।

ऊपर हम आर्जीक का अर्थ व्यास की वादी लिख आए हैं, और इस ऋचा में आर्जीकों का अर्थ स्पष्ट रूप से उन लोगों के लिए आया है जो इस आर्जीक की भूमि में रहते थे। आज भी पंजाब के लोगों को पंजाबी, कश्मीर के लोगों को कश्मीरी, चम्बे के लोगों को चम्बयाल, मण्डी के लोगों को मण्डियाल, कुल्लू के लोगों को कोले कहा जाता है। उसी तरह ऋग्वेद में 'आर्जीक' शब्द का अर्थ 'अर्जिकीया' की वादी और यहां के लोग लिया गया है, अर्थात् सोम को इन उपर्युक्त लोगों के बीच छाना गया जिन में आर्जीक और पंचजन शामिल थे। यह आर्जीक लोग कौन थे, इसकी व्याख्या फिर राहुल-सांकृत्यायन जी ने की है जो **आर्जीकों** का अर्थ **'ऋचीकों'** लेते हैं।

राहुल जी के इस संकेत से इतिहास के एक और अध्याय का

श्रीगणेश होता है। ऋषि ऋचीक भृगुवंश के एक बहुत तपस्वी ऋषि हुए हैं, जिन्होंने राजा गाधी की लड़की सत्यवती से विवाह किया था, जिससे महर्षि जमदग्नि हुए। अतः वास्तव में भृगुवंशी होते हुए भी ऋषि ऋचीक की संतान ने अपने को ऋचीक भी कहा है। अब प्रश्न पैदा होता है कि जब इस ऋचा का निर्माण स्वयं जमदग्नि ने किया है, तब इस मंत्र में शब्द ऋचीकेषु न लिखकर 'आर्जीकेषु' क्यों लिखा ? उसका स्पष्ट अर्थ यह है कि उस समय आर्जीक की वादी में ऋचीक भृगुओं का ही बोलबाला रहा होगा। संसार आज यह नहीं जानता कि कुलूत के जिस पहाड़ पर आज व्यास ऋषि का आश्रम है उस पहाड़ का नाम भृगुतुँग था, और जो बाद में बिगड़ते बिगड़ते आज रोहतांग बन गया। इसी भृगुतुँग से अर्जिकीया निकल कर आर्जीक की वादी को जन्म देती है। इस भृगुतुँग में आज भी भृगुतीर्थ है। पानी की एक छोटी सी झील है, जहां हर साल सैंकड़ों स्नानार्चन के लिए आते हैं। और भृगु सरोवर की परिक्रमा करके मनो-कामनाओं की सिद्धी की आशा करते हैं। इसी भृगुतीर्थ का पानी मनाली से दो मील मनाली राहला सड़क पर निकलता है जिसे पं० जवाहरलाल जी के नाम पर नेहरू तीर्थ कहते हैं। ऋषि ऋचीक वंशज महर्षि जमदग्नि के लड़के और विष्णु के अवतार श्री परशुराम का मन्दिर भी इसी कुलूत देश में सतलुज नदी के किनारे निरमण्ड के स्थान पर है। अर्थात् केवल आर्जीक ही नहीं बल्कि हिमालय का सारा भू-खण्ड ही ऋचीक भृगुओं से आबाद हुआ था। इसी लिए तो आर्जीकों का छाना हुआ सोम शक्ति और महानता को देने वाला कहा गया है। व्यास की वादी या यूं कहें कुल्लू की वादी में रहने वाले उन प्राचीन आर्यों के कारण जिन्हें ऋगवेद ने अर्जीक कहा है, कुलूत देश की न केवल शान बढ़ी है, बल्कि अपनी इस महानता और प्राचीनता पर इस पहाड़ी प्रदेश के लोग जितना भी गर्व करें कम है। इस समय आर्जीक शब्द का वर्णन सोम शब्द के सम्बन्ध से ही होता रहा है और सोम प्राचीन आर्यों के लिए अत्यन्त स्वादिष्ट पीने का रस था, जिसे पी कर न केवल वे अपनी आयु लम्बी करते थे, स्वास्थ्य ठीक रखते थे, वरन् लड़ाइयों में वीरता के वे जौहर दिखाते थे कि शत्रु के छक्के छूट जाते थे। आर्य लोग सोम अपने देवताओं को भेंट करते थे और देवता लोग बिना भेदभाव के आ कर उस सोम को पीते थे। सोम के आर्जीक अर्थात् व्यास की वादी से बहने या निकलने का वर्णन ऊपर आया है। परन्तु ऋगवेद (१/३४/१०) में वास्तव में सोम

भृगु तुँग
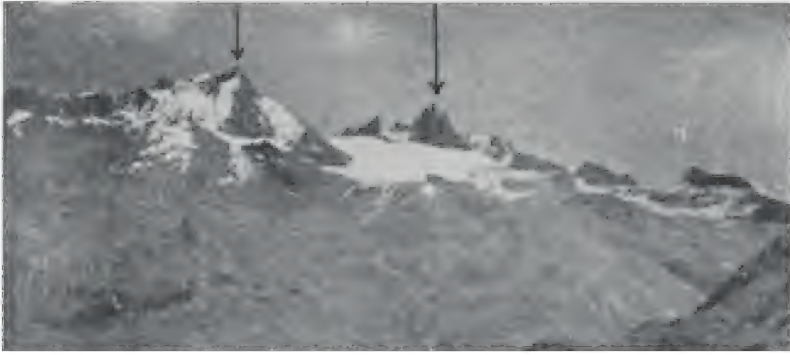
इसी पर्वत श्रृंखला में रोहतांग का दर्रा भी आता है जिसे अब Rohtang Pass कहते हैं।

इन्द्रासन (६२२१ मी०)
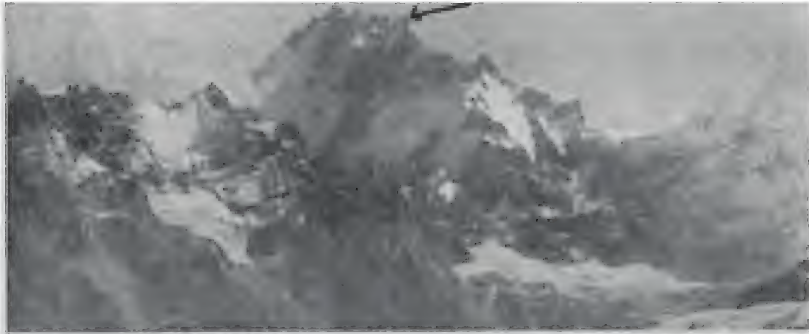
यह श्वेत गिरि पर्वत शृंखला का भाग है और इस से दूर पीच्छे है·· इन्द्रकील

देउ टिब्बा (६००१ मी०)

पैदा होने की असली जगह 'मौजवत' बतलाई है, जिसे 'मुंजवत' या 'मुजवत' भी कहा गया है । यह पहाड़ कहाँ स्थित है, इस पर बहुत भिन्न मत हैं । कोई इसे काश्मीर में कहता है और कोई कंधार में, और कोई तिब्बत में बतलाता है । हैरानी की बात यह है कि तिब्बत के लोग भांग के पौदे को 'सोम राजा' कहते हैं, परन्तु इसके प्रयोग से नितांत अपरिचित हैं । कुल्लू में एक छोटी सी पहाड़ी है जिसे आज भी 'मुज्जग' कहते हैं। हो सकता है जब इन्द्र के लिए आर्जीक से सोम बहने के लिए प्रार्थना की गई हो तो मुजवत भी इस पहाड़ी सिलसिले का नाम हो। सोम शब्द के सम्बन्ध से कुल्लू और भून्तर के बीच के एक छोटे से पंचायती क्षेत्र को आज भी 'सौमसी' कहते हैं । परन्तु यदि यह पहाड़ काश्मीर की वादी में हो तो भी कोइ आपत्ति की बात नहीं। हमारे लिए प्रसन्नता और सन्तोष की यही बात काफी है कि अर्जिकीया, आर्जीक और सोम के उल्लेख से हमारी कहानी की प्रथम कड़ी ऋग्वेद के आदि काल से जा मिलती है।

इतिहास की यह कड़ी और भी मज़बूत हो जाती है, जब हम ऋग्वेद के सब से बड़े देवता इन्द्र की कल्पना से इन्द्रकील पर्वत और इन्द्रासन का वर्णन करते हैं। कुलान्त पीठ महात्म में इस पहाड़ का नाम इन्द्र कील कहे जाने का कारण बताया गया है। लिखा है—

कीलितो शैलराजोयं इन्द्रेण च महात्मनः ।
इन्द्रकीलं च विख्यातं त्रिशु लोकेशु विश्रुतः ॥

अर्थात् सृष्टि के आरम्भ में जब सारे पहाड़ इधर से उधर डोलते फिरते थे और कोई भी स्थिर नहीं होता था तब इन्द्र ने इस पर्वत को कील दिया, और इस जगह स्थिर खड़ा कर दिया। इसका असली नाम 'शैलगिरी' था, जो अब बिगड़ कर 'शीघरी' रह गया है । यह पर्वत कुल्लू और स्पिनि के बीच स्थित है, और इस की सब से ऊंची चोटी को स्थानीय लोग अब भी **'इन्दरकीला'** कहते हैं । पहाड़ों में इसी सिलसिले में इन्द्रकील से थोड़ी दूर पर इन्द्रासन है जिसे **'देउटिब्बा'** कहते हैं। इन्द्र चूंकि देवताओं के राजा हुए हैं, इसलिए यह बिल्कुल सम्भव है कि इस इन्द्रासन पर बैठ कर वह अपना काज चलाते हों। आर्यों के श्रद्धा और विश्वास के अनुसार हिमालय आरम्भ से देवताओं का निवास

स्थान माना गया है। सप्त सिन्धु के आर्यावर्त्त में हिमालय के सीमा क्षेत्र की जो कल्पना की जा सकती है उसके अनुसार तो यह जगह जिसे इन्द्रासन कहा गया है, ठीक केन्द्र में स्थित प्रतीत होती है। बहरहाल इन्द्र चूंकि ऋग्वेद की सब से अधिक ऋचाओं में आया हुआ और उस समय के आर्यों का सब से बड़ा देवता था, अतः उसका आसन और उसका कीला हुआ पर्वत कुलूत देश में होना इस देश की महानता को और चार चांद लगाता है। हिमालय के सारे पर्वतक्रम में कोई और स्थान इन्द्रासन बनने का दावा नहीं कर सकता, और न ही किसी और इलाके को देवभूमि कहलाए जाने का गर्व प्राप्त है।

इस देवभूमि में हम 'ठारह करड़' देवताओं का वर्णन कर आए हैं, जिनका केन्द्रीय और पवित्र स्थान व्यास वादी के **नगर** गांव में स्थित है जिसे **'जगती'** कहते हैं। यूं तो ऋग्वेद (५/१३०/१०) में इस मन्त्र को छन्दों के सम्बन्ध में कहा गया है, परन्तु प्रत्येक छन्द का एक या एक से अधिक देवता भी माना गया है, जो इस छन्द में छुपा रहता है, और उसे अपने वज़न और माप में ठीक रखता हुआ इसे शक्ति प्रदान करता है। छन्द मन्त्रों के वज़न और माप-तोल का नाम है। बोल और बोलने के ढंग को भी छन्द कहते हैं। ऋग्वेद की इस ऋचा के अनुसार अग्नि ने अपनी बोली के लिए गायत्री छन्द को अपनाया। सोम, इन्द्र, सूर्य आदि देवताओं के अनुष्टुप आदि दूसरे छन्दों से सम्बन्ध स्थापित किया। इसी तरह जगती छन्द में संसार के सारे देवता आ कर स्थित हो गए। अर्थात् जगती सभी देवताओं वचन और बोलने का केन्द्र बन गया। जिस तरह गायत्री छन्द भी है और देवी संध्या का भी रूप है, इसी तरह जगती चाहे छन्द हो, देवता मानते हुए इसे सभी देवताओं का रूप माना जा सकता है और सभी देवताओं के इस सामूहिक रूप का केन्द्र स्थापित हुआ.........**व्यासवादी के नगर गांव में।**

ऋग्वेद की उपर्युक्त ऋचा में ऊपरलिखित विचार को बिल्कुल साफ ढंग से लिखा है कि **'विश्वान् देवान जगत्या विवेश'**। अर्थात् संसार के सब देवता जगती में आकर स्थित हो गए, और सम्भवतः इसी अनुश्रुति से आज तक संसार भर के नहीं तो कुल्लू भर के देवता अपने इस केन्द्रीय स्थान पर आना और आ कर यहां यज्ञ करना अनिवार्य ही नहीं वरन् धर्मपरायण कार्य समझते हैं। कभी देश पर बहुत

"जगती पौट"

कुल्लू की व्यास उपत्यका के नग्गर (Naggar) गांव में स्थित विश्वदेवान का केन्द्रीय स्थान "जगती" जिसे मधु मक्खियों ने भृगु तुंग (ग्राम ढौग) से उठा कर यहां लाया।

बड़ी आपत्ति आ पड़े तो यहां कुल्लू भर के देवता इकट्ठे होते हैं, जिसे **'जगती पुछ'** कहा जाता है। अपने देवताओं से आमने सामने बात करना प्राचीन आर्य लोगों की एक विशेषता थी, और इसी को दृष्टि में रखते हुए इस **'जगती पुछ'** के अवसर पर इकट्ठे हुए लोग अपने देवताओं से आई हुई आपत्ति के बारे में पूछते और देवता अपने गुर या चेले में आध्यात्मिक रूप में प्रकट हो कर उन संकटों के कारण और उन के निवारण के लिए उपाय बताते हैं। जिस तरह देवताओं के राजा इन्द्र का अपना केन्द्र इन्द्रासन में है, जिसका हम ऊपर वर्णन कर चुके हैं, उसी तरह देवताओं की अपनी सभा का केन्द्र स्थान यह जगती है। यहां एक बहुत बड़ा सपाट पत्थर है जो देवताओं की सभा के प्रधान के आसन के लिए नियत प्रतीत होता है, क्योंकि इसे प्रायः दवताओं का तख्त या सिंहासन ही कहा जाता है। एक बहुत पुरानी अनुश्रुति के अनुसार इस शैलासन को भृगुतुंग की एक चट्टान से काटा गया था और सारे देवताओं ने मधुमक्खी का रूप धारण करके उसे यहां से उठा कर 'नग्गर' लाया था। वैज्ञानिक युग के लोग तो इतनी बड़ी शैलशिला का मधुमक्खियों द्वारा उठाया जाना सम्भवत: स्वीकार न करें, परन्तु जो प्रकृति की रहस्य-भरी शक्तियों की गहनता कुछ समझते हैं, और जो आध्यात्मिकता के छुपे हुए रहस्य से कदरे परिचित हैं, वे अनुश्रुति पर अवश्य विश्वास करते हैं। देवताओं के इस सिंहासन को **'जगती पौट'** कहते हैं। एक बार फिर हम यह कहने का साहस करते हैं कि हिमालय की गोद में कोई भी दूसरा स्थान अपने आप को जगती अर्थात् **'देवताओं का आसन'** कहने का दावा नहीं कर सकता। यह ऋग्वैदिक काल के आर्यों की देन है और इसका गर्व कुलूत देश को ही है।

पिछले एक अध्याय में हमने **'ठारह करडू'** देवताओं का उल्लेख करते हुए यह बतलाया था कि महर्षि जमदग्नि ने आर्यावर्त्त को देवता की साकार मूर्ति दी, और सारे देवताओं को, जिन्हें **'विश्वेदेवा'** कहा गया है, अठारह टोकरियों में रख कर सुरक्षित किया था। जगती को इन का केन्द्रीय स्थान नियत किया था, और निस्सन्देह यह महर्षि जमदग्नि के समय की ही घटना है, जब इन **'ठारह करडू'** देवताओं ने, जिनमें संसार भर के सभी देवताओं का समावेष माना जाता है, मधुमक्खियां बन कर **'ठारह करडू'** के लिए यह शैलासन **'भृगुतुंग'** से उठा लाया। यदि जगती को छन्द की व्याख्या से न भी माना जाए, तो जगती का शाब्दिक अर्थ

जगत से सम्बन्ध रखता है । जगत का अर्थ संसार, अतः जगती का अर्थ संसार का केन्द्र, और यह जगह निस्सन्देह संसार का केन्द्र है। ऋषियों ने तथा ज्योतिष के विद्वानों ने सुमेरु पर्वत को संसार का केन्द्र माना है। परन्तु कुलूत भी तो सुमेरु के इर्द गिर्द का ही देश है। अतः सुमेरु के आस पास का इलाका भी संसार का केन्द्र हो सकता है।

अब हम पाठकों को कुलूत देश की महानता का एक और फूल ऋग्वेद उद्यान से चुनकर पेश करते हैं । ऋग्वेद की एक ऋचा है (३/४६/७) जिसका अर्थ है **'हे रुद्र ! आकाश के ऊपर से छोड़ी हुई तुम्हारी जो बिजली पृथ्वी पर प्रकट हो रही है, वह हमारा पीछा करना छोड़ दे'**। इसके बाद एक शब्द आया है **'स्वपिवात'** जिसका अर्थ है **'स्वयं पीने वाला'**, और फिर ऋचा का अर्थ है कि **'हे स्वयं पीने वाले तुम्हारी हजारों औषधियां हैं, हमारी संतान को हानि न पहुंचाओ'**। प्रकट है कि रुद्र ने बिजली को पृथ्वी पर छोड़ा, जिससे ऋषि वसिष्ठ को जो इस ऋचा के निर्माता हैं और ऋग्वेद के पुराने ऋषि हैं, अपने लोगों समेत भय हुआ। उन्होंने ज़ोर से प्रार्थना की कि यह बिजली न केवल उनको छोड़ दे बल्कि 'स्वपिवात' कह कर उन्हें उसे स्वयं ही पीने की प्रार्थना की, अर्थात् अपने में वापस लेने की प्रार्थना की। निस्सन्देह वसिष्ठ की प्रार्थना पर रुद्र ने आकाश से छोड़ी हुई बिजली को अपने में वापिस ले लिया, और जिस जगह यह घटना हुई.........जहां रुद्र रूप भगवान शिव ने अपनी छोड़ी हुई बिजली को अपने में वापिस धारण किया, वह स्थान व्यास और पार्वती के संगम पर स्थित ऊंचा पहाड़ है, जहां महादेव का मन्दिर है, और जिसे **बिजली महादेव या बिजलेश्वर महादेव** कहते हैं । और यह अनुश्रुति नहीं वास्तविकता है कि लग-भग बारह वर्ष के बाद इस मन्दिर पर आकाश से बिजली गिरती है। महादेव के पत्थर का पिण्ड चूर-चूर हो जाता है । इसके बाद पुजारी लोग गांव के हर घर से इकट्ठा किए हुए शुद्ध पवित्र मक्खन से पिण्ड की एक एक कंकर को मक्खन से जोड़ते हैं, और लिंग रूप में खड़ा कर देते हैं। मक्खन और कंकर आपस में ऐसे जुड़ जाते हैं कि मक्खन अपने पिघलने की विशेषता छोड़ बैठता है और पत्थर बन जाता है। रुद्र का रूप...... भगवान शिव का रूप......महादेव शंकर का रूप धारण कर लेता है। यह पिण्ड महादेव का हृदय बन जाता है.........मक्खन की तरह कोमल और पत्थर की तरह कठोर।

भगवान शिव को कुल्लू भर में महादेव कहा जाता है, और यही महादेव आदिकाल में रुद्र कहा जाता था। रुद्र की प्रार्थना में जो उपर्युक्त ऋचा महामुनि वसिष्ठ ने रची है, वह स्वयं आध्यात्मिक और भौतिक दार्शनिकता से भरी पड़ी है। वेद मन्त्रों की यही तो विशेषता है कि शाब्दिक अर्थ कुछ और, भेद की बात कुछ और। जिस तरह महाभारत के विराट स्वरूप को देखने के लिए अर्जुन को दिव्य दृष्टि की आवश्यक्ता पड़ी थी, ठीक उसी तरह वेद मन्त्रों के सांकेतिक भावों और रहस्यों की गहनता समझने के लिए भी एक विशेष आध्यात्मिक ज्ञान का होना आवश्यक होता है। अन्यथा शब्द और अर्थ के घने जंगल में घूमते फिरते तो कांटों में उलझने के सिवाये शायद ही कुछ बन पाए और कवि के शब्दों में हालत कुछ ऐसी होगी कि—

"मिट गया घिसने में उस उकदे[1] का वा[2] हो जाना"

यदि इस ऋचा की आध्यात्मिक और भौतिक दार्शनिकता की पूर्ण व्याख्या करने लगूं तो एक अलग विषय बन जाता है। यहां केवल इस कदर बतला कर सन्तोष करता हूं कि प्रकृति के कारखाने से बिजली कदरे अधिक मात्रा में डिस्चार्ज होने लगी, और इससे प्राचीन आर्य लोगों को भय होने लगा, क्योंकि अनायास चारों ओर विद्युत पात होने से हाहाकार तो मच सकता था। तब ऋषिओं ने प्राकृतिक विषय के महा मन्त्री भगवान रुद्र को, जिन्हें महादेव भी कहा जाता है, और जिन्हें वाद में शिव शंकर भी कहा गया, इस ऋचा के रूप में नम्र निवेदन किया। महादेव ने तीसरे नेत्र का लैन्स खोल कर योजना का तुरन्त सर्वेक्षण किया, और एक ऐसा स्थान निश्चित किया जहां प्रकृति की इस अतिरिक्त शक्ति को अपने शरीर अर्थात् ब्रह्माण्ड में समेट सके। तभी व्यास और पार्वती के संगम पर स्थित उस ऊंचे पहाड़ पर बिजली कोंदो......चका चोंद रोशनी चारों ओर से लपक कर पहाड़ की चोटी पर गिरी, ध्वसित हुई और न जाने कितनी गहराई में जाकर व्यास और पार्वती के संगम में शांत हो गई, ताकि दोबारा उभर न सके और प्राचीन तथा अर्वाचीन लोगों के लिए बिजली गिरने का भय कम हो जाए।

---

1. कठिन प्रश्न। 2. खुलना। भावार्थ :—उस कठिन प्रश्न या (गांठ) का खोलना तो माय घिसतें घिसते ही मिट गया।

यह था शब्द **स्वपिवात** का अर्थ, और यह था बिजली महादेव का स्थान......भगवान रुद्र का वह बिजली घर जहां आज भी बिजली को भूयोजित (to earth) करने का सब से बड़ा, सब से विचित्र स्वचालित केन्द्र है, और जिसका संकेत ऋग्वेद की इस ऋचा में महर्षि वसिष्ठ ने तब किया है, जब प्राचीन आर्य लोग इन्हीं पहाड़ों में अपने पूज्य और साक्षात देवताओं की रक्षा में रहते थे। तिब्बत की धार्मिक पुस्तकों में इस स्थान का महत्व उत्तरी हिमालय भर में पवित्रतम माना गया है।

कुल्लू की भाषा में एक वाक्य है '**बीझै री बीज़**' अर्थात् साफ आकाश की बिजली। बादलों से बिजली गिरने की बात तो आम है, परन्तु प्रतीत होता है कि कुलूत देश के प्राचीन लोगों को निर्मल आकाश से बिजली गिरने का पता था। इस लिए जब कोई आदमी झूठ बोलता हो या बहुत बड़ा अपराध करता हो तो उसे ऐसा कह कर कि तुझ पर निर्मल आकाश से बिजली गिरे—शाप दिया जाता है। इससे स्पष्ट होता है कि ऋग्वेद काल से ले कर लोग यह जानते हैं कि केवल बादलों में ही नही, बल्कि प्रकृति के इस कारखाने में भी बिजली जैसी कोई शक्ति हर समय विद्यमान रहती है, जिसकी उचित मात्रा उत्पादन और विकास के लिए लाभदायक होती है, और यह भी कि इस शक्ति को तबाही के लिए भी प्रयोग में लाया जा सकता है। आज भी ऋग्वैदिक आर्यों की सन्तान इस वाक्य अर्थात् 'बीझै रो बीज़' को कहती तो है परन्तु उस की दार्शनिकता को सम्भवत: समझती नहीं।

बहरहाल इस ब्यौरे के बाद ऋग्वेद की ऋचाओं का, जिनका सम्बन्ध कुलूत देश की कहानी से जोड़ने का हमने प्रयत्न किया है, वह दौर समाप्त हो जाता है, जिसे आरम्भ में हम आदिकाल या आरम्भिक दौर कह आए हैं। तब व्यास का नाम था '**अर्जिकीया**'। व्यास की वादी और यहां के लोगों को कहते थे **आर्जीक**। आरम्भ के इस दौर पर विचार समाप्त करने से पहले शब्द 'आर्जीक' को एक नए दृष्टिकोण से विचाराधीन लाना चाहता हूं। शब्द आर्जीक की यह नई व्याख्या भाषा विज्ञान (Philology) के अधीन न केवल उचित है वरन् बिल्कुल वैज्ञानिक प्रतीत होती है।

न केवल कुल्लू में बल्कि पंजाब भर में बोली जाने वाली भाषाओं

में प्राय: ऐसे शब्द हैं, जिन में संस्कृत के अक्षर 'य' को 'ज' बोला जाता है—जैसे युग को जुग, योधा को जोधा, यश को जश, योग को जोग, योगी को जोगी कहते हैं। कुलूत के इलाके में तो विशेष रूप से ऐसे शब्द हैं—यज्ञ को जग, यम को जम या जौं, यव को जव, यजमान को जजमान, या जमान यक्ष को जछ, योगिनी को जोगिनी, कार्य को कारज, आर्यमुख को आर्जमुख कहा जाता है। 'य' को 'ज' बोले जाने की इस साधारण प्रवृति भाषाई आयास के अधीन 'आर्जीक' शब्द वास्तव में 'आर्यीक' है, या 'आर्यक' हो सकता है। क्योंकि काश्मीर और उसके पूर्व के इस इलाके में सब से से पहले आर्य आबाद थे, इस लिए इस इलाके को आर्यीक अर्थात् आर्यों की भूमि कहा गया है, जिसका उच्चारण प्रवृति और आयास प्राचीन आर्यों लोगों से चली आती रही है, अतः इस देश में उस समय रहने वाले के उच्चारण अनुसार वहां के ऋषिओं ने भीं इसी उच्चारण में 'आर्जीक' कहा, और जो कहा बाद में लिखा भी गया। आर्जिकीया वस्तुत: आर्यीकिया से बना है, और तब सम्भवत: काश्मीर के पूर्व में सारे प्रदेश को आर्यक कहा जाता होगा, और तभी इस इलाके की सब से महान और पवित्र नदी को आर्यकीया या आर्जकीया कहा गया। उस समय की भौगोलिक स्थिति या नदियों के अस्तित्व का चित्रण हम ऊपर कर आए हैं। हो सकता है कि जय यह नदी मौजूद न थी, एक **शिवालक नदी** हिमालय में पश्चिम से पूर्व की ओर बहती ऊपर ही ऊपर सिन्ध से, आर्यक से गुजरती हुई शिमला और नैनीताल से आगे आसाम में जा गिरती थी, तब काश्मीर क पूर्व में व्यास ही सबसे बड़ी नदी हो जो आर्यक से बहती हो और इस लिए उसे आर्यकीया या आर्जिकीया अर्थात् आर्जीक में बहने वाली कहा गया हो। ऐसा प्रतीत होता है कि पूर्व में शतद्रु अर्थात् सतलुज का वर्तमान मार्ग बाद में बना हो और व्यास को आर्यकीय नाम उससे पहले दे दिया गया हो, जैसा कि हम बार बार यह लिख आए हैं कि तब कुलूत का सीमाक्षेत्र अवश्य विशाल होगा।

यही आर्यक अर्थात् आर्य देश बाद में कुलूत कहलाया होगा। आर्यक में शतद्रु के दूर पूर्व की ओर का हिमाचल प्रदेश भी शामिल होगा जिसका स्पष्ट प्रमाण हिमाचल की एक रियासत अर्की के नाम से मिलता है, जो अवश्यमेव **'आर्यकी'** शब्द होगा। आर्य को अर्य भी कहा जाता था, इस लिए अर्यकी से अर्की कहा जाना बिल्कुल उपयुक्त प्रतीत होता है। हो सकता है कि तब आर्यकी या आर्जीक प्रदेश अर्की

और उसके आस पास का इलाका हो और कुलूत के नाम पर बाद में एक बड़ा राज्य स्थापित हुआ हो। यह बहुत बाद की बात होगी। प्राचीनतम समय का यह आर्यक देश यदि शिमला की पहाड़ियों तक फैला हुआ था, तो उत्तर में यह लद्दाख और तिब्बत की सीमा तक फैला हुआ होगा। इसका स्पष्ट प्रमाण इस बात से मिलता है कि ऋग्वेद की ऋचाओं में इस देश का वर्णन केवल सोम के सम्बन्ध में आया है यह सोम उस समय के आर्यों के जीवन का सबसे आवश्यक भाग था, जिसे पीकर वे शक्ति और नशा दोनों प्राप्त करते थे। लाहुल, स्पिति, लद्दाख और तिब्बत तक के इलाकों में आज भी आर्यों के सोम रस का नाम......वह शराब है जिसे वे **'अरक'** कहते हैं। बहुत पुराने समय में कुलूत भाषा में भी शराब को अरक ही कहा जाता था। इससे सिद्ध होता है कि जिस सोम रस के सम्बन्ध में ऋग्वेद में कहा गया है कि 'जिसे आर्जीकों ने छाना' तथा जिसे आर्जीक से बहने के लिए प्रार्थना की गई है, यह वही अरक है जिसे आर्जीकों ने छाना, अर्थात् आर्यों की सबसे प्रिय वस्तु को अरक कहा गया। यही चीज़ थी जो इस देश में पर्याप्त होती थी, और जो सारे आर्यावर्त्त को सप्लाई की जाती थी।

तिब्बत की भाषा में एक शब्द है जिसे सुमाचर्हस (Sumach rhus) कहते हैं। यह कुछ बूटियों के संग्रह का नाम है, जिससे अरक अर्थात् शराब बनाया जाता है। यह चीज चीन और जापान तक सप्लाई होती है। इस बात का वर्णन एक अमेरिकन यात्री ने अपनी पुस्तक (The Third Eye) अर्थात् **'तीसरी आंख'** के पृष्ठ १६६ पर किया है। अवश्यमेव यह शब्द सोम रस ही है जो इस अमेरिकन यात्री अनुसार चीन और जापान की ओर भी बहता था। तब यह आर्जीक या आर्यक में तो ज़रूर बहता होगा। कुल्लू में आज भी सूर या सुरा तैयार करने के लिए सोलह प्रकार की जड़ी बूटियों के संग्रह को प्रयोग में लाया जाता है, और यह सुरा मन्दिरों में भी तैयार होकर देवताओं को भेंट की जाती है। उपर्युक्त सिद्धांत से तीन बातें स्पष्ट होती हैं। प्रथम यह है कि 'य' की जगह 'ज' के उच्चारण के आधार पर असल में **अर्जिकीया** और **आर्जीक** शब्द क्रमशः **आर्यकीया** और **आर्यीक** या **आर्यक** है, जिसका अर्थ हुआ **'आर्यक देश'** और इसमें बहने वाली **'आर्यकीया'** नदी। द्वितीय यह कि आर्यक देश की भौगोलिक सीमाएँ उस समय पूर्व में शिमला से आगे तक उत्तर पश्चिम में तिब्बत और काश्मीर तक फैली

हुई थीं। तीसरे यह कि आर्यक देश की सब से महान और पवित्र नदी आर्यकीया थी और इस आर्यक देश के सामूहिक जीवन का केन्द्र था वह इलाका जिसे हम बाद में कुलूत देश कहते हैं और जिसकी हम कहानी लिख रहे हैं।

कुलूत देश के महत्वपूर्ण और केन्द्रीय क्षेत्र होने का प्रमाण इस बात से मिलता है कि सैंकड़ों वर्षों के बाद भी पच्चास वर्ष पूर्व तक कुल्लू एक ऐसी केन्द्रीय मण्डी थी जहाँ यारकन्द, कन्धार, समरकन्द, तिब्बत का माल लाहुल स्पिति के रास्ते आकर बिकता था। प्रायः होशियारपुर, जालन्धर के व्योपारी कालीन, नमदे, गलीचे, ऊन, पश्म, नमक, सुहागा, जड़ी बूटियां, घोड़े, टट्टू, भेड़ बकरियां तथा चरस लाते थे और ये चीज़ें कुल्लू की मण्डी में आ कर बिकती थीं। यह व्यापारी इस तरफ का माल चाय, कपड़ा, अनाज, बरतन आदि उधर भी ले जाया करते थे।

मि० हार्कोट जो १८७१ में एसिस्टेंट कमिश्नर रह चुके हैं, अपनी पुस्तक **'डिस्ट्रिक्ट आफ कुल्लू लाहुल एण्ड स्पिति'** (District of Kulu, Lahul and Spiti) में एक ऐसे मुख्य मार्ग होने का भी संकेत करते हैं, जो नग्गर से चन्द्रखणी के रास्ते होता हुआ तिब्बत और चीन तक पहुंचता था। बहुत पुराने समय में कुल्लू के लोग चीन को महाचीन कहते थे, और इस मुख्य मार्ग द्वारा महाचीन से यातायात स्थापित था और व्यापार भी। निस्सन्देह इसी मार्ग से चौदहवीं सदी में काश्मीर के बादशाह जैन उलआबदीन ने ऊपरी किन्नौर के इलाके पर आक्रमण करके चन्द्रखणी के रास्ते से कुल्लू की राजधानी नग्गर को भी नष्ट-भ्रष्ट कर दिया था, जिसका पूरा ब्यौरा हम आगे देंगे। यहां तो केवल इतना बताना पर्याप्त है कि जो इलाका हाल में इस अन्तिम दौर तक भी...अर्थात् पच्चास वर्ष पहले तक भी आर्जीक के इस देश में अपनी केन्द्रीय स्थिति को स्थापित रखे हुए था, वह ऋग्वैदिक काल में भी था, जब यहां आदि काल के आर्य बसते थे......जब इस आर्जीक की वादी में इन्द्र के लिए सोम बहने की प्रार्थना की गई थी......जब आर्जीकों या आर्यकों ने यहां सोम रस को छाना था......और जब शर्यणावत पर्वत पर वृत्र असुर को मारकर सप्त सिन्धु की नदियों सतलुज, व्यास, रावी और चन्द्रभागा के रुख मोड़ दिए गए थे......जब वाणासुर शतद्रु को मानसरोवर से अपने पीछे लाया था......जब आदि भृगु ने भृगु-तुंग पर तप किया था, और महर्षि

जमदग्नि ने '**मलाणा**' गांव में निवास करते हुए निराकार ईश्वर की साकार मूर्तियां बनाकर '**ठारह करडू**' के रूप में नग्गर के स्थान पर '**जगती पौट**' के शैलासन पर लाकर बिठाया था............जब भगवान रुद्र ने बिजली महादेव शिखर पर पहली बार अपने त्रिशूल द्वारा समय समय पर गिरती हुई बिजली को अपने में समेट लिया था, और इस तरह आर्य लोगों को भय से बचाया था, ज़रूर एक विशेष महत्व का अधिकारी और महानता का पात्र रहा होगा। पण्डित जवाहर लाल नेहरू ने पहाड़ों की इस महानता को ही छुपा हुआ रहस्य कहा है...... जिस पर से अबयूं धीरे-धीरे पर्दा उठ रहा है।

सातवां अध्याय

रोशनी की किरण

कब तक गमे हयात को आसूदगी कहें ।।
कोई किरण तो हो कि जिसे हम रोशनी कहें ।।

विपाश और उषा का शकट

हमारी कहानी के सम्बन्ध में विपाश का नाम नया नहीं है, और उसके बारे में अधिक व्याख्या की भी आवश्यकता नहीं । ऋग्वेद काल के पहले दौर में व्यास नदी का नाम 'अर्जीकीया' का पूरा वर्णन पिछले अध्याय में हो चुका है । और अब इस नदी के लिए विपाश नाम से हम ऋग्वेद काल के दूसरे दौर में दाखिल होते हैं । पाठकों को याद होगा, कि महामुनि वसिष्ठ के बन्दनों को तोड़ने पर ही अर्जीकीया को विपाश नाम दिया गया था, और चूंकि वसिष्ठ ऋग्वेद के आदि ऋषियों में से एक बहुत बड़े ऋषि हुए हैं, इस लिए ऋग्वैदिक काल के दूसरे और तीसरे दौर में व्यास का वर्णन विपाश नाम से ही ऋग्वेद में आया है ।

यूं तो ऋग्वेद के ऋषियों की संख्या साढ़े तीन सौ से कुछ ऊपर है, परन्तु सब से पुराने ऋषियों में भारद्वाज, कश्यप, गौतम, अत्री, विश्वमित्र, जमदग्नि और वसिष्ठ प्रधान हैं, इनके अतिरिक्त वामदेव, गृत्समद, पराशर, अगस्त्य, भृगु, और मनु भी ऋग्वेद के ऋषि हुए हैं । ऋग्वेद को पूर्ण बनाने में स्त्रियों ने भी अपना योगदान दिया है । लोपामुद्रा, और घोषा जैसी विद्वान स्त्रियां ऋग्वेद की ऋषि कहलाती हैं । उपर्युक्त ऋषियों में से वसिष्ठ, गौतम, जमदग्नि, पराशर, भृगु, मनु, और घोषा ऐसे ऋषि हैं, जिन का हमारी कहानी से सम्बन्ध केवल औपचारिक नहीं बल्कि ये कहानी के इस कदर महत्वपूर्ण भाग हैं कि जिन के बिना कहानी की रूप रेखा उभरती ही नहीं । यदि ऋग्वेद के मन्त्रों की संख्या के आधार पर देखा जाए तो भी वसिष्ठ प्रथम आते हैं, जिन्होंने एक सौ तीन सूक्त बनाए हैं, और यही वसिष्ठ हैं जिनके बन्धन तोड़ने के बाद अर्जीकीया ने विपाश नाम

पाया, और इसके बाद ऋग्वेद में जिसका वर्णन विपाश नाम से आना आरम्भ हुआ।

महामुनि वसिष्ठ का आश्रम मनाली से दो मील ऊपर एक तीर्थ के रूप में प्रसिद्ध है। गौतम ऋषि का सम्बन्ध मनाली से तीन मील ऊपर गोशाल नाम के गांव से है। वसिष्ठ से कुछ मील चढ़ाई पर भृगुतुंग पर्वत पर भृगु का आश्रम है, जिसका वर्णन हम पिछले अध्याय में संक्षेप से कर आए हैं। मनु महाराज का घर मन्वालय अर्थात् मनाली में है। जमदग्नि हेमकूट अर्थात् हामटा और मलाणा से सम्बन्धित है, जिनके कुल्लू भर में बारह देवगृह हैं। **'जेठा हामटा कोन्हा मलाणा'** कुल्लू की एक पुरानी कहावत है, जिसका अर्थ है जमदग्नि का असल स्थान हामटा और दूसरे नम्बर पर मलाणा है। घोषा का निवास स्थान लाहुल में तन्दी के स्थान पर गोशाल है, जो निस्सन्देह घोशालय से बिगड़ कर गोशाल रह गया है। यही घोषा महर्षि विश्वमित्र की पत्नी हुई, जिनका लड़का मधुच्छंदा भी ऋग्वेद का ऋषि हुआ है। पिछले अध्याय की जिन ऋचाओं में व्यास का नाम अर्जीकीया आया है, उनके निर्माता हैं मरीचि के लड़के कश्यप ऋषि और ऋचीक के लड़के जमदग्नि। श्री के० एम० मुन्शी के अनुसार ऋषि जमदग्नि के साथ ही सत्ययुग समाप्त हो जाता है और उनके लड़के भगवान् परशुराम के साथ ही त्रेता युग का आरम्भ होता है। अर्थात् सत्ययुग के अन्त तक व्यास का नाम अर्जीकीया रहा है, और त्रेता में जब महामुनि वसिष्ठ के बन्धन तोड़े गए तो उसका नाम विपाश हुआ। और उस के बाद ही ऋषि बाम देव, गौतम तथा महर्षि वसिष्ठ से सम्बन्धित उन ऋचाओं का निर्माण हुआ, जिनसे कुलूत देश की कहानी में एक नया ऐतिहासिक मोड़ आता है। एक ऐसी वास्तविकता प्रकट होती है जिससे ऋग्वैदिक काल के दूसरे दौर में रहने वाले आर्य लोगों के जीवन पर कई पहलुओं से रोशनी पड़ती है। इन ऋचाओं की पृष्ठ भूमि में अतीत का स्वप्नांतिक माहौल जागृतावस्था में अंगड़ाई लेता हुआ प्रतीत होता है। इन के इशारों में अतीत की वे गुत्थियां सुलझती नजर आती है, जिनमें अभी तक उलझकर हम अपने आप को भूल बैठे हैं, अपनी महानता खो बैठे हैं। वास्तविकता से अपरिचित हम अतीत के गुप अन्धेरे में चलते चलते हाल में पहुंचे, और अब इस हाल के आधारों पर हमारा भविष्य बनने जा रहा है, गोया गालिब के शब्दों में—

हैं ख्वाब[1] में हनूज़[2] जो जागे हैं ख्वाब में

इसी लिए मैं कहता हूं कि इन ऋचाओं की सहायता से सम्भवत: हम अपने आपको कुछ समझा पाएं । अपनी संस्कृति के आधारों की दृढ़ता अनुभव करके हम में वर्तमान को संवारने का साहस आ जाएगा, और यदि वर्तमान आत्मज्ञान और आत्मगौरव की भावना से परिपूर्ण हो गया तो भविष्य हर अवस्था में शानदार हो सकता है, जो आने वाली संतान को गोदी में श्रद्धा तथा प्रेम से लेने के लिए हर क्षण उत्सुक हैं ।

जैसा कि ऊपर वर्णन आया है, ऋषि गौतम का सम्बन्ध गोशाल नाम गांव से है, जो मनाली से लगभग तीन मील की दूरी पर है । इन्हीं ऋषि गौतम के लड़के हुए ऋषि बामदेव, और इन्हीं की एक ऋचा (ऋग्वेद ११/३०/४) का अर्थ है, **"बुरी तरह शीर्ण उषा (सुबहे सादिक) का शकट (अर्थात् रथ) विपाश के किनारे गिरा, वह पश्चिम देश की ओर चली गई"** । गोया उषा का रथ जो बुरी तरह टूटा फूटा हुआ था विपाश के किनारे पर आ गिरा। ऋग्वेद के मन्त्र जैसे कि अर्थगौरव-पूर्ण होते हैं, यह भी उनमें से एक है, जिसका अर्थ आसानी से समझ में नहीं आ सकता, हालांकि साधारण परिस्थितियों में इस का अर्थ स्पष्ट है कि उषा का रथ जो सारी रात यात्रा पूरी कर के शीर्ण हो चुका था, या यूं कहो कि चूर चूर हो चुका था, विपाश के किनारे आ कर गिरा अर्थात् विपाश के किनारे आ कर पौ फटी, गोया व्यास के किनारे प्रभात हुई, फिर सूर्य निकला, और वह धीरे धीरे पश्चिम की ओर बढ़ता गया । परन्तु यह सीधे साधे शब्द ही इस ऋचा के अर्थ नहीं हैं । इस ऋचा में उषा का रथ पर सवार हो कर आना कवि की सूक्ष्म कल्पना है, और सारी रात की यात्रा पूर्ण करके उस रथ का शीर्ण होना साहित्यिक शैली हो सकता है । परन्तु इस टूटे हुए रथ का विपाश के किनारे आ कर गिरना कवि की सूक्ष्म कल्पना और साहित्यिक शैली के साथ साथ एक वास्तविकता की ओर अर्थगौरव संकेत भी है ।

साहित्य के दृष्टिकोण से इस वेद मन्त्र की व्याख्या और स्पष्टी-

---

1, स्वप्न । 2. अभी तक ।

करण किया जाए तो यह व्यास के किनारे पौ-फटने के दृश्य की एक साहित्यिक कला है, परन्तु इस कला सौंदर्य की गहराई में तो हर गोता-खोर के लिए एक अलग अमूल्य मोती छिपा है। आखिर ऋषि बामदेव गौतम ने केवल कविता के लिए इस ऋचा का निर्माण नहीं किया है और जब महर्षि वेद व्यास ने ऋग्वेद की दस हज़ार ऋचाओं को छांट कर इकट्ठा किया तो इस ऋचा को केवल इस लिए शामिल नहीं किया कि इसमें विपाश के किनारे प्रभात होने के दृश्य का वर्णन है । ऋग्वेद का हर मन्त्र अपने में एक रहस्य लिए हुए है और इस लिए यह रहस्य इस ऋचा में भी ज़रूर है और ज़रूर कोई इशारा इस की पृष्ठ भूमि में इतिहास की किसी घटना की ओर ध्यान आकर्षित करना चाहता है।

एक बहुत पुरानी संस्कृत की पुस्तक में, जिसके लेखक का नाम मालूम नहीं हो सका, विपाश के किनारे प्रभात होने का अर्थ व्यास के किनारे आंख खुलना लिखा है । इस सारी ऋचा का अर्थ इस में यूं प्रकट किया है कि "**बहुत लम्बी प्रतीक्षा के पश्चात् हमारी आंख व्यास के किनारे खुली**"। इससे अधिक व्याख्या यद्यपि लेखक ने नहीं की है, फिर भी इसमें कुछ संकेत अर्थ निकालने की दिशा में मिलता है। हो सकता है कि सृष्टि की रचना के जिन सिद्धांतों पर हम पिछले पृष्ठों में बहस कर आए हैं, उनकी पुष्टि में ऋषि बामदेव गौतम ने यह ऋचा कही हो। सृष्टि के आरम्भ में हज़ारों वर्ष भू-मण्डल में बेहद उथल-पुथल तो रही है। भौतिक परिवर्तन भी ज़ोर शोर से होते रहे हैं, यहां तक कि बड़े बड़े पहाड़ भी इधर से उधर और उधर से इधर डोलते फिरते थे। तभी इन्द्र ने बड़े बड़े पहाड़ों के पंख काट डाले बल्कि उन्हें महादेवी शवरी के कहने से कील भी दिया । ज़रूरी तौर पर उस दौरान अवश्य अंधेरा रहा होगा, और इस चिरकाल के अन्धेरे में उषा का वह रथ जो अंधेरे से प्रकाश की ओर चला आ रहा होगा शीर्ण और चूर चूर हो गया होगा। परन्तु अन्ततः वह रथ आया और सबसे पहले विपाश के किनारे गिरा होगा।

उथल-पुथल और परिवर्तनों के अन्धेरे के बाद सृष्टि ने आंख खोली, सुख का सांस लिया, और यह सब हुआ विपाश के किनारे अर्थात् आस-पास जहां इन्द्र ने शैलगिरी को कील कर आखरी तौर पर और हमेशा के लिए उथल-पुथल के दौर का अन्त किया। अंधेरे का नाश कर

दिया। विपाश के किनारे से उस शान्ति का आरम्भ हुआ, जिसकी आवश्यक्ता पश्चिम की दिशाओं को भी थी, जहां उथल-पुथल हो रही थी। तब वह उषा......शान्ति का सन्देश ले कर पश्चिम की ओर गई, और बाद में वहां भी धीरे धीरे भौतिक परिवर्तन सामान्य स्थिति में आ गए और परिणाम-स्वरूप जीवन के चिह्न पैदा होने में सहायता मिली। बाबू अविनाश चन्द्र दास की खोज के अनुसार भी सप्त सिन्धु में ही सब से पहले जीवन की उषा हुई थी, अर्थात् जीवन का आरम्भ हुआ था, चाहे वह किसी रूप में हुआ हो।

जीवन के आरम्भ के लिए जहां पृथ्वी और भू-खण्ड पर स्थिरता और शान्ति की ज़रूरत थी, वहां गर्मी की भी आवश्यकता थी, आकाश में भी तथा ज़मीन पर भी। आकाश को गरम करने के लिए सूर्य से गर्म किरणें निकलनी आरम्भ हुईं और पृथ्वी पर गर्मी की आवश्यकता पूरी करने के लिए अग्नि की ज़रूरत महसूस हुई। तब आदि भृगु ने अग्नि देवता की आराधना करके उसे प्रसन्न किया, और इस तरह स्थायी रूप से ज़मीन पर अग्नि को प्रचण्ड किया। **श्री के० एम० मुन्शी** ने अपनी पुस्तक "**भगवान् परशु राम**" में इस सच्चाई का वर्णन किया है। अब यह बात पाठकों से छिपी नहीं है कि महर्षि भृगु ने विपाश के किनारे ही तप किया था और अग्नि देवता की आराधना भी। विपाश तब भृगु तीर्थ के पास ही बहती थी। ऋग्वेद की सब से पहली ऋचा* के साक्षात दर्शन महर्षि भृगु ने अग्नि के रूप में विपाश के किनारे ही किए थे।

ऋग्वेद में देवताओं की गिनती कई प्रकार से हुई है। प्रकृति की सुन्दर और शान्ति देने वाली हर शक्ति को ऋषियों ने देवता माना है, और कहीं-कहीं तो प्रकृति की किसी शक्ति के डर से भी उसे देवता माना है। ऐसे कितने ही देवताओं की गिनती भारद्वाज ने ऋग्वेद(१/४२/७/३५/७) में की है। अन्य असंख्य देवताओं के साथ उन्होंने उषा को भी देवता माना है, और उस से रक्षा की प्रार्थना की है। देवता के रूप में उषा का अर्थ वह प्रकाश है जो अंधेरे के बाद पौ फटने पर होता है, अर्थात प्रकाश की पहली किरण। यदि उपर्युक्त ऋचा में हम टूटे-फूटे रथ के शब्दों को

---

*ओं अग्निमीले पुरोहितं यज्ञस्य देवम्।
ऋत्विजम् होनारम् रत्न धातमम्॥

केवल साहित्यिक अभिव्यक्ति भी समझ लें तो ऋचा का असल स्वरूप हमारे सामने आ जाता है कि प्रकाश की पहली किरण विपाश के किनारे पड़ी, और फिर वह पश्चिम की ओर चली गई। इस से प्रकृति के प्रबन्ध का वह पहला असूल स्थापित होता हुआ मालूम होता है, जिस के फल-स्वरूप रोशनी का पूर्व से निकल कर पश्चिम की ओर जाना प्राकृतिक नियम निश्चित किया गया और तब से अब तक इस नियम के अनुसार पृथ्वी इस अंदाज़ से सूर्य के सामने से गुज़रती है जिस से रोशनी पूर्व में प्रकाशित हो कर फिर पश्चिम की ओर जाती है। अत. इस ऋचा के दूसरे भाग में यदि यह लिखा गया कि 'फिर वह पश्चिम देश को चली गई' तो कोई उलझन वाली बात नहीं, बल्कि बिलकुल असूल के मुताबिक और प्रकृति के नियमों का वास्तविक स्वरूप है।

प्रश्न पदा होता है कि आखिर पूर्व में सब से पहले विपाश के किनारे ही उषा का शकट क्यों गिरा, या रोशनी की पहली किरण व्यास के किनारे ही क्यों पड़ी ? इस के उत्तर का एक भाग तो पहले ही बताया जा चुका है, जहाँ सृष्टि के आरम्भ के सिलसिले में हम व्यास और उसके चारों ओर के प्रदेश को आदि देव इन्द्र, इन्द्र कील पर्वत और इन्द्रासन के सम्बन्ध से एक महत्वपूर्ण केन्द्र और ऐतिहासिक पृष्ठभूमि सिद्ध कर चुके हैं। पौराणिक अनुश्रुतियों के अनुसार सृष्टि रचना के सिलसिले में एक और घटना भी पेश आई है, जिस के परिणाम स्वरूप व्यास के किनारे रोशनी की पहली किरण का पड़ना बिलकुल सम्भव प्रतीत होता है।

इस समय तक जो कुछ लिखा जा चुका है उस में महाराज मनु का नाम कई बार आया है। हमारी कहानी में मनु का सम्बन्ध सीधा कुल्लू के गाँव मनाली से है, जो वास्तव में मन्वालय का बिगड़ा हुआ रूप है, और जहाँ कि मनु ऋषि का प्राचीनतम मन्दिर स्थित है। कुल्लू में बेशुमार ऋषियों ने तप किया है, और जहाँ वे रहे हैं उन स्थानों को आश्रम का नाम दिया गया है जैसे वसिष्ठ आश्रम, व्यास आश्रम, भृगु आश्रम या तीर्थ आदि। परन्तु जहाँ मनु महाराज रहे उसे उन का आश्रम नहीं बल्कि आलय अर्थात् घर कहा गया और घर वही होता है जहाँ किसी का जन्म होता है या जहाँ किसी के बाप-दादा रहते हों। स्पष्ट है कि मन्वालय अर्थात् मनाली यदि मनु का घर है, तो अवश्यमेव या मनु का जन्म यहाँ हुआ है या उन के बाप दादा यहाँ रहते थे। हिन्दु शास्त्रों

ग्रोर पौराणिक ग्रनुश्रुतियों के ग्रनुसार सृष्टि रचना के ग्रारम्भ से ले कर कई मन्वंतर हुए हैं जिन के चलाने वाले विभिन्न मनु बताए जाते हैं, जो विभिन्न समय में हुए हैं, ग्रौर जिन्होंने ग्रपने समय में सृष्टि की रचना तथा उसे बढ़ावा देने में काम किया है। ग्रादि मनु **'स्वयंभुवा'*** (इसी स्वयंभु शब्द से बिगड़ कर शंभू शब्द बना है जिसे बहुत बाद में शिव ग्रौर ग्रादिदेव शंकर भी कहा गया) का जन्म ब्रह्मा से बताया गया है, ग्रौर इस के बाद उनकी लड़की के गर्भ से पैदा हुग्रा **'स्वरोचिषा'** जिसे दूसरा मनु करार दिया गया। मनु स्वयंभुवा के तीन लड़के उत्तम, तामस ग्रौर रेवत क्रमशः तीसरे, चौथे ग्रौर पाँचवे मनु हुए हैं। 'चक्षुषा' इस क्रम में छटे मनु हुए हैं जिन के पोते महाराज वीन को उस के ग्रत्याचारों के कारण लोगों ने गद्दी से उतार दिया, ग्रौर उस के लड़के पृथु को गद्दी पर बिठाया गया। यही राजा पृथु थे जिन के नाम पर इस भू-खण्ड को पृथ्वी कहा गया। महाराजा पृथु की पाँचवी पीढ़ी में राजा दक्ष हुए, जिन की लड़की का पोता वैवस्वत् वह मनु है जिस से वर्तमान मन्वंतर का ग्रारम्भ हुग्रा। मौजूदा दौर में मानव जाति का जन्म दाता यही **'वैवस्वत् मनु'** है ग्रौर इस से ग्राज का मानव वंश ग्रारम्भ होता है। पुराणों में जो वशावली ग्राई है वह वैवस्वत् मनु से ग्रारम्भ होती है। यही मनुमहाराज हैं जिन्हों ने उस समय की परिस्थितियों के ग्रनुसार वर्णाश्रम धर्म को स्थापित किया, शासन चलाने के लिए कानून ग्रौर ग्रसूल बनाए, तथा ऐसा विधान देश को दिया जिस के बलबूते पर भारत ग्रौर उन्नति की मंज़िलें तय करता हुग्रा ऐश्वर्य ग्रौर उन्नति के ग्राकाश पर उस समय चमकता रहा जब बाकी संसार के लोग सभ्यता ग्रौर संस्कृति के नाम से भी परिचित नहीं थे।

मनु वंश की उपर्युक्त वंशावली के ग्रनुसार किस मनु का घर मनाली में था, यह तो निश्चय से कुछ नहीं कहा जा सकता, वैसे पुराणों की ही व्याख्या के ग्रनुसार सप्त सिन्धु में सरस्वती तक के इलाके को ही **'ब्रह्म वर्त'** कहा गया है। ग्रतः ब्रह्मा की उत्पति ग्रौर इस से स्वयंभुवा मनु तथा ग्रन्य मनुग्रों का सीधा सम्बन्ध ब्रह्म वर्त में किसी जगह से भी हो सकता है, परन्तु वैवस्वत् मनु का किस्सा ग्रलग है। यह ग्रार्यों का पहिला राजा, मानव वंश का जन्मदाता ग्रौर ऋग्वेद का ऋषि भी हुग्रा है। ऋग्वेद में मनु का नाम इक्कीस बार ग्राया है। मनु का नाम लेने

*स्वयंभुवा का ग्रर्थ है स्वयं, ग्रपने ग्राप पैदा होने वाला।

वाले ऋषियों में भारद्वाज, गौतम, और कुत्स जैसे बहुत पुराने ऋषि हैं। बामदेव भी मनु का वर्णन करते हैं। गृत्समद और कश्यप ऋषि ने भी लिखा है कि मनु देवताओं के भक्त थे। ऋग्वेद की ऋचाओं (२/१४/१) तथा (१३/३३/२) में मनु को पिता लिखा गया है, जिस का अर्थ पूर्वज है। ऋग्वेद की सब से अधिक उल्लेखनीय ऋचाएं वे हैं जिन में भारद्वाज और कश्यप दस्यु लोगों पर मनु की विजय का वर्णग करते हैं (ऋग्वेद ११/२१/६ तथा ५/६२/६) यह दास या दस्यु लोग आर्यों के बड़े शत्रु थे जिन्होंने सप्त सिन्धु में साधारणतः और राहुल साँकृत्यायन के शब्दों में, काँगड़ा, कुल्लू के पहाड़ी इलाकों पर विशेषतः आर्य जाति का डट कर मुकाबला किया था। उपर्युक्त ऋचाओं में जब मनु का वर्णन दस्यु लोगों पर विजय के सिलसिले में आता है, तो सिद्ध हो जाता है कि मनु का मुकाबला इन से उक्त पहाड़ी इलाकों में ही हुआ है, और मनु का घर भी निस्सन्देह इसी पहाड़ी इलाके में था, और उसी को मन्वालय कहा गया जो आज की मनाली है। इस की पुष्टि ऋग्वेद की ऋचा (६/४५/५) से भी हो जाती है, जिस में कहा गया है कि **'मनु ने विशि शिप्र को जीता'**। यह विशि शिप्र कौन था? इस के बारे में निश्चय से तो कुछ नहीं कहा जा सकता कि यह कोई दस्यु था या आर्य, परन्तु हो सकता है कि विशि शिप्र से बिगड़ कर या उस का संक्षिप्त शब्द शिपी बन गया हो। यह शिपि लोग आज भी लाहुल की वादी में एक हरिजन बरादरी के रूप में जीवित हैं। जिस तरह स्पिति को लोग पिति कह देते हैं, उसी तरह विशि शिप्र शब्द को संक्षेप में शिपि भी कहा जा सकता है। यह शिपि लोग रूप-रंग और बोल–चाल से आर्य लगते हैं, और सच-मुच ये हैं भी प्राचीनतम आर्य जाति की एक बची हुई निशानी, परन्तु ज़माने की किसी घटना ने और इतिहास की किसी ठोकर ने कब उन्हें हरिजन बना कर रख दिया, यह कुछ मालूम नहीं। विशि शिप्र आर्य भी हो सकता है, जिसे मनु ने विजय किया हो। हर हालत में कुल्लू की वादी से मनु का सम्बन्ध और यहाँ उस का घर होना सिद्ध हो जाता है। यदि उपर्युक्त व्याख्या को स्वीकार कर लिया जाए, और मन्वालय को मनु का घर मान लिया जाए, तो व्यास के किनारे मनाली के स्थान से वर्तमान मानव वंश का आरम्भ स्वीकार हो जाने से मानव की इस उत्पत्ति को हम ऋषि बाम देव गौतम के अनुसार रोशनी की पहली किरण ही मान लेंगे, और तब यह गर्व और महानता कुलूत देश को ही प्राप्त होते हैं कि यहाँ से वर्तमान मानव वंश का आरम्भ हुआ। मनाली में मनु जी का

प्राचीन मन्दिर आज भी स्थानीय लोगों का धार्मिक केन्द्र है और वह मनु को ऋषि और देवता के रूप में आज भी मानते हैं, उस की पूजा करते हैं। मनु के एक लड़की और आठ लड़के थे। लड़की का नाम इला था। इला की संतान को ऐल कहा गया। और यही ऐल वंशी बाद में चन्द्र वंशी राजपूत कहलाये। इसी शब्द ऐल के आधार पर ही मनाली से थोड़ी दूर व्यास के बांएं किनारे आज भी **अलेऊ** नाम का गाँव है, जो निश्चय ही इला नाम से सीधा सम्बन्धित है। इसी गाँव के प्राचीनतम देवता का नाम **'सृष्टि नारायण'** है। बात ध्यान देने योग्य है कि मनु जी का स्थान मनाली में और उससे थोड़ी ही दूर उन की लड़की इला का स्थान **'अलेऊ'** में है, और फिर यहाँ के सब से पुराने देवता का नाम **'सृष्टि नारायण'** है। इस तरह इतिहास से पहले के ज़माने की ये तीन कड़ियाँ एक स्थान पर अनुसारता और अनुकूलता से इकट्ठी हो जाएं और आज तक उसी तरह कायम हों तो यह विश्वास करने की गुंजाइश हो जाती है कि मनाली मनु का घर था, और यहाँ से सृष्टि रचना के सम्बन्ध से पास ही सृष्टि नारायण को आदि देवता मान कर उस का मन्दिर बनाया गया। अतः सृष्टि की रचना और मानव वंश के आरम्भ का जो सम्बन्ध हमारी कहानी से बनता है, उस से विपाश के किनारे उषा की पहली किरण गिरने की व्याख्या बहुत हद तक स्वीकार्य हो जानी चाहिए।

भाषा विज्ञान के अनुसार भी मनु का इस पहाड़ी प्रदेश से सम्बन्ध बहुत गहरा मालूम पड़ता है क्योंकि मनु शब्द का असल प्राकृत रूप 'माणूं' आज भी इस इलाके में मानव के लिए प्रयुक्त होता है। जनरल कनिंघम **आर्क्योलोजीकल सर्वे आफ इण्डिया रिपोर्ट खण्ड १४ पृष्ट १२५** (Archaelogical Survey of India Report Part XIV, P. 125) पर लिखते हैं कि हिमालय के सारे पहाड़ी प्रदेश में जो लोग बाद में आबाद हुए और जिन्हें कनैत या खस कहा गया, वे **'मोन'** कहलाते हैं। तिब्बती भाषा में भी मानव के लिए शब्द **'मोन'** प्रयुक्त होता है। **बंगाल एश्याटिक सोसाइटी** के जर्नल (खण्ड १ प्रष्ठ १२२) में भी इस बात की पुष्टि की गई है कि तिब्बत से समबद्ध हिमालय की तराई में आबाद लोगों को आम तौर पर **'मोन'** और उस पहाड़ी प्रदेश को **'मोन्युल'** कहते हैं। राहुल साँकृत्यायन भी इस बात का समर्थन करते हैं। यह शब्द **'मोन'** निश्चय ही मनु नाम का मामूली बदला हुआ रूप है। स्पष्ट है कि मनु का सीधा सम्बन्ध हिमालय और उस की तराई से है, और उस का मानव

वंश सब से पहले इस पहाड़ी आँचल और इस की उपत्यका में आबाद हुआ और उस के बाद यह रोशनी पश्चिम की ओर गई। प्रसिद्ध अंग्रेज़ इतिहासकार **मिस्टर वैल्ज़** (Mr. Wells) भी यह स्वीकार करता है कि उन के पूर्वज अर्ध नग्न रहते थे जो पूर्व की तरफ से आए और उन्होंने सारे यूरोप को आबाद किया। जर्मन के लोग तो नगारे की चोट से अपने आप को आर्यन कहते हैं। अतः वे भी मनु की सन्तान हैं। मनु की इस नसल को आज के इतिहासकार **इण्डोयोरोपियन** (Indo–European) अर्थात् **भारोपीय** नसल कहते हैं। अतः उपर्युक्त ऋचा के दूसरे भाग की व्याख्या भी इस खोज की रोशनी में बिल्कुल ठीक प्रतीत होती है कि रोशनी की पहली किरण व्यास के किनारे आ कर गिरी और फिर वह पश्चिम देश को गई।

हिमालय के दामन में वर्तमान मानव वंश के जन्म के प्रमाण में हम शतपथ ब्राह्मण की एक कहानी पेश करते हैं, जिसे बाद में महाभारत और मत्स्य पुराण आदि में भी दुहराया गया है। इस कहानी के आधार पर वर्तमान मानव वंश एक बहुत बड़े तूफान के बाद अस्तित्व में आया। हिन्दु शास्त्रों में इसे **'मनु की बाढ़'** कहा गया है, जो वास्तव में प्रलय से मिलती जुलती घटना थी, जब चारों तरफ पानी ही पानी हो गया था और पानी के अतिरिक्त कुछ नहीं था। कुछ धार्मिक पुस्तकों में इसे **तूफाने-नूह** कहा गया है। पश्चिम की कुछ और पुरानी कहानियों में स्थानीय अनुश्रुतियों के अनुसार इसे तोड़-मरोड़ कर पेश किया गया है। आँगल साहित्य में इसे 'दी ग्रेट डिल्यूज' (The Great Deluge) लिखा गया है। शतपथ ब्राह्मण में कहानी को यूं बताया गया है कि एक दिन जब मनु को हाथ धोने के लिए पानी दिया गया तो अकस्मात हाथों में एक छोटी सी मछली आ गई। वह मनु से कहने लगी कि भगवान के लिए मुझे बचाओ, मुझे फैंको मत, अन्यथा पानी में मुझे बड़ी मछलियाँ खा जाएंगी। यदि तुम मुझे बचाओगे तो मैं भी तुम्हें आने वाले एक बहुत बड़े भय से बचाने का वचन देती हूं। मनु ने मछली की बात सुनी, उन्हें उस पर दया भी आई और उस ने मछली को एक बरतन में डाल कर उसे पालना आरम्भ किया। जब मछली कदरे बड़ी हुई और बरतन में समाने के योग्य नहीं रही, तो उसे एक तालाब में डाला गया, जहाँ उस का और पालन पोषण होता रहा। बड़ी मछलियों से दूर भय से सुरक्षित वह मछली बढ़ती रही, और एक समय आया कि तालाब में भी

उसे तंगी महसूस होने लगी। तब उस ने एक दिन मनु से कहा कि "महाराज ! अब मुझे बेशक समुद्र में डाल दीजिए, अब मुझे कोई खतरा नहीं है। परन्तु एक बात याद रखिए कि शीघ्र ही इस पृथ्वी पर एक बहुत बड़ा तूफान आने वाला है। इस प्रलय काल से कोई भी चीज़ जानदार अथवा बेजान, चल अथवा अचल बच नहीं सकेगी। इस लिए आप एक बड़ी सी नाव बनवालो। जब पानी पूरी तेज़ी से चढ़ना आरम्भ हो जाए तब इस नाव में सवार हो जाना। सप्त ऋषियों को भी इस में अपने साथ रखना, तथा सृष्टि की हर चीज़ को बीज रूप में सुन्दर ढ़ंग से इस में सुरक्षित रखना। नाव को मेरे इस बड़े सींग के साथ मज़बूत रस्से से बाँध देना, तब मैं आप की रक्षा करूंगी।" मछली को समुद्र में डाल दिया गया। नियत समय पर प्रलय का पानी चढ़ना आरम्भ हुआ। निश्चित कार्य क्रमानुसार मनु सप्त ऋषियों के साथ किश्ती पर सवार हो गए। नाव का मज़बूत रस्सा मछली के सींग के साथ बाँध दिया गया और वह मछली उस नाव को खींचती हुई तेज़ी से पानी को चीरती, डोलती और डगमगाती हिमालय की ओर चल पड़ी। आखिर यह तूफान थमा.........जलप्रलय का पानी धीरे-धीरे ठहरायों पर आने लगा। हिमालय के एक उच्चतम स्थान पर जा कर मनु की नाव खड़ी हुई। यहाँ वह उतरा। लिखा है कि तूफान की भयानक बाढ़ ने हर वह चीज़ अपने वक्ष: स्थल में ले ली जो भी उस की लपेट में आ गई। ऊपर आकाश था, बीच में प्रचण्ड और तेज़ हवा थी, और नीचे ठाठें मारता हुआ अथाह समुद्र। केवल मनु बचा और उस के साथ उस के साथी......सप्त ऋषि तो उतरते ही हिमालय की चोटियों पर तप करने चले गए। अकेला मनु चकित और निस्तब्ध पानी उतरने के साथ साथ हिमालय की तराई की तरफ उतरने लगा। उत्तरी पहाड़ की इस तराई को आज भी **मनुरावलरणम्** कहते हैं। और जिस स्थान पर यह नाव बाँधी गई उसे **नावबन्धन** कहते हैं। इसी दृष्य को सामने रखते हुए कामायनी महाकाव्य इस प्रकार प्रारम्भ होता है :—

हिम[1] गिरि के उत्तुंग शिखर पर बैठ शिला की शीतल छाँह।
एक पुरुष भीगे नयनों से देख रहा था जल प्रवाह'।

... ...

1. हिम गिरी नाम का ग्राम आज कल भी चम्बा ज़िला में है। कामायनी के अनुसार मनु यहाँ भी उतरा होगा।

भगवत पुराण के अनुसार हिमालय के जिस पहाड़ पर मनु की नाव जा लगी थी, और जहाँ से उस ने उतरना आरम्भ किया था उसे **'हिमावत'** कहते हैं। विश्वास से नहीं कहा जा सकता कि हिमावत हिमालय की किस चोटी का नाम है। परन्तु कुल्लू वादी में **हामटा** नाम की चोटी मनाली से कुछ मील की दूरी पर और काफी ऊंचाई पर स्थित है। हामटा को हिमावत का बिगड़ा हुआ शब्द मानने में भी कोई कठिनाई नहीं आनी चाहीए। इतना सा अन्तर तो प्रायः बोलने में आ जाता है। हेमकोट और हामटा साधारण अन्तर के सिवाए मिलते जुलते से शब्द हैं। खैर, हिमावत कोई भी स्थान हो, मनु की नाव जहाँ कहीं भी जा लगी हो, कहीं से भी उस ने पानी के साथ उतरना आरम्भ किया हो, और वह कहीं भी आ कर रुकी हो, इतनी बात तो बिल्कुल स्पष्ट है कि एक स्थान हिमालय की चोटियों में ऐसा था जहां प्रलय के पानी ने पहुंच कर मनु की सृष्टि को समाप्त कर दिया, और फिर पानी उतरने के बाद हिमालय की तराई में ही एक स्थान ऐसा था जहाँ बैठ कर मनु ने तप किया। तप के ज़ोर से ही श्रद्धा या कामायनी नाम की इस्त्री पैदा हुई और तब मनु की नई सृष्टि का आरम्भ हुआ......एक भयानक प्रलय के बाद......इसी भयानक प्रलय को ऋषि वामदेव गौतम ने उपर्युक्त विचाराधीन ऋचा में **"उषा का चूर चूर हुआ शकट"** कहा है। प्रलय ने कितना समय लिया होगा, और इस सारे समय में उषा को अपने रथ पर सवार हुए कितना सफर और कितनी प्रतीक्षा अपने प्रकट न के लिए करनी पड़ी होगी। प्रलय की इस भयानक लम्बी और अंधेरी अवधि के बाद जब सवेरा हुआ तो प्रकाश की पहली किरण व्यास के किनारे आ पड़ी, नई सृष्टि का आरम्भ हुआ और वर्तमान मानव वंश व्यास के किनारे या आस पास के पहाड़ी क्षेत्र से आरम्भ हुआ और फिर वह पश्चिम की ओर भी बढ़ता और फैलता गया।

कुल्लू वादी में......व्यास के बाएं तरफ के भू-खण्ड को स्थानीय अनुश्रुति के अनुसार **"कुलान्तपीठ"** कहते हैं। संस्कृत व्याकरण के अनुसार **'कुलान्त'** दो शब्दों का संयोग है **'कुल+अन्त'** और इस का अर्थ है, **'कुल का अन्त'** या **'वंश का अन्त'**। **डाक्टर हीरा चन्द शास्त्री आर्क्योलोजीकल सर्वे आफ इण्डिया रिर्पोट १९०७-८** (Archaelogical Survey of India Report 1907-8) में लिखते हैं कि कुलान्तपीठ के उत्तर में व्यास ऋषि आश्रम और दक्षिण में **बन्धक** या **बन्धन** नाम का पहाड़

स्थित है। अब प्रश्न पैदा होता है कि इस भू-खण्ड में जो व्यास नदी के पूर्व में लगभग तीस मील चौड़ा और नव्वे मील लम्बा है किस वंश का अन्त हुआ। इस सम्बन्ध में कोई ऐतिहासिक रिकार्ड तो हो ही नहीं सकता, हाँ, कुलान्तपीठ का ऊपर कथित सीमा-क्षेत्र निस्सन्देह हमारी खोज में सहायता करता है। यह बन्धन पर्वत जिसे कुलान्तपीठ के दक्षिण में कहा गया है, निस्सन्देह वह पर्वत है जिस का सम्बन्ध उपर्युक्त मनु की प्रलय से है और जहाँ आ कर मनु की नाव किनारे लगी। इस पहाड़ को आज भी **'नावबन्धन'** कहते हैं और यह गढ़वाल में स्थित है। नाव-बन्ध' बन्धन या बन्धक पर्वत तक प्रलय का पानी चढ़ा जिस का स्पष्ट अर्थ यह हुआ कि समुंद्रतल की जिस ऊंचाई पर यह पर्वत है उस सतह तक हिमालय के सारे दामन में सबजगह पानी चढ़ा। तब स्पष्ट है कि कुलान्तपीठ की इन सारी चोटियों तक पानी उभरा और पानी की इस अन्तिम सीमा तक का अन्त हो गया। इसी अन्तिम सीमा तक मनु का मानव वंश उस समय आबाद होगा जिसका इस प्रलय में नाश हो गया और तब कुलान्तपीठ का क्षेत्र नावबन्धन तक फैला हुआ होगा। ठीक इसी बिना पर इस भू-खण्ड को **कुलान्तपीठ** कहा गया। इसी कुलान्त पीठ में तथा आस पास के पहाड़ी इलाकों में मनुष्य को **'माण्हु'** कहते हैं। यह प्राकृत का शब्द है, जो संस्कार के बाद संस्कृत का शब्द **'मानव'** या **'मानुष'** बना। इन पहाड़ी इलाकों में **'माणष'**, **'माण्हूं'** और **'मोणष'** शब्द भी आदमी के लिए प्रयुक्त होते हैं। हिमालय की तराई में **'मोन'** शब्द भी आदमी के लिए प्रयोग में लाया जाता रहा है, और अब भी लाया जाता है। ये सभी शब्द **'मनु'** से निकले हैं और आज तक ज्यों के त्यों बरते जा रहे है। सिद्ध होता है कि मनु के कुल का जहाँ अन्त हुआ, लग-भग उसी भू-खण्ड के आस पास की तराई में फिर से मानव सृष्टि का आरम्भ हुआ।

मनु की पिछली नसल के अन्त को ही ऋषि बामदेव गौतम ने उषा के चूर चूर-रथ से उपमा दी है। रोशनी के चूर-चूर होने का अभिप्राय अंधेरा होना है और इस से बड़ा अंधेरा क्या हो सकता है कि प्रलय में एक मानव वंश और मानव सभ्यता तथा संस्कृति का नाश हो जाए, और फिर रोशनी का वह चूर-चूर हुआ रथ विपाश के किनारे आ कर गिरा। रथ गिर पड़ा, रोशनी प्रकाशित हुई, अर्थात मानव वंश का अगला दौर आरम्भ हुआ, और वह रोशनी का दौर फिर पश्चिम देश की तरफ

गया। भाषा विज्ञान इस का स्पष्ट प्रमाण है कि अंग्रेजी में तथा पश्चिम की बहुत सी भाषाओं में कुछ भिन्नता से **पुरुष** को **'मैन'** (Man) कहा जाता है और स्त्री को **'वोमेन'** (Woman)। यह शब्द निस्सन्देह मनु से सम्बन्धित तथा **'मनु'**, **'माण्हूं'** और **'मोन'** से मिलता जुलता है, जो सिद्ध करता है कि मनु का मानव वंश बाद में पश्चिम में जा कर फैला और आज तक मनु नाम की बिना पर आदमी को **'मैन'** (Man) कहा जाता है। यह बात स्पष्ट है कि पूर्व तथा पश्चिम का मानव वंश निस्सन्देह मनु की ही सन्तान है।

ऋग्वेद काल के दूसरे दौर में विपाश का वर्णन जिस ऋचा में आया उस की व्याख्या विभिन्न पहलुओं पर गहरे विचार से की गई। इतिहास के ये दौर इस कदर कल्पना से दूर हैं, और इस का चित्रण इतना धुन्धला है कि कोई भी दावे से किसी घटना को प्रमाणित नहीं कर सकता और न सच्चाई का दावेदार बन सकता है। कवि के शब्दों में—

हर नजर बस अपनी अपनी रोशनी तक जा सकी।
हर किसी ने अपने अपने जरफ[1] तक पाया इसे ।।

केवल परिस्थितियों और घटनाओं का अध्ययन और विभिन्न पहलुओं से परीक्षण ही इतिहास के इन भूले बिसरे अध्यायों की ओर कुछ अनजाने से इशारे करता है और उन इशारों से जो हम समझ पाए हैं और परिणाम निकाल सके है, वे पाठकों के समक्ष प्रस्तुत कर दिये हैं। किसी पर इन परिणामों व निष्कर्शों को स्वीकार करने या इन से इन्कार करने की पाबन्दी नहीं है। हाँ, हम अपने दृष्टिकोण पर पूरा विश्वास रखते हैं, और स्वीकार करते हैं कि कुलूत देश की कहानी से मनु का सीधा सम्बन्ध है। मनाली ही मनु का घर है, वह मनु जिस से वर्तमान मानव वंश का आरम्भ होता है। वह मनु जो आर्यों का पहला राजा माना जाता है, और जिस ने शासन के लिए कानून और असूल नियत किए......मनुष्य को सब से पहला संविधान दिया......सभ्यता और संस्कृति के चिराग रोशन किए जिसके प्रकाश में पूर्व से पश्चिम तक मानवता ने धीरे-धीरे और क्रम से प्रगति की मंजिलें पार कीं और कुलूत वह देश है जिस का

---

1. बरतन, भाण्ड।

मनु के सम्बन्ध से सृष्टि की रचना में तथा मानव वंश के आरम्भ और अन्त की कहानी में अपना एक स्थान है। यद्यपि आज की परिस्थितियों में इस इलाके के पिछड़ेपन को दृष्टि में रखते हुए कोइ भी यह विश्वास करने का साहस न करेगा। परन्तु इन तथ्यों को स्वीकार करना पड़ेगा कि रोशनी की पहली किरण व्यास के किनारे अवश्य पहले पड़ी...... मानवता ने यहाँ आँख खोली......सभ्यता ने यहाँ पहली अंगड़ाई ली। आर्य लोग सृष्टि के आरम्भ में हिमालय के इस दामन में आबाद थे। यहाँ उन्होंने प्रगति की मंज़िलें तय कीं। इन का मुकाबिला कोल, किरात, राक्षस, असुर, पिशाच, बेताल, नाग और दानवों जसी जातियों से हुआ, जिन के किस्से और कहानियाँ आज भी घर घर में प्राय: प्रचलित हैं। मानव वंश के इन आर्य ऋषियों ने प्रगति की दौड़ में पीछे रहे हुए दास या दस्यु लोगों का भी मुकाबला किया और उन्हें पराजित कर के वे फूले-फले। यहाँ उन्हों ने तप और साधना की, और यहाँ से धीरे-धीरे सप्त सिन्धु के मैदानों में बढ़ते गए। जब लड़ाई-झगड़े से थक जाते तो आराम करने और तप और भक्ति के लिए फिर हिमालय के दामन में आ जाते, और समय पड़ने पर फिर अपने जनपदों के मार्ग-दर्शन करने के लिए सप्त सिन्धु के मैदानों में जा कर युद्ध के लिए तैयार हो जाते। विपाश और उषा का शकट इस कहानी को प्रमाणित करते हैं।

कुलूत राज शम्बर—

अब हम ऋग्वेद काल के तीसरे दौर में दाखिल होते हैं। खेती बाड़ी और पशु पालन के साथ साथ आर्य लोग अब जंगजू और विजेता के रूप में सप्त सिन्धु में छा गए थे। सप्त सिन्धु और सिन्धु वादी के मैदानों में जो लोग उन के मुकाबले में थे, उन्हें वे समाप्त कर रहे थे इन के विभिन्न कबीले विभिन्न स्थानों पर कब्ज़ा जमाने में व्यस्त थे। भरतगणों का राजा था दिवोदास और उस का मुकाबला था शम्बर नाम के दस्यु राजा से। भरतगण आर्यों का वह कबीला था, जो उस समय रावी और सतलुज व्यास के पहाड़ी क्षेत्रों में आबाद था, और इन्हीं पहाड़ियों में उस का मुकाबला था शम्बर से जिस के वहां पर सौ मजबूत पत्थरों और धातुओं के दुर्ग थे। दस्यु लोगों का मार्ग-दर्शन और भी कई छोटे-मोटे दस्यु जर्नैल करते थे। परन्तु शम्बर इन में सब से अधिक बलशाली था जो दिवोदास. को लोहे के चने चबवा रहा था। श्री राहुल

साँकृत्यायन के विचारों के अनुसार भी शम्बर काँगड़े के पहाड़ी किलों का मालिक था, बल्कि राहुल तो शम्बर को वह जालन्धर राक्षस मान लेने में कोई आपति नहीं समझते जिस के नाम पर व्यास से दक्षिण पश्चिम का इलाका जालन्धर पीठ कहलाता है और जिस के नाम पर आज भी जालन्धर शहर स्थापित है। बहर-हाल चालीस वर्ष तक शम्बर और उस के पहाड़ी दास लोगों ने दिवोदास और उस के भरतों का मुकाबला किया। आखिर शम्बर मारा गया। सिवाए एक के शेष निन्यानवे दुर्ग नष्ट हुए। जिस एक को दिवोदास ने अपने लिए रखा, वह हो सकता है कि काँगड़ा का ही यह किला हो जो उन्नीसवीं सदी तक भी अजेय समझा जाता था, और जो अपने में एक रहस्य......एक दम सुन्दर और उदासीन कहानी छिपाए हुए है।

ऋग्वेद की ऋचाओं में शम्बर युद्ध और दिवोदास की विजयों का वणन भरा पड़ा है।

भारद्वाज, वसिष्ठ और बामदेव सभी ऋषिओं ने इस सम्बन्ध में इन्द्र देवता के सिर इस विजय का सेहरा लगाने के लिए ऋचाएं कहीं हैं। इन से पता चलता है कि शम्बर पहाड़ों में रहने वाला दस्यु राज था (ऋग्वेद ५/२६/६) तथा यह कि चालीस वर्षों में उसे मारने में आर्यों को सफलता मिली (ऋग्वेद ११/१२/२) एक ऋचा में लिखा है कि हे इन्द्र—वह सोम तुम्हारे लिए छना हुआ हाज़िर है, जिस के नशे में तुम ने दिवोदास के लिए शम्बर को मारा (ऋग्वेद १/४३/६)।

शम्बर कौन था ? इस के बारे में विभिन्न मत हैं। ऋग्वेद के अनुसार वह दस्यु तो था ही, परन्तु दस्यु तो उस समय हर उस आदमी को कहा जाता था जो आर्य नहीं था, जो आर्यों की संस्कृति को स्वीकार करने के लिए तैयार नहीं था, बल्कि आर्यों से कदम कदम पर टक्कर लेने का निश्चय किए हुए होता था, जिसे आर्यों से घृणा थी और शत्रुता थी। राहुल लिखते हैं कि शम्बर किरात जाति से था। किरात लोग हिमालय की तराई में नीचे तक फैले हुए थे। काँगड़े में बैजनाथ (वैद्यनाथ) के प्रसिद्ध नगर का नाम **'किर ग्राम'** बताया जाता है अर्थात किरात गाँव। एक समय इतिहास में ऐसा भी आया है ज़रुर जब हिमालय के दामन में पूर्णतया किरात लोगों का शासन था। परन्तु शम्बर का किरात होना

"विकास और उन्नति की ओर मानव का पहला पग"

प्रमाणित नहीं होता। बल्कि ऋग्वेद की एक ऋचा हमें काल्पनिक आधार से ऊपर उठा कर एक और तथ्य की ओर ले जाती है। शम्बर कौन था यह मालूम करने के लिए ऋषि वाम देव ही हमारी सहायता को आते हैं। ऋग्वेद की ऋचा (१४/३०/४) में वह लिखते हैं कि इन्द्र ने दास '**कोलितर शम्बरम्**' को बड़े पर्वतों के अन्दर मारा।

बड़ा पर्वत तो हिमालय ही कहलाता है। परन्तु सप्त सिन्धु में हिमालय की कल्पना तो सात नदियों के अन्तरगत पर्वत तक ही सीमित थी बल्कि किस्सा तो केवल रावी, सतलुज और व्यास की पहाड़ी वादियों का है, जहाँ शम्बर से दिवोदास का टकराव होता रहा। इस लिए अवश्य ही वह बड़ा पर्वत भी काँगड़ा की पृष्ठ पर खड़ा **धौलाधार**[1] का भाग और उस से परे का पहाड़ ही हो सकता है, जिस में हिमालय की अन्दरुनी लाइन (Inner Himalaya) में लाहुल स्पिति का इलाका हो सकता है। बहरहाल शम्बर इधर ही कहीं वाह्य या आन्तरिक हिमालय में रहता था, जो उक्त ऋचा से स्पष्ट होता है, और साथ ही उसे 'कोलितर' लिख कर ऋषि वामदेव ने यह समस्या भी हल कर दी है कि वह कौन था। वर्तमान कुल्लू को प्राचीनतम समय में '**कोलूत**', '**कौलूत**' और '**कुलूत**' कहा जाता रहा है। कुलूत देश के रहने वाले को '**कोलित**' कहा जाना बिल्कुल विश्वासनीय है क्योंकि जिस कोल जाति के नाम से ये शब्द सम्बन्धित हैं, उस जाति के लोगों को हिमालय की तराई में प्रायः कोली या कोलटा आज भी कहा जाता है। कोलित और कोलटा में साधारण उच्चारण का अन्तर है। अतः कोलितर शम्बर का साफ और स्पष्ट सा अर्थ है वह शम्बर जो कोलित है अर्थात कोल या कोलटा है। कोलूत या कुलूत देश का निवासी होने पर भी शम्बर को कोलित कहा जा सकता है। जैसे कुल्लू के लोगों को आज भी बाहर के लोग बिना जात-पात के भेद-भाव के कोले कह कर पुकारते हैं। शब्द 'कोलितरम्' सम्भवतः अधिक घृणा की दृष्टि से कहा गया हो, क्योंकि आर्यों की दृष्टि में शम्बर से अधिक घृणित कौन रहा होगा, जिस ने चालीस वर्ष तक दिवोदास के दाँत खट्टे किए। यह भी स्पष्ट है कि किसी समय कोल जाति भी हिमालय की सारी तराई में दृढ़ता से स्थापित थी, और आर्यों की विजय ने इन्हें बाद में वही कुछ बना कर रख दिया, जो एक विजेता जाति पराजित जाति को प्रायः बना देती है।

1. धवलगिरि।

इस में भी शक नहीं कि कुलूत को अपना नाम केवल कोल जाति के कारण मिला है और सब से पहला कौल राजा जिस का वर्णन ऋग्वेद की उक्त ऋचा में आया है शम्बर था। चूंकि शम्बर को इस ऋचा में कोलितर कहा गया, जिस का स्पष्ट अर्थ यह है कि वह कुलूत देश का राजा था। उस समय कुलूत देश निस्सन्देह बहुत बड़ा होगा, जो अब सिमट सिमटा कर केवल कुल्लू तक सीमित हो गया है, अन्यथा तीसरी सदी ईसवी पूर्व तक भी कुलूत की गणना काशमीर जैसे बड़े राज्यों के साथ होती थी, जैसा कि मुद्राराक्षस नाटक में आए विवरण से सिद्ध है। कोलितर शम्बर की खोज से कुलूत ने ऋग्वेद में अपनी जगह तलाश कर ली। यह वह अन्तिम स्थान एतिहासिक अनुश्रुतियों में कुलूत को प्राप्त हो रहा है जिसे एक जनून ही मालूम कर सकता है, और ऐसी ही स्थिति पर किसी कवि ने कहा है—

जहाँ जाते हुए बालो-परे जबरील जलते हैं,
खबरदार ऐ जनू शायद वोही मुश्किल मुकाम आया।

परन्तु यह मुश्किल मुकाम नहीं है, हाँ मुश्किल से तलाश हुआ है, और इस तलाश से उषा के शकट की बात एक बार फिर प्रमाणित हो जाती है। चालीस वर्ष के लगातार टकराव के बाद कुलूत राज शम्बर को पराजित करना आर्य जीवन और आर्य संस्कृति के लिए निस्सन्देह प्रकाश की पहली किरण थी, जो व्यास के किनारे सब से पहले पड़ी। इस चालीस वर्ष के संघर्ष और भयानक लड़ाई-झगड़े को भी उषा का चूर-चूर हुआ रथ माना जा सकता है। शम्बर की पराजय कहीं व्यास के किनारे ही हुई होगी।

दाश राज्ञ—

दिवोदास के समय में आर्य जाति काफी मज़बूत हुई। यद्यपि दस्यु लोगों को काफी हद तक कमज़ोर कर दिया गया था, फिर भी कहीं कहीं वह लोग इकट्ठे हो कर शक्ति का प्रदर्शन कर लेते थे, और फिर आर्य लोगों के लिए खतरा बन जाते थे। दोनों जातियों में सघर्ष तो जारी था ही, अब दिवोदास के बाद आर्य गणों में आपस में भी हल्के फुल्के टकराव होने लगे। इधर शम्बर का लड़का भेद जिसे ऋषि विश्वामित्र

ने पाला था, अपने बाप का बदला लेने के लिए अपनी शक्ति संगठित करने लगा। दिवोदास का लड़का सुदास अपने पिता के समान ही बहादुर और साहसी था। दिवोदास ने सिन्धु से सरस्वती तक और हिमालय की वाह्य और आन्तरिक घाटियों में जो अधिकार जमाया था उसे बहाल रखना अब सुदास की ज़िमेदारी थी। दिवोदास ने सारे सप्त सिन्धु के आर्य गणों में एकता स्थापित करने के लिए जीवन भर जान लड़ाई और वह अपने शासन काल में उस में सफल भी रहा, परन्तु दुर्भाग्यवश दिवोदास के मरने के बाद आर्य जनपद इस के लिए तैयार न हो सके।

जिस समय सुदास ने शासन कार्य सम्भाला उस समय वसिष्ठ और विश्वामित्र दो बड़े मार्गदर्शक नेता थे। दिवोदास के समय जो गौरव ऋषि भारद्वाज को प्राप्त था, वह अब विश्वामित्र को हासिल हुआ जो सुदास का पुरोहित नियत हुआ। विद्वता के कारण सारे सप्त सिन्धु में वसिष्ठ की धाक थी। ऋग्वेद में उन्हें "**शत यातु**" अर्थात् सौ जादू जानने वाला भी कहा है। विश्वामित्र राजा गाधि का पुत्र था। यद्यपि क्षत्रिय वर्ण से था, परन्तु विद्या और अध्यात्मिकता में किसी ब्रह्मण ऋषि से कम नहीं था। इन दोनों नेताओं के विचारों में सैद्धान्तिक रूप से कुछ मतभेद पैदा हो गए। विश्वामित्र चाहता था कि यदि दस्यु लोग आर्य देवताओं की शरण में आ जाऐं, और आर्यों के सामाजिक तथा शिष्टाचार के नियमों को ठीक ढंग से अपना लें तो उन्हें अपनी जाति के क्षेत्र में स्वीकार कर लिया जाए। परन्तु वसिष्ठ इस के विरुद्ध थे। उनका विचार था कि आर्य जाति ने यदि फैलना है, और उसे दृढ़ता से अपने कदम जमाने हैं तो उस के नियमों में ढील देने की नीति की गुंजाइश नहीं होनी चाहिए। आर्यों का रक्त शुद्ध रहना चाहिए और पूरे संस्कारों के बिना दासों को अपने में शामिल नहीं करना चाहिए। वह सच्चाई के मुकाबले में झूठ, कपट और बेइमानी से सुलह करने को तैयार नहीं थे। दोनों नेताओं के बीच इस असूली टकराव के अतिरिक्त एक और घटना इस प्रकार पेश आई कि सुदास ने भी विश्वामित्र के विचारों से असहमति रखते हुए उन्हें पुरोहित के पद से वंचित कर दिया। उस ज़माने में राजा का पुरोहित ही उस की सेना का सेनापति भी हुआ करता था। अतः विश्वा मित्र अब सुदास के सेनापति भी न रहे और उनकी जगह वसिष्ठ को पुरोहित नियुक्त किया गया। इस घटना ने जलती पर तेल और घाव पर नमक का काम किया। चाहे सुदास ने वसिष्ठ को उन की महान

विद्वता और अध्यात्मिक प्रवरता से प्रभावित हो कर ही अपना पुरोहित बनाया हो, परन्तु स्वभाविक रूप से विश्वामित्र उस से भड़क उठा। ज़िद्दी आचरण तो पाया ही था, विश्वामित्र ने अपनी टेक के लिए बदला लेने की ठान ली, और दस आर्य जनपदों के दस राजाओं को एकत्रित कर के सुदास के विरुद्ध विद्रोह कर दिया। दस राजाओं की इस लड़ाई को ही ऋग्वेद में '**दाश राज्ञ**' का नाम दिया गया है, जिस का वर्णन हम अब कर रहे है।

इन दस जन पदों में पाँच जनपद पुरु, यदु, तुर्वसु, अनु और द्रुह्यु बड़े थे, और बाकी पाँच अलिन, पक्थ, भलानस, शिव और विशाणी छोटे जनपद थे। पुरु जनपद बहुत पहले परुष्णी (रावी) के पूर्व में रहता था। ऋग्वेद काल में उस की कई शाखाएं हुई। जिन में भरत, तृत्सु और कुष्क हमें मालूम हैं। कुष्क जनपद के नेता विश्वा मित्र थे। सुदास पुरुभरत कहलाते थे। तृत्सु और भरत लोग पहले कभी आपस में नहीं बनते थे, परन्तु अब सुदास द्वारा राज्य अधिकार सम्भालने पर भरत और तृत्सु एक हो गए। परन्तु असल पुरुजन उस समय तक अपनी ही शाखा अर्थात् भरत तृत्सुओं से इतने कट चुके थे कि सुदास के विरुद्ध विद्रोह करने में वे सब से आगे थे।

भरत जनपद भी पहले रावी के किनारे ही आबाद था। फिर ऋग्वेद काल के दूसरे दौर में वह विपाश और शतद्रु तक बढ़ा। आखिर तीसरे दौर में सरस्वती और यमुना तक उस का फैलाव हुआ। यही भरत जनपद था जिस के नाम पर हमारे देश का नाम भारत पड़ा। तृत्सु जनपद विपाश और शतद्रु (व्यास और सतलुज) की वादियों में आबाद था, जिन में काँगड़ा कुल्लू के इलाके विशेषत: शामिल थे। यह इस बात से भी स्पष्ट होता है कि शब्द तृत्सु से मिलते कितने ही स्थानों के नाम आज तक काँगड़ा और कुल्लू में हैं—जैसे भागसु, जालसु, बोड़सु, झाड़सु, धौमसु, रुमसू, अरसु, छारशु, नीरशु, बौणसु आदि। यही नहीं बल्कि केन्द्रीय एशिया में भी एक स्थान अकसु नाम से है, जो सम्भवत: तृत्सु जनपद के प्रभाव और अधिकार की कोई भूली बिसरी कहानी हो। तृत्सु जनपद के अधिष्ठाता वसिष्ठ थे। शायद इसी लिए कुल्लू और इर्द-गिर्द के दूर-दूर के इलाकों तक वसिष्ठ आश्रम की मान्यता और महानता आज तक कायम है। यहाँ तक कि कुल्लू भर के देवता इस तीर्थ स्थान पर जा

कर स्नान करना और श्री वसिष्ठ जी को श्रद्धा और आदर स्मर्पण करना अपना कर्तव्य समझते हैं।

पाँच बड़े जनपद जिन को पंचजन भी कहते हैं, वितस्ता (जेहलम) के पूर्व की ओर सप्त सिन्धु में आबाद थे, और छोटे पाँच जनपद जेहलम और सिन्धु नदी के पश्चिम में दूर अफगानिस्तान, काबलिस्तान और काफरिस्तान में रहते थे, और ये सुदास के कट्टर शत्रु थे। दाशराज्ञ लड़ाई परुष्णी (रावी) के पूर्वी किनारे पर लड़ी गई। प्रतीत होता है कि पाँच छोटे जनपदों ने रावी पार करके भरत तृत्सुओं के भू-खण्ड पर आक्रमण किया और उधर दक्षिण पूर्व से पाँच बड़े जनपदों ने उन पर धावा बोल दिया, और परिणाम स्वरुप सुदास चारों ओर से घिर गया। ऋग्वेद की ऋचा (८/८१/७) के अनुसार वसिष्ठ इस बात को प्रमाणित करते हैं और लिखते हैं कि दाश राज्ञ में चारों ओर से घिरे सुदास की इन्द्रवरुण ने सहायता की। सम्भवत: इस अवस्था पर ऋग्वेद की रचना में उन ऋचाओं का निर्माण हुआ, जिन्हें ऋग्वेद में काव्य मार्मिकता, साहित्य और कल्पना का सर्वश्रेष्ठ नमूना स्वीकार किया जाता है, और जिन का सीधा सम्बन्ध कुलूत देश और उस की लिखी जा रही कहानी से है, और जिन्हें सामने लाने के लिए हमें दाश राज्ञ की सारी पृष्ठभूमि ऊपर की पंक्तियों में वर्णन करनी पड़ी।

इन ऋचाओं में विश्वा मित्र ने विपाश और शतद्र से बड़े सम्मान और श्रद्धा से प्रार्थना की है **"कि उसे और उसकी सेनाओं को पार उतरने के लिए अपने पानी के बहाव को कम कर दें और इतना उतार दें कि वे सुविधा से दूसरी ओर जा सकें।"** यह प्रार्थना ऋग्वेद के मण्डल ३ सूक्त ३३ की ऋचा सं-१ से आरम्भ हो कर ऋचा सं-१२ पर समाप्त होती है। ऋषि विश्वामित्र और इन दोनों नदियों के बीच परस्पर वार्तालाप ऋग्वेद की वह साहित्यिक रचना है जिस की कोई भी अनुसंधान कर्ता प्रशंसा किए बिना नहीं रह सकता। प्रसिद्ध जर्मन विद्वान् **रीगोज़िन** (Rigozin) अपनी पुस्तक **'वैदिक इण्डिया'** में इस का यूं वर्णन करता है, वह लिखता है—

"यह ऐतिहासिक प्रलेख भी ऋग्वेद के दोष रहित काव्यात्मक सर्वश्रेष्ठ रचनाओं से एक है।" ऋषि विश्वामित्र और नदियों के

इस वार्तालाप के परिणामस्वरुप नदियों का पानी इस कदर नीचे उत्तर गया कि सेना सुगमता से पार उत्तर गई और तब वे दाश राज्ञ में शामिल हो सकीं। रावी के किनारे घमासान युद्ध हुआ। सुदास की सेना के दबाव की ताब न ला कर शत्रु भाग खड़े हुए। पुरु जनपद अपने बाकी साथियों समेत बुरी तरह पराजित हुआ। पुरुकुत्स तथा और राजे रावी में डूब मरे। सेंकड़ों सिपाही रावी की बाढ़ में बह गए। कुछ मारे गए, और कुछ भाग जाने में सफल हुए। लिखा है कि शत्रु के छियासठ हज़ार आदमी इस में काम आए।

दूसरी तरफ वसिष्ठ भी यह दावा करते हैं कि उनकी प्रार्थना पर इण्द्र ने नदियों को भरतों के लिए पारगम्य बना दिया ऋग्वेद (५/१८/७)। परन्तु हमें इस बहस में नहीं पड़ना है। दोनों ठीक हैं। दोनों सेनाओं ने अपने अपने समय और अपने अपने स्थान पर विपाश और शतद्रु को परिस्थिति के अनुमार पार किया। परन्तु यह सब हुआ दाश राज्ञ में भाग लेने के लिए, और दाश राज्ञ हुआ दो असूलों का फैसला करने के लिए। वसिष्ठ ने अन्ततः इस सम्बन्ध मैं अपने विचार संसार के सामने रखे हैं। उन्होंने कहा कि "**में मानवता के आधार पर समानता के सिद्धान्तों को मानता हूं। फिर भी याद मैं दाश-राज्ञ को शुरु न करता तो संसार अनार्यत्व को ही आर्यत्व समझ बैठता। झूठ को सच्चाई और बुराई को ही भलाई समझ लेता। तब आने वाली नसलों में बुराइयों के विरुद्ध लड़ने का साहस न होता।**' कितनी अनमोल सच्चाई है वसिष्ठ के इन शब्दों में, जो ऋग्वेद के रचना काल में कहे गए और फिर इन्हीं विचारों पर अमल किया भगवान् राम ने। इन्हीं को दृष्टि में रख कर अर्जुन को युद्ध के लिए तैयार किया भगवान् कृष्ण ने। अवतार, दार्शनिक, सुधारक और नेता सब इसी एक विचार को सामने रख कर जीवन में संघर्ष करते रहे। बुराइयों के विरुद्ध लड़ते रहे। **अब भी लड़ रहे हैं।**

दाश-राज्ञ से पहले भी लड़ाइयाँ हुईं, परन्तु उन में और दाश-राज्ञ में अन्तर है। पहली लड़ाइयाँ देवताओं और असुरों में हुईं, आर्य और दस्यु लोगों में हुईं, जो स्पष्टतः दो विभिन्न जातियों के बीच हुईं, और केवल एक दूसरे पर अधिकार प्राप्त करने के लिए हुईं। परन्तु दाश राज्ञ आर्यों के अपने ही बीच सिद्धान्त और विचारधारा की पहली लड़ाई थी, जिस में एक उच्च विचारधारा को जीवित रखने के लिग तलवार उठाई

गई। बुराई के विरुद्ध भलाई को स्थापित रखने के लिए युद्ध हुआ था, और यह हुआ उस समय जब आर्य संस्कृति ने अभी जन्म ही लिया था। आर्य सभ्यता ने अभी पहली अगड़ाई ली थी, जब आर्य संस्कृति पंख फैलाए एक लम्बी उड़ान भरने की तैयारी कर रही थी। आर्य संस्कृति के इस आरम्भिक युग में ही एक बुराई को स्वीकार कर लिया जाता तो सम्भवत: बुराई के विरुद्ध हाथ उठाने तथा उसे दमन करने का मानव जाति में साधारणतया तथा आर्यों में विशेषतया विचार ही पैदा न होता, और यदि यह विचार उस समय पैदा हो कर हमारे मन में जागृत न रहता तो संसार की अन्य जातियों की तरह हम भी युग की किसी एक चोट से ही कब के नष्ट हुए होते। हम यदि जीवित हैं......मानवता यदि जीवित है तो केवल इस विचारधारा के कारण जिस ने दाश राज्ञ को जन्म दिया। साराँश यह कि आर्यों में किसी गलत सिद्धान्त के विरुद्ध खड़े होने की भावना जागृत करने और स्थायी बनाने के लिए दाश-राज्ञ का होना आवश्यक था। परन्तु यह दाश-राज्ञ सम्भवत: न हो सकता यदि विपाश और शतद्रु ने विश्वा मित्र की प्रार्थना को स्वीकार न किया होता और वसिष्ठ की प्रार्थना के अनुसार इन्द्र ने इन नदियों को पारगम्य न बनाया होता। अतएव, इस विचार को संसार के सामने लाने में तो वस्तुत: विपाश और शतद्रु की कृपाएं छुपी हुई हैं, जिन्होंने दोनों ओर की सेनाओं को लड़ने के योग्य बनाया और भलाई को बुराई पर विजय पाने का अवसर प्रदान किया। इस लिए सब से अधिक यही सम्मानीय हैं विपाश और शतद्रु।......यदि सेतुबन्ध रामेश्वरम् ने भगवान् राम को रावण पर विजय पाने के योग्य बनाया तो अवश्यमेव विपाश और शतद्रु ने भी सेनाओं को रास्ता दे कर एक ऊँचे आदर्श की पूर्ति में सहायता की।

यदि गंगा के नाम से भारत की महानता बढ़ती है, और गाँधी के नाम से भारतवर्ष का नाम बड़ा होता है, और यदि सेतुबन्ध रामेश्वर को हम आज एक महान तीर्थ का दर्जा देते हैं, तो कोई कारण नहीं कि विपाश और शतद्रु के भू-खण्ड भी महान और पवित्र होने का दावा न करें, जहाँ से ये नदियाँ निकलती हैं और सप्त सिन्धु के मैदानों को हरा-भरा और हंसता-खेलता बना देती हैं। आज भी व्यास सतलुज प्रोजैक्ट और भाखड़ा बाँध इस बात का स्पष्ट प्रमाण हैं कि हर युग में इन्होंने देश को बहुत कुछ दिया है और देश को बनाने में बहुत कुछ किया है। दाश राज्ञ में बुराई के विरुद्ध संघर्ष का विचार दिया और आज देश वासियों को भूख और गरीबी से विमुक्त

करने के लिए रात दिन सक्रिय हैं, और कह रही हैं :—

> नक्शा है ये मोहताज[1] अभी जौके[2] नजर का।
> देना है इसे रंग अभी खूने जिगर का।
> हिम्मत का तक़ाज़ा[3] है कि दो चार कदम और।
> हुलिया ही बदलने को है हर दश्त[4] का दर[5] का।
> घबरा न अंधेरे में शबे[6] गम के मुसाफिर।
> तेरे लिए बेताब है आग़ोश[7] सहर[8] का।

अतः दाश राज्ञ ने जिस अमूल्य विचार को आर्यों के दिलों में हमेशा-हमेशा के लिए जागृत किया वह रोशनी की पहली किरण से कम नहीं है, और इस भयानक युग का उषा का चूर चूर हुआ शकट मान लें तो सुदास और वसिष्ठ की विजय को निस्सन्देह हमें आर्य जीवन के लिए रोशनी की पहली किरण निस्संकोच मान लेना चाहिए।

सृष्टि ने आँख खोली......वर्तमान मानव वंश का आरम्भ हुआ......चालीस वर्षीय लम्बे युद्ध के बाद आर्य सभ्यता ने अंगड़ाई ली......बुराई पर भलाई ने विजय पाई......आर्य संस्कृति आदर्शवाद के साँचे में ढलनी आरम्भ हुई.........

यह सब रोशनी की किरणे नहीं तो क्या हैं ? कुलूत देश की कहानी पर ये किरणें ऋग्वेद के अनुसार सम्बन्धित किस कोण से किस कदर रोशनी डालती हैं, तथा हमारी कहानी से इन घटनाओं का सम्बन्ध कहाँ तक स्पष्ट है यह निर्णय करना पाठकों का काम है।

---

1. जरूरतमंद, 2. देखने का शौक, 3. झगड़ा, आवश्यकता. 4. उजाड़, 5. दरवाज़ा, 6. दुख की रात, 7. गोद 8. प्रातःकाल।

आठवाँ अध्याय

इक जन जाए दूजा आए

फसले गुल* देखा किए, दौरे खिजाँ* देखा किए।
हम गुलिस्ताँ* में यही नैरंगियां देखा किए ॥
एक दिन भी चैन से गुजरा न ज़ेरे* आफताब*।
जिन्दगी भर हम जफाए* आसमाँ देखा किए ॥

आज के लोग

'**भारत के आदिवासी**' नाम की पुस्तक के लेखक श्री जनक अर्विन्द अपनी पुस्तक के पृष्ठ ६४ पर लिखते हैं कि "**प्रसिद्ध चीनी यात्री ह्यू नसांग की भारत यात्रा से सम्बन्धित लिखी गई रचनाओं में भी कल्लू का हाल काफी तफसील से मिलता है। उसके अनुसार उस समय काँगड़ा, मन्डी, सुकेत तथा काश्मीर का कुछ भाग इस कुल्लू राज्य में शामिल था।**" श्री जनक अर्विन्द की इस राय से यदि किसी को पूर्ण सहमति न भी हो तो भी इस बात से इन्कार नहीं किया जा सकता कि जब हम पहाड़ी प्रदेश के लोगों से सम्बन्धित उनके आरम्भ और अन्त का अध्ययन करते हैं तथा उनकी संस्कृति के बदलते हुए रूप देखते हैं, तो हमें कई परिस्थितियों में काशमीर से कुलूत, हिमाचल से गढ़वाल और नेपाल से आसाम तक के इस पहाड़ी दामन में एकता और समानता दिखाई देती है। ऐसा प्रतीत होता है कि यदि कभी किसी जगह से मानव वंश की एक बरादरी आगे बढ़नी और फैलनी आरम्भ हुई है, तो वह बढ़ती और फैलती ही चली गई है। और जब कोई लोग मरने मिटने शुरु हुए हैं, तो ऐसे मिटे हैं कि नाम निशान भी बाकी नहीं रह पाया है। ये घटनाऐं केवल यहीं नहीं हुई हैं बल्कि संसार के हर देश के इतिहास में ऐसा हुआ है। सँसार का कौनसा ऐसा देश है जहां के आदिवासी आज भूतकाल की एक कहानी बन कर न रह गए हों, जहां किसी विजेता जाति ने पराजित जाति को मिलियामेट करके न रख दिया हो, जहाँ एक शक्तिशाली कबीले ने कमजोर कबीले

*फूल। *पतझड़ का मौसम। *फुलवाड़ी। *नीचे। *सूर्य। *सख्ती

को पराजित करके उस पर शासन न किया हो और उसे आर्थिक लूट खसूट का निशाना न बनाया हो। अमेरिका के रेड-इण्डियन, अमरीका के नीग्रो, आस्ट्रेलिया के आस्ट्रिक, मध्य ऐशिया और मध्य यूरोप के देशों में यूनान, रोम और नील की वादी तक फैले हुए आर्यन आखिर मिट ही गए हैं, और मिटते जा रहे हैं। तब यही हाल हिमालय की तराई में एक के बाद दूसरी आबाद होने वाली नस्लों का भी हुआ है। यद्यपि हम कुलूत देश में आने जाने वाले लोगों का हाल लिख रहे हैं, परन्तु इस घटना को केवल कुल्लू तक सीमित नहीं किया जा सकता। इसकी लपेट में हिमालय की तराई का मुख्य भाग आ जाता है, जहां मानव-बन्धुत्व की लहरें फैलती और सुकड़ती सिमटती रही हैं।

आज कुल्लू पर हम नजर करते हैं तो यह हमें मानव बन्धुत्व का एक छोटा सा अजायब घर नजर आता है। यहाँ ब्राह्मण हैं, राजपूत है, सूद, महाजन, बैरागी, झीवर, कोली, डागी, चमार, भंगी, लुहार, डूमना, जुलाहा, नाई, धोबी, तेली, तरखान, कुम्हार, ठठियार, सब हरिजन या पिछड़ी जातियों में गिने जाने वाले छोटे बड़े कबीले हैं। यहाँ सुआँगले, बोध हिन्दू, सिख, ईसाई, इरानी, मुसलमान, गूजर, तिब्बती, काशमीरी, मण्डियाल, चम्बयाल तथा कांगडी सभी रहते हैं। छोटी छोटी घाटियों वादियों तथा इलाकों के आधार पर यहाँ के लोग लाहुले, पतियाल, गाहरी, पटनी, झेचे, बल्हिये, लगाल, रूपीयाल, कनौरे, सिराजी, टकरैत, और बुशहरे कहलाते हैं और समूचे रूप में बाहर के लोग कुल्लू के लोगों को 'कोले कहते हैं, जो वस्तुतः शब्द 'कोल' से सम्बन्धित है।

मि० जे० बी० लायल (Mr. J. B. Lyall) तथा जनरल कनिंघम ने कुल्लू राजाओं को प्रायः कोली राजा लिखा है, जिसका केवल अर्थ है कुल्लू के कोलों का राजा। कुल्लू में गाँवों के नाम पर भी बिना बरादरी, कबीला, जात-पात आदि के भेद के लोगों को पुकारा जाता है। उदाहरणार्थ मनाली के मनाले, वशिष्ट के बाशटे, शुरु के शराल और खनाल के खनाली, बरान के बरानी, करजाँ के करजाई, नगर के नगरीक, दशाल के दशालु, चजोगी के चगयाल, जाना के जंयाल[illegible], काइस के काइसु, भूइन के भूइनु, और सैंज के सैंजू, चेथर के चेथरु, शहर के रहने वाले शहरु या सहरु कहाते हैं। साराँश यह है कि हर एक गाँव के आधार पर वहाँ के रहने वाले को पुकारा जाता है, चाहे वह किसी भी बिरादरी या जाति से सम्बन्ध

रखता हो। और यदि हर खानदान के नाम पर यहां के लोगों की व्याख्या की जाए तो उसके लिए अलग एक पुस्तक की आवश्यकता होगी। परन्तु यह समझना जरूरी होगा कि कुल्लू में किस तरह और किस नाम से किस खानदान का आरम्भ होता है। उदाहरणार्थ जगत सुख गांव में एक खानदान को टिकरु इसलिए कहते हैं, क्योंकि इस वंश के किसी सदस्य ने कुल्लू के सबसे पहले राजा भंगमणि पाल को पहली बार राज मिलने पर टीका अर्थात तिलक लगाया था। कटाल खानदान का कोई आदमी राजाओं के समय कोतवाल रहा होगा। गधेरण चम्बे से आ कर कोई आबाद हुआ तो उस वंश के लोगों को गधेरणू कहा जाने लगा। दचाणी से आए हुए लोगों को दचाणू, लग से आए को लगाल कहते हैं। इसी तरह नेगीरे, पालसरे, बिष्ट, काइथ, वजीर, ठेकेदार, यहाँ तक कि पटवारी, फारेस्ट गार्ड भी यदि कोई प्रसिद्ध हुए हों तो वह वंश उसी शब्द पर आधारित हो जाता है। इस तरह हर अच्छे खानदान के साथ किसी न किसी नाम की धारणा जरूर मिलेगी। ऐसे विशेष खानदानों को कुल्लू में 'चुघ' कहते हैं—जैसे मलाना गाँव में कर्म्याणी और धर्म्याणि आदि चुघ हैं। यह शब्द चुघ—इस का रूप और महत्व अब वर्तमान दौर में लगभग समाप्त हो रहा है। नई सन्तान तो सम्भवतः इस शब्द और इसके अर्थ से परिचित भी नहीं होगी।

जात बिरादरी और कबीलों के इस अजायब घर की ऐतिहासिक छान-बीन की जाए तो पता चलता है कि १८७१ की जनगणना के अनुसार कुल्लू और सिराज, लाहुल और स्पिति की कुल जनसंख्या ९९३०७ तक सीमित थी, जिनमें से ६०२८० केवल कनैत थे, अठाइस हजार के लगभग कोली और डागी तथा छः हजार के लगभग ब्राह्मण आबाद थे। इस तरह यह सारी आबादी ९४३७५ बनती थी। कुल जन संख्या से इसे घटा करके शेष ५ हजार के लगभग लोग बाकी बिरादरियों में से थे, जिनमें बैरागी, खतरी बनिये, काइस्थ, सूद, महाजन, सुनार, धोबी, कुम्हार, लुहार, चमार आदि थे। और ठीक बीस वर्ष के बाद जब जनगणना पुनः की गई तो १८९१ में कुल आबादी १०७४३६ हो गई। इसमें से कनैत ६१६६५ और कोली-डागी २९०३३ और ब्राह्मण-७२९० थे। और शेष बिरादरियाँ जो १८७१ में पाँच हजार थीं, बढ़कर दस हजार के लगभग हो गईं। इन आँकड़ों से स्पष्ट है कि इन बाकी बिरादरियों की आबादी केवल जन्म से नहीं बढ़ी, बल्कि बहुत लोग बाहर से आते रहे और अब

१९६१ की जनगणना के अनुसार इस इलाके की आबादी १ लाख ७३ हजार के लगभग हो गई है, तो यह भी केवल जन्म से नहीं, बल्कि बाहर से लोगों के आने से अधिक हुई है। इन आँकड़ों को दृष्टि में रखते हुए एक बात तो बिल्कुल स्पष्ट है, कि आबादी का नव्वे प्रतिशत भाग तो केवल कन्नैत, कोली या डागी तथा ब्राह्मणों का है, और केवल दस प्रतिशत लोग वह हैं जो उपर्युक्त छोटी छोटी बरादरियों में बटे हुए हैं। १८९१ की जनगणना के अनुसार विभिन्न बिरादरियों और कबीलों की आबादी का ब्यौरा निम्नलिखित था :—

ब्राह्मण	राजपूत	बैरागी	खतरी	बनिए	काइस्थ
७९९०	९८१	६५७	५२२	६५	२८

सूद	महाजन	सुनार	धोबी	कुम्हार	लुहार	चमार
१९६	७४	५४३	६९४	१०४०	२७७१	१८९४

डागी	कनैत	कोली
१३३४३	६१६६५	१५६७०

इस ब्यौरे को देखने से पता चलता है कि आज से लगभग सौ वर्ष पहले कोली और डागी की गणना अलग अलग की गई थी, एवं राजपूत और कनेत भी अलग अलग समझे और लिखे गये थे। ।इससे भी डेढ़ सौ वर्ष पहले की आबादी का अध्ययन करें तो विश्वास करना पड़ता है कि उपर्युक्त बहुत सी बिरादरियाँ उस समय कुल्लू में मूलतः नहीं थीं। उदाहरणार्थ बैरागी लोग कुल्लू में पहली बार केवल १७६० में आकर स्थायी रूप से आबाद हुए, जब राजा टेढ़ी सिंह ने अपने तीन सौ साठ सियाणों को मरवा कर बैरागियों की सेना खड़ी की थी। खतरी, बनिये, सूद और महाजनों की संख्या भी उस समय बहुत कम थी। डागी जाति का वर्णन भी पन्द्रहवीं शताब्दी तक मिलता है, जब राजा सिद्ध सिंह की साजिश से अपर कुल्लू के शासक झीणा राणा को शणाग के गांव के मुछयाणी नाम तीर अन्दाज डागी से मरवाया गया था। ख्याल किया जाता है कि झीणा राणा से गद्दारी करने के बाद ही इस जाति के लोगों को डागी कहा गया और उनसे घृणा की जाने लगी। अन्यथा शणाग के इन लोगों को आज भी शणागी बड़ेही कहते हैं, और निःसन्देह इस घटना से पहले कुल्लू भर में शायद डागी शब्द प्रयोग होता भीं न होगा। वर्षों

की छानबीन और अध्ययन के बाद भी हमें डागी शब्द कहीं मिला नहीं। इसलिए निश्चय से कहा जा सकता है कि उस समय इस जाति के लोग कोली ही कहलाते थे, जो वास्तव में कोल थे और जिनके नाम पर यह देश कुलूत कहलाता है। चूंकि कोली, कनैत, और ब्राह्मण ही विशेष रूप से इस इलाके की आबादी में अधिक हिस्सेदार रहे हैं, इसलिए इनकी कहानी भी इस देश की कहानी की एक तस्वीर है। हमें इस तस्वीर को उजागर करना है, क्योंकि तब तक हमारी कहानी पूर्ण नहीं होती।

पौराणिक सृष्टि—

पूर्व इसके कि हम कुलूत देश में बसने वाले कोल, कनैत आदि लोगों का चित्रण पाठकों के सामने लाएँ, कुछ अन्य ऐतिहासिक तथ्यों पर भी हमें विचार करना चाहिए, जिनको सामने लाए बिना हमारी कहानी का आधार न केवल अपूर्ण रह जाएगा बल्कि इसके क्रम की एक-आध कड़ी स्पष्ट रूप से गुम नजर आयेगी। जब हमने अपनी कहानी की खोज ही सृष्टि के आरम्भ से शुरु की है, और यह सिद्ध किया है कि इस अर्थक देश में व्यास के किनारे से ही सृष्टि और मानव वंश का आरम्भ हुआ है, तो यहां बसने वाले लोगों की कहानी भी यहां से शुरु होनी चाहिए। पौराणिक सृष्टि के अनुसार सृष्टि का आरम्भ ब्रह्मा से हुआ है। इनके बाद मरीचि और फिर उनके लड़के कश्यप की दो पत्नियों अदिति से देवता और दिति से दैत्य या दानव पैदा हुए। कश्यप की सौ पत्नियों से अन्य असंख्य किस्म की जातियाँ पैदा हुई बताई जाती हैं, जिनमें से यक्ष, गन्धर्व, किन्नर, पिशाच, निषाद (निखाद), बानर आदि हैं। इनकी एक खसा नाम की पत्नी से राक्षस, नाग और खस पैदा हुए। राजतरंगिणी में तथा काशमीर की प्राचीनतम ऐतिहासिक अनुश्रुतियों के अनुसार काशमीर का असली नाम कश्यप पुर था, जहाँ उपर्युक्त कश्यप ऋषि ने न केवल तपस्या की बल्कि सृष्टि के अनगिणत जानदारों को भी पैदा किया। डाक्टर एम० एस० रंधावा अपनी पुस्तक 'फारमर्ज आफ इण्डिया' (Farmers of India) खण्ड एक के पृष्ठ २२३ पर लिखते हैं कि आरम्भ में काश्मीर में पिशाच, यक्ष और नाग नाम के आदिवासी लोग रहा करते थे। निखाद, दर्द, खश, भोट, भक्ष, डामर और ताँवतारण कबीलों का भी वह काश्मीर में होने का वर्णन करते हैं, जो बाद में आर्य ब्राह्मणों के लिए सर्वदा सिर दर्द बने रहे।

काशमीर में नागों के अधिक प्रभाव होने की अनुश्रुतियाँ वास्तविक बन जाती हैं, जब हम देखते हैं कि यहाँ कितने ही स्थान नागों से सम्बन्धित हैं—कोंसर नाग, कोकर नाग, वेरी नाग, अनन्त नाग, तथ मलक नाग आदि, और ये सभी नागों के नाम से सम्बन्धित झीलें हैं, और पानी के चश्मे। यह बड़ी विचित्र बात है कि पुरानी अनुश्रुतियों में जहाँ भी कहीं किसी नाग का वर्णन आएगा, प्रायः उसका सम्बन्ध किसी झील या पानी के चश्मे से जरूर होगा। पौराणिक सृष्टि की यह आबादी जब पूर्व की ओर फैली तो सब जगह उसके प्रभाव वास्तविक रूप में फैले जो हजारों-लाखों वर्षों के बाद भी आज तक परम्परागत जीवित हैं। कुल्लू को देवताओं की वादी तो आज भी कहते हैं। ठारह करडू का देश होने का इसे गौरव प्राप्त है जिसका वर्णन हम पिछले अध्यायों में कर आए हैं। परन्तु यहाँ साथ-साथ वह पौराणिक सृष्ठि भी फैली जिसे हम दैत्य, दानव, पिशाच, निखाद, यक्ष, राक्षस, किन्नर, गन्धर्व, कोल, किरात, और खश आदि कहते हैं। यह सभी नाम कुल्लुई भाषा में प्रचलित हैं। इनसे सम्बन्धित किस्से, कहानियाँ और अनुश्रुतियां लोगों को याद हैं। इनसे सम्बन्धित रीति-रिवाज भी अभी तक प्रचलित हैं और देवताओं की भारथा में भी इनका वर्णन आता है।

दैत्य की कल्पना आज भी कुल्लू के लोगों में एक भरकम शरीर और भयानक रूप में कायम है। किसी कठिन और गल्त काम करने वाले को कुल्लुई भाषा में दैत कहा जाता है। दानव को दानू कहा जाता हे, और इसे एक असाधारण किस्म के सर्प की शक्ल में समझा जाता है। देवता की विशेषता के नितान्त विरुद्ध विषमता वाले जानदार को दानू कहते हैं। यह भी आम विचार है कि दानू अपनी शक्ल-सूरत को भी अकस्मात बदल सकता है। दानू मानव वंश का शत्रु माना जाता है। कभी कभी किसी आदमी में देवता की तरह दानू की रूह भी आ जाती है। यदि लोगों को शक हो कि यह किसकी आत्मा किस में बोल रही है तो उससे पूछा जाता है कि "**तू देऊ सा की दानू** ?" तब वह आदमी उचित उत्तर देता है, और तब पता लगता है कि यह कौन आत्मा बोल रही है। दानू को जमीन में दबे हुए खजानों का पहरेदार भी समझा जाता है, और प्रायः यह भी ख्याल किया जाता है कि रूपया पैसा या माया जमीन में दबी हुई एक विशेष समय के बाद दानू अर्थात साँप का रूप धारण कर लेती है। इस सम्बन्ध में हर गाँव में परम्परागत किस्से

कहानियाँ आज भी प्रचलित हैं जब लोगों ने माया के साँप को देखा···एक हरकत करती हुई रोशनी का पीछा किया, कहीं उसे पकड़ने में सफल हुए और माया हाथ लगी, और कहीं किसी ने डर और झिजक कर अपने प्राण दे दिए। ऋग्वैदिक ऋषियों ने भी सप्त सिन्धु के प्रवाह को रोकने वाले वृत्र असुर को दानव और अहि अर्थात साँप ही कहा है, जिसे इन्द्र ने मारा। ऐसा प्रतीत होता है कि देवता और उसके मुकाबले में दानव सृष्टि की ऐसी रचनाएं हैं जिनके सम्बन्ध में वैज्ञानिक ढंग से अनुसंधान हो ही नहीं सकता है, क्योंकि इनका सम्बन्ध अधिकतः रूह से है। आजकल के पढ़े लिखे लोग तो इसे अन्ध-विश्वास (Superstition) ही कहते हैं। और चूंकि उनसे सम्बन्धित घटनाएं कभी-कभी ही होती हैं, इसलिए उन पर प्रयोग करने का अवसर भी बहुत कम मिल सकता है। यह किसी के बस की बात तो होती नहीं कि जब चाहा किसी देवता की आत्मा को बुला लिया और किसी दानव को देख लिया। अतः सृष्टि की इस रचना का वर्णन हम इतना ही करते हैं जितना कि परम्परा के रूप में कुलूत देश में प्रचलित है और सम्भवतः भविष्य में भी रहेगी।

पिशाच शब्द कुल्लुई भाषा में उस आदमी के बारे में प्रयुक्त होता है जिसके अस्वाभाविक व्यवहार से किसी को असाधारण कष्ट पहुंचे। टिम्बर शाचका (तिमिर पिशाचिका) एक पिशाचिनी का नाम है, जिसके नाम से ही लोग डरते हैं। **निखाद** शब्द का बिगड़ा हुआ रूप ही कूल्लुई बोली में नखिद शब्द है, जिसका अर्थ है सबसे घटिया। सम्भवतः निखाद लोगों को पहले से लेकर समाज में सबसे घटिया समझा जाता रहा है। रामायण में भी निखाद राजा का वर्णन आया है, जब बनवास जाते समय भगवान राम को इन्ही निखाद राजा ने अपनी नाव पर सरजु नदी पार करवाई थी। कुछ विद्वानों का विचार है कि महाभारत में जिस हिडिम्बा का वर्णन भीम सेन के साथ विवाह के सम्बन्ध में आता है और जो कुल्लू देवताओं तथा कुल्लु दशहरा के सिलसिले में एक विशेष महत्व रखती है, एक निखाद लड़की थी। यदि इसे ठीक मान लिया जाए तो फिर कुलूत देश में निखाद लोगों की मौजूदगी इतिहास के उस दौर में सिद्ध हो जाती है। **यक्ष** शब्द कुल्लुई में बिगड़ कर 'जच्छ' बन गया है, और इसका अर्थ है गंदा और मैला। ऐसा प्रतीत होता है कि **निखाद** और **यक्ष** घटिया और गन्दे मैले न भी हों तो भी आर्य ऋषियों ने अपने मुकाबले में उन्हें घटिया घोशित किया है, क्योंकि इन आदिवासियों ने आर्य ऋषियों

का विरोध निःसन्देह किया है। इन्होंने आर्य लोगों को न केवल तंग किया है बल्कि उनके हर जगह मुकाबले भी किए, जैसा कि हम शम्बर युद्ध में पीछे उल्लेख कर आए हैं। यह आदिवासी लोग चाहे निखाद थे या यक्ष, दैत्य थे या दानव;पिशाच कहलाते थे या राक्षस, इन्हें दस्यु ही कहा जाता था, और यह सभीआर्यों के कट्टर शत्रु थे। इसलिए इन्हे नखिद और जछ कहा गया।

डामर और बानर जाति के लोग सम्भवतः कुल्लू मैं नहीं थे, यद्यपि ऐसे लोगों का पता लगा है जो बहुत पहले कभी थे और डमरू बजाते थे। डमरू को कुल्लुई भाषा में 'डौंरु' कहते हैं। लाहुल और स्पिति के लोग आज भी डमरू बजाकर अपने मन्त्रों का उच्चारण करते हैं। पौराणिक अनुश्रुतियों के अनुसार 'शिव ताण्डव' के समय शिवजी ने भी डमरू बजाया था, और कहते हैं कि इसी ध्वनी से संस्कृत व्याकरण के चौदह सूत्र निकले। डामर लोग सम्भवतः गाने बजाने वाले लोग होंगे, जो अब डूमने नाम से कांगड़े की तराई में पाए जाते हैं। यह लोग ढोलक बजाते हैं और बसन्त ऋतु के आरम्भ होने अर ढोलरु गाते हैं।

चाण्डाल या चण्डाल नाम की कोई जाति कुलूत देश में कभी नहीं थी। हाँ चण्डाल शब्द बिगड़ कर चण्टाल बन गया है, और इसका अभिप्राय लिया जाता है जिद्दी, स्वार्थी और अनाज्ञाकारी से । परन्तु कुल्लुई बोली में एक शब्द 'चांड' है जिसका साधारण अर्थ वह अभिमान है जिसका सम्बन्ध सौन्दर्य और बनावट से है। अच्छाई के रूप में इसका अर्थ स्वावलम्बी भी लिया जा सकता है परन्तु बुराई में इसका अर्थ खुदसरी और स्वेच्छाचारिता भी हो सकता है। सम्भवतः इस शब्द चांड के आधार पर ही चाण्डाल का अभिप्राय उन लोगों से है जो स्वाभिमानी थे, जिन्होंने अन्तिम श्वास तक आर्यों का अधिकार स्वीकार नहीं किया, चाहे उन्हें कस्बे गांव छोड़कर अपनी बस्तियाँ बसानी पड़ीं, और बुरी दशा में रहना पड़ा। चाण्डाल शब्द तो केवल इसलिए प्रयुक्त हुआ ताकि इससे उन दस्यु लोगों की खुदसरी और उनके अभिमान का पहलु प्रकट हो सके। यह लोग अछूत घोषित किए गए, उन्हें शूद्र कहा गया , उन्हें मजबूर किया गया कि वे बस्तियाँ छोड़कर कहीं दूर जा बसें। उन्हें दूसरे आर्य लोगों के मुकाबले में अच्छे घर बनाने की भी आज्ञा नहीं थी। बल्कि घास फूस की झोपड़ियाँ बना कर रह सकते थे। इसलिए इन्हें 'छनाल' भी कहा गया। शब्द 'छन'

कुल्लुई तथा सारी पहाड़ी भाषाओं में घास की झोंपड़ी के लिए प्रयुक्त होता है। अतएव, छनाल वह लोग हुए जिनके घर घास की झोंपड़ी के थे। अपर कुल्लू में नगर और जगत सुख गाँवों में आज भी गाँव के बाहर हरिजन बस्तियाँ हैं जिन्हें छनालटी कहा जाता है। इसका अर्थ हुआ कि छनाल लोग हिमालय की तराई में और जगह भी रहते रहे हों, कुल्लू में भी आरम्भ से आबाद हैं और उनके गाँव ज्यों के त्यों मौजूद हैं।

गन्धर्व

पौराणिक सृष्टि रचना की दृष्टि से गन्धर्व और किन्नर दो और प्रसिद्ध जातियां हुई हैं, जिन का सीधा सम्बन्ध हिमालय की तराई से है। शास्त्रों में गन्धर्वों का वर्णन देवताओं के साथ आता है। इन्हें देवताओं के दरबारी गायक भी कह सकते हैं। यक्ष, किन्नर और गंधर्व देवता या दैवी सृष्टि के निकट माने जाते हैं। गढ़वाल के इलाके में आज भी गाने बजाने वाले अछूत लोगों को दास या गन्धर्व कहते हैं। सत्युग के अन्त में ऋषि जमदग्नि की धर्म-पत्नी रेणुका से सम्बन्धित एक पौराणिक कथा प्रचलित है, जिसमें रेणुका और गन्धर्व राज की मेल मुलाकात का कोई वर्णन आता है, और इस पाप के प्रतिकार में ऋषि जमदग्नि के आदेश से उनके लड़के परशुराम जी ने अपनी माता रेणुका का सिर काट दिया था। यह घटना हिमाचल में रेणुका नाम की झील और जमदग्नि पर्वत के आस-पास बताई जाती है, जिससे सिद्ध होता है कि इस पहाड़ी प्रदेश में, जो सम्भवतः कुलूत या उस के आस पास का भाग होगा, गन्धर्व लोग रहते थे, जिन पर गन्धर्व राज का शासन था। गन्धर्वों का सब से विशिष्ट आचरण यह है कि वह नाचने गाने और फूलों के बहुत इच्छुक बताए जाते हैं। इस लिए यदि गम्भीर दृष्टि से देखा जाए तो हिमालय के दामन में और विशेषतया कुल्लु, हिमाचल तथा गढ़वाल के जोनसारबावर दून वेली के इलाके के लोगो में यह आचरण स्पष्ट रूप से विद्यमान है। कल्लू और सिराज के लोगों के सम्बन्ध में बहुत से अंग्रेज शौकीन लेखकों ने यह बात खास तौर पर लिखी है कि यह लोग नाचने, गाने और फूलों के अत्यन्त शौकीन हैं। कल्लू और सिराज के मेलों की रंगीनियों का कोई मुकाबला नहीं है। कुलुई नाच जिसे नाटी कहते हैं निश्चित कुल्लुई लिबास में अपने ढंग की एक अपूर्व कला है। वाद्यों की लय और शहनाई की धुन पर जब कुल्लुई संगीत की लहरें उठती हैं तो नाचने वाला

अनायास और एक हार्दिक मस्ती में झूम-झूम कर नाचने लगता है। कल्लू का नाच कबाइली नाच नहीं बल्कि प्रतिष्ठित तथा शोभनीय शारीरिक स्पन्दन तथा मृदुल मनोवृत्ति के प्रभाव के अधीन उत्पन्न होने वाली गति की अद्भुत तथा कलात्मक अभिव्यक्ति है। श्री भीम सेन सच्चर, जो कभी पंजाब के मुख्य मंत्री थे, जब पहली बार कुल्लू आए और उन्होंने पहले-पहल जब कुल्लू का नाच देखा तो अनायास कह उठे कि इस नाच में उन्हें एक आध्यात्मिक और दैविक अनुभूति का आभास होता है। कुलूत देश के लोग जब भी किसी मेले पर जाएंगे तो आप प्रत्येक पुरुष, स्त्री, बच्चे, बूढ़े को फूलों से सुसज्जित पाएंगे। टोपी में फुल, बालों में फूल, गले में फूलों के हार, स्त्रियां प्रायः कान के ऊपर फूल को सजाती हैं और तभी कुल्लुई लोक गीत का यह पद् वातावरण में गूंज उठता है :—

सूने जूही रा झुमकू शोभला, मौथे पांधली बिन्दी।
कोना पीछला डोल्हरु झूरीये, मूलै देली की सींदी ॥

अर्थात् 'ऐ, मेरी यादों की रानी। तेरा जूही का झूमर जो सोने के रंग जैसा है, बहुत सुन्दर है और सोने पर सुहागे का काम तुम्हारे माथे की की बिन्दी कर रही है। परन्तु असल बात तो तेरे कान के पीछे लटके हुए गेंदे के फूल की है। बता, इसे कीमत से देगी या प्यार के बदले मुफ्त।'

कुलूत देश के देहातों में आज भी प्रायः ऐसा लगता है कि घर में बच्चे ने जरा पांव पर खड़ा होना सीखा तो सबसे पहले उसे चलने के साथ नाचने की ट्रेनिंग मिलने लगी। जब जरा बड़ा हुआ तो उसके हाथों में तलवार की बजाए दो लकड़ियां पकड़ा दी गईं। मुंह से बाजा बजने लगा। हाथ से ताली बजी, और बच्चा दोनों हाथों की लकड़ियों को तलवार की तरह घुमा-घुमा कर नाचने लगा। गांव के छोटे-छोटे हम उमर बच्चे इकट्ठे हुए। कुछ बीच में टीन पकड़ कर बजाने लगे और बाकी नाचने लगे। ऐसा मालूम होता है कि गाना और नाचना कुल्लूई बच्चे की जन्मघुट्टी है और कुल्लू के लोगों की जीवन कला। इसलिए यह दावा किया जा सकता है, कि चाहे इस देश में गन्धर्व नाम की कोई जाति न भी हो, परन्तु गन्धर्वों का विशिष्ट आचरण कुल्लू के लोगों में कूट-कूट कर भरा हुआ है। इसलिए इसे यदि गन्धर्वों का देश भी कहा जाए तो कोई अतिशयोक्ति नहीं होगी। कवि बाणभट्ट ने छटी सदी

ईसवी में जब कादम्बरी नाम का नाटक लिखा तो उसमें उज्जैन के राजा तारापीड का आक्रमण कुलूत देश पर बताया गया है। उस समय कुलूत पर गन्धर्व राज चित्ररथ का शासन था। वाण भट्ट ने सन् ईसवीं से पहले की किसी घटना की अपने नाटक में कल्पना की है। चाहे पात्र नाटक के कल्पित ही हों, फिर भी नाटक की पृष्ठ भूमि, कि कुलूत पर गन्धर्वों का राज था, और चित्ररथ की लड़की चित्रलेखा को गन्धर्व कन्या लिखा गया, यह सिद्ध करता है कि कुलूत में गन्धर्व नाम के कोई लोग अवश्य रहते होंगे। इसीलिए इस इलाके में गन्धर्वों के होने का वर्णन आया है। अर्जुन की मुठभीड़ गन्धर्वों के एक राजा से हरिद्वार के आस पास कहीं हुई थी, जिसमें युधिष्टर ने बच-बचाव करके उनकी मित्रता करा दी थी। तब अर्जुन ने उस गन्धर्व से वह विद्या सीखी थी जिसे '**चाक्षुषि**' विद्या कहते हैं। '**चाक्षुषी**' वह विद्या है जिससे मनुष्य सामने होते हुए भी दूसरे मनुष्य को नजर नहीं आ सकता। गन्धर्वों की यह विशेष विद्या थी, और हो सकता है कि आज भी यह लोग दूरवर्ती इन पहाड़ों में अलग-थलग और नजरों से ओझल कहीं रहते हों। प्रसिद्ध इतिहास कार **श्री के० एम० पानिकर** लिखते हैं कि बोध जातकों से भी पता लगता है कि महाराजा अशोक के समय में भी चार आचार्य हिमवन्त अर्थात हिमालय के पहाड़ों में बुद्ध धर्म का प्रचार करने के लिए भेजे गये थे, जिन्होंने गन्धर्वों में जाकर प्रचार किया। वह लिखते हैं कि यह गन्धर्व नाम के लोग कोई दूसरे जानदार नहीं बल्कि एक मनुष्य जाति थी, जिस में उन आचार्यों ने धर्म प्रचार किया। वृहत संहिता में जो पाँचवी सदी में लिखी गई, उत्तर में गन्धर्वों के होने का वर्णन है। इसमें भारतवर्ष में बसने वाली बीसियों और जातियों के नाम भी दर्ज हैं। परन्तु उनमें से तो बहुतों के तो नाम निशान तक नहीं है। अतः हो सकता है कि इसी तरह गंधर्व नाम की कोई जाति पहले कुलूत में बसती हो जो मर मिट गई या दूसरी विजेता जाति में, जो उसके बाद आई, घुल मिल गई हो। परन्तु यह बात स्पष्ट हैं कि भले ही आज गन्धर्व नाम से अलग जाति के लोग कुल्लू में मौजूद न हों, आज के लोगों में उनके विशेष आचरणों का स्पष्ट प्रचलन यह सिद्ध करने के लिए काफी है कि गन्धर्व लोगों का बोलबाला कुलूत देश में कभी जरूर रहा है, उसकी कुछ भी सूरत रही हो। मण्डी हिमाचल के इलाके में आज भी गन्धर्व नाम का एक गाँव है, यद्यपि उसमें रहने वाले लोग गन्धर्व नहीं है।

किन्नर और यक्ष

किन्नर लोगों का उल्लेख आरम्भ करते ही हम कदरे वास्तविकता के संसार में आ जाते हैं। किन्नर लोगों के देश को किन्नौर कहते है। हिमाचल प्रदेश में तो किन्नौर का अब एक अलग ज़िला बना दिया गया है। ज़िला महासू के साथ लगता हुआ उत्तरी इलाका रामपुर बुशहर और फिर साथ लगता हुआ कुछ स्पिति का इलाका यह सब वस्तुतः किन्नर देश है। इलाका कुल्लू में कोठी किन्नौर अर्थात् मणिकरण और उससे ऊपर स्पिति तक लगता हुआ सब इलाका किन्नर देश है। जैसा कि हम पहले वर्णन कर आए हैं गन्धर्व, यक्ष और किन्नर यह लग-भग साथ-साथ रहने बसने वाले लोग हुए है। गन्धर्वों की तरह किन्नर भी गाने के शौकीन माने गए हैं। किन्नर स्त्रियों की विशेषता यह है कि आज भी आम तौर पर अत्यन्त मधुर आवाज वाली स्त्री को किन्नर कण्ठी कह कर पुकारा जाता है। किन्नरों को शास्त्रों में **अश्वतुराग मुखः** लिखा है। इनकी गर्दन लम्बी और चेहरे का आकार घोड़े की तरह सुदृढ़ और गम्भीर होना चाहिए। यह जरूरी नहीं कि हिमाचल प्रदेश के ज़िला किन्नौर तथा कुल्लू की कोठी किन्नौर में आज की वर्तमान आबादी भी किन्नर है। परन्तु किन्नर लोगों के नाम से आज तक इन इलाकों का नाम ज़िन्दा रह पाया है, जो यह प्रमाणित करता है कि इतिहास के किसी दौर में इन स्थानों पर किन्नर लोग आबाद थे। हरिवंश पुराण में यह वर्णन आया है कि किन्नर लोग फूलों का लिबास पहनते हैं। कवि वाण भट्ट ने भी किन्नर लोगों को सुन्दर स्वरों अर्थात् मीठी आवाज वाला कह कर उन्हें गाने के शौकीन बताया है, और इस में शक नहीं कि आज भी किन्नर के वर्तमान लोग जिन्हें कुलुई भाषा में कनौरे कहते हैं, नाच गाने में सर्वोत्तम रुचि रखते हैं। इनकी भाषा को कनौरी भाषा कहते हैं जिसके सम्बन्ध में विचार है कि यह तिब्बती तथा मुन्दा भाषा से मिलकर बनी है। कुल्लू की कोठी किन्नौर में तो अब कुल्लुई भाषा बोली जाती है, परन्तु हिमाचल के जिला किन्नौर में जो भाषा बोली जाती है उसे बुशहरी भी कहते हैं, और यह तिब्बती और मुंदा भाषा का मिश्रण है। किन्नर देश के वर्तमान लोगों पर तिब्वती सभ्यता का काफी प्रभाव है। स्पिति और तिब्बत की सीमा पर स्थित होने से इन पर बौद्ध धर्म का प्रभाव पड़ना अनिवार्य था। मूल रूप में किन्नर लोग प्राचीन समय से बड़े सभ्य और सुदृढ़ निश्चय के माने गए हैं। महाभारत शान्ति पर्व में युधिष्ठर ने किन्नरों के बारे में कहा था कि ये बड़े उच्च आच-रण के लोग होते हैं इसलिए उन्हें रणवास अर्थात् महलों के अन्दर नौकर

रखा जा सकता है। महाभारत में और भी कई जगह जहां गन्धर्वों और यक्षों का नाम आया है वहां साथ ही किन्नरों का भी उल्लेख आया है। ऐसा प्रतीत होता है कि यक्ष किन्नर और गन्धर्व लग-भग एक ही समय हिमालय की इस तराई में आबाद रहे हैं। गन्धर्व इलाका के रूप में अपना नाम निशान न छोड़ सके, किन्नरों का नाम किन्नौर देश से जीवित रह पाया, और यक्ष लोगों की केवल यह निशानी शेष रह पाई कि काश्मीर के उत्तर में दर्दिस्तान के इलाके में एक कबीला के लोग आबाद हैं जिन्हें **यशकुन** कहा जाता है। यह शब्द सम्भवतः **यक्षकुण्ड** या **यक्षखण्ड** से बिगड़ कर **यशकुन** रह गया हो। दर्दिस्तान के इलाके में जहां साथ ही **यागिस्तान** लगता है अर्थात् '**यज्ञस्थान**', इन यशकुन लोगों की जनसंख्या सब से अधिक है। हैरानी की बात यह है कि आज मुसलमान होते हुए भी गौ के बारे में इन लोगों का दृष्टिकोण वही है जो एक कट्टर हिन्दु का हो सकता है। इसी एक बात से हम निश्चय से कह सकते हैं कि समय के उस दौर से पहले जिस ने उन्हें मुस्लमान बनने पर मजबूर किया था, यह लोग यक्ष नहीं तो यक्षों के भूखण्ड के प्रभाव से यक्ष-आचरण अवश्य रखते होंगे। सब से महत्पूर्ण ऐतिहासिक तथ्य यह है कि दर्दिस्तान के यह लोग वही टोपा और चोगा पहनते हैं, जो कुलूत देश के लोगों का आम पहरावा पहले था, अर्थात् ऊन के आध गज थैले को लपेट कर बनाया हुआ टोपा और ऊन का ही चोला। अब यद्यपि कुल्लू में यह लिबास अधिक सफाई और सुन्दरता से केवल नाचने का लिबास रह गया है, परन्तु पचास वर्ष पहले तक कुल्लू का हर आदमी चोला और टोपा पहनता था। यह कुलूत देश के लोगों का राष्ट्रीय पहनावा था, जिसे दर्दिस्तान के लोग, हंगरी, यूनान, ईरान और मिसर तक के लोग सभी पहनते थे। ऐसा प्रतीत होता है कि यक्ष, किन्नर और गन्धर्व भी यही पहनावा पहनते थे। कुल्लू में यक्ष शब्द का बिगड़ा हुआ रूप '**जच्छ**' शब्द बोलने में आता है जिस का अर्थ गंवार या गंदे मैले मानव से किया जाता है।

राक्षस—

पौराणिक सृष्टि के व्योरे में अब हमें दो ऐसी नसलों से सम्बन्धित बहस करना बाकी रह गई है, जिनका सम्बन्ध हमारी कहानी से बहुत अधिक है—वे हैं राक्षस और नाग। कुलूत देश में राक्षसों की अनुश्रुत कहानियों की कोई गिनती नहीं है। प्रतीत होता है कि हर उस चीज को लोगों

ने राक्षस कहना शुरु कर दिया, जिस ने मानव जाति को किसी भी रूप में कोई कष्ट दिया हो। यूं तो संसार के किसी भी देश की लोक-कथाओं को पढ़ें या सुनें तो उन में राक्षस, भूत, जिन, परी, और इस प्रकार की कल्पना से बाहर की वस्तुओं का वर्णन मिलता है, परन्तु कुलूत देश में तो किसी समय राक्षसों का ही राज मालूम पड़ता है। बड़े से बड़े पहाड़, नदी नाले से लेकर छोटे से छोटे गांव की ऐतिहासिक छान बीन करें तो लोक कथा में यह पृष्ट भूमि जरूर मिलेगी कि इस जगह एक राक्षस रहता था। वह लोगो को तंग करता था। एक आदमी रोज उसके भोजन के लिए नियत होता था। तब फलां देवता प्रकट हुआ, या फलां आदमी को देवता ने कोई संकेत दिया और फिर उस देवता की सहायता से उस राक्षस को मारा गया, और तब से उस गांव के लोगों ने उस देवता को मानना आरम्भ किया जिस के कारण उन्हें कष्टों से मुक्ति प्राप्त हुई थी। ऐसे राक्षसों के बारे में भी लोक श्रुतियां हैं जो अपनी विशेष सीमा के अन्दर या किसी विशेष स्थान पर ही अपने आप को प्रकट करते थे। ऐसे राक्षसों को उस जगह, या उस जंगल, या उस नाले का राक्षस कहा जाता है। राक्षस प्रायः रात को अकेले-दुकेले मनुष्यपर आक्रमण करते सुने गए हैं। दिन में नजर नहीं आते और रात को भी, जिन लोगों ने हमें इस सम्बन्ध में निजि अनुभव बताए हैं, ये विभिन्नरूप धारण करते और अकस्मात् हवा में गुम होते बताए हैं। हम ने बीसियों लोगों से उनके राक्षसों से हुए अनुभव सुने हैं। हर एक अनुभव नया और इसमें विचित्र परिस्थितियां बताई गई हैं। कहीं आग का गोला बन कर राक्षस आदमी के आगे चलता रहा, और फिर अकस्मात् एक भयानक रूप ने रास्ता रोक लिया। किसी अनुभव में कोई राक्षस लम्बी शव बन कर सड़क के आर पार लेटा हुआ पाया गया। कहीं जानवर बन कर साथ-साथ चलता है, तो कहीं आदमी बन कर आगे-पीछे, दायें-बायें भयानक आवाजें निकालता है। कहीं वह अपने शिकार पर काबू पा लेता है और वह आदमी मौका पर ही या घर पहुँच कर मर जाता है। कभी कोई राक्षस द्वारा प्रभावित मनुष्य घर पर पहुंच कर इतना भोजन खा जाता है कि उस संदिग्ध अवस्था से परेशानी पैदा हो जाती है और तब जंतर मंत्रादि कर के उसका इलाज उपचार किया जाता है। सारांश यह कि ये विचित्र किस्से विचित्र ससार की बातें प्रतीत होती हैं। विश्व भर के प्रगतिशील देशों में आज भी ऐसे पुराने स्थान, पुराने मकान और प्राचीन किले हैं जिन के सम्बन्ध में आज यह संदेह किया जाता है कि उनमें भूत या राक्षस रहते हैं, और वे सच-मुच वीरान पड़े हैं। प्रत्येक देश में हर रोज ये किस्से

अब भी समाचार पत्रों में प्रकाशित होते रहते हैं।

कुलूत देश का पुराना अनुश्रुत इतिहास भी इन किस्से कहानियों से भरा पड़ा है। परन्तु यहां ये केवल किस्से नहीं हैं, बल्कि राक्षस के कुछेक रिवाज अनुश्रूति के रूप में अभी भी प्रचलित हैं, जिनसे इस बात की तस्दीक हो जाती है कि राक्षस नाम की कोई जाति इस पहाड़ी प्रदेश में जरूर आबाद थी।

कुलूत देश में **फागली** का त्यौहार विशेष रूप से राक्षसों के पारस्परिक अस्तित्व और उनकी संस्कृति पर प्रकाश ड़ालता है। ये त्यौहार प्रायः सभी जगह लगभग एक ही ढंग से मनाया जाता है। इस अवसर पर राक्षसों का पारस्परिक नाच तो होता ही है, इसके अतिरिक्त कुछ ऐसी रस्में भी पूरी की जाती हैं जिनसे उस घटना की पृष्ठभूमि में देवता के हाथों राक्षस की पराजय या दूसरी अवस्था में राक्षस के साथ समझौता की कहानी दोहराई जाती है। इस अवसर पर उन सभी हथियारों और औजारों की भी प्रदर्शनी की जाती है जो इस लड़ाई में प्रयोग में लाये गये थे। देवता की महानता और उनकी शक्ति के प्रभुत्व को भी बढ़ा-चढ़ा कर पेश किया जाता हैं। कूछ विशेश लोग राक्षसों का घास-फूस का लिबास और मुँह पर प्राचीन समय के लकड़ी के बने हुए राक्षसों के मुखौटे लगा कर नाचते हैं। उनका नाच और उनकी गति निःसन्देह मनुष्य की नहीं होती है। एक राक्षस इस सुन्दर मेले में से किसी सुन्दर स्त्री या अच्छी लड़की को तलाश करने का अभिनय करता है, जिससे स्पष्ट होता है कि उस जमाने में यह राक्षस लोग किसी सुन्दर स्त्री को जबरदस्ती उठा ले जाना मामूली बात समझते होंगे। कुछ उनकी चेष्टा ऐसी भी होती है कि जिनसे पता चलता है कि राक्षसों में चरित्र, शिष्टाचार और शर्म का नाम तक न होता होगा।

फागली प्रायः राक्षसों पर देवता और लोगों की विजय की याद में मनाई जाती है, जिस तरह भारत भर में रावण पर राम की विजय का दिन विजय दशमी के रूप में मनाया जाता है। कुल्लू भर में देवता का कोई त्यौहार मनाया जाता है तो उसकी रस्मों का एक विशेष भाग वह होता है जिसे कुलुई भाषा में '**देउ खेल**' कहते हैं, या ज्यादा उचित शब्दों में '**देउखल**' कहते हैं। इस समय प्रत्येक देवता के भण्डार में रखे हुए

विभिन्न प्रकार के शस्त्रयार निकाले जाते हैं। इनमें प्रायः खण्डा अर्थात प्राचीन समय की तलवार, बहुत सी लोहे की जजीरें, लोहे का भाला, तीन चार किस्म की लोहे की कटारें होती हैं। कहीं कहीं जंजीरों में बन्धा हुआ लोहे का एक कांटेदार गोला भी होता है। इन सारे हथियारों को देवता के चेले के आगे जिसे गुर कहते हैं, जमीन पर गाड़ दिया जाता है। तब गुर नंगा होकर इनमें से हर एक के प्रयोग का पूर्ण प्रदर्शन करता हैं तथा कटारों को अपने नंगे शरीर पर चलाता है। लोहे की जंजीरों से अपने नंगे शरीर को पीटता है, और साथ साथ ढोल तथा वाद्यों के एक विशेष ताल पर नाचता भी जाता है। यह सब इसलिए किया जाता है ताकि लोगों को याद रहे कि इन शस्त्रों की सहायता से देवता ने किसी राक्षस को मारा था। और इसलिए भी कि लोगों पर देवता की महानता का न केवल सिक्का जमा रहे, बल्कि देवता के होते हुए उन्हें अपनी हर तरह सुरक्षा का भी विश्वास रहे। यह रसम 'देउखली' फागली के अवसर पर भी की जाती है और प्रायः अन्य त्यौहारों के अवसर पर भी। इसे शक्ति की पूजा का प्राचीनतम रूप भी मान सकते हैं।

राक्षस को कुल्लुई भाषा में राक्स या राख्स कहते हैं। इतिहास के बहुत से विद्वानों का विचार है कि आर्य लोगों ने अपने दस्यु प्रतिद्वंदियों को भी राक्षस कहा है। अतः मानव जाति के दस्यु लोग जिनमें कोल, किरात, भील, द्रविड आदि लोग शामिल हैं, सब राक्षस हैं। यह ख्याल भी ठीक माना जा सकता है; क्योंकि हमारे रामायण जैसे ग्रन्थ ने जब रावण जैसे विद्वान ब्राह्मण को राक्षस घोषित किया तो यह दस्यु लोग भी राक्षस माने जा सकते हैं। बल्कि मानव जाति में तो हर बुरा आदमी राक्षस मान लेना चाहिए। परन्तु वास्तविकता के आधार पर राक्षसों को एक अलग जाति, पृथक योनी, और अलग नसल भी मानना पड़ता है। इस बात से तो इन्कार किया ही नहीं जा सकता कि राक्षसों की अपनी एक विद्या होती है जिसे **राक्षसी** विद्या कहा जाता है। इन्हें **'मायावी'** कहा गया है। यह तन्त्र शास्त्र में प्रवीण होते थे। कुछ माया इन्हें नसली तथा खानदानी रूप में स्वाभाविकतः प्राप्त होती थी और कुछ वे सीखते थे। इसीलिए मानव वंश के लोग इनसे बहुत घबराते थे। और इनका मुकाबला करने के लिए अपने देवताओं की शरण लेते थे। लोग राक्षसों के लिए आदमी का माँस तक उपलब्ध करते थे, और इन्हें प्रसन्न करने की पूरी कोशिश करते थे। यह राक्षस अपनी माया तथा तन्त्र विद्या से वायु में उड़ते थे

तथा विभिन्न प्रकार के शरीर और विभिन्न रूप धारण कर सकते थे।

कुलुत देश की अनुश्रूतियों मैं **सागू** नाम के एक राक्षस का उल्लेख किया जाता है। भृगु, तुंग (रोहताँग) से कूछ नीचे मनाली-केलंग जनमार्ग पर राहणी नाल के सामने एक बर्फीला नाला है, जो आखिर में एक छोटा सा जलप्रपात बन कर व्यास नदी में आ मिलता है। स्थानीय भाषा में इन स्थानीय नालों को 'खोल' कहते हैं और इस नाले को सागू राक्षस के नाम पर **'सागू खोल'** कहा जाता है। इसके सम्बन्ध में यह प्रसिद्ध है कि इसका पेट कभी नही भरता और आज भी कुल्लुई बातचीत में जो आदमी बहुत अधिक खाता हो उसे 'सागू खोल' से समानता दी जाती है। कहा जाता है कि जब महर्षि जमदग्नि मानसरोवर से स्पिति होते हुए कुल्लू की ओर आ रहे थे, तो रास्ते में भृगुतुँग के आस-पास कहीं उनका सामना सागू से हो गया। इस राक्षस ने अपनी माया की शक्ति से चारों ओर अंधेरा कर दिया। अकस्मात अन्धेरा हो जाने पर महर्षि कदरे परेशान हो गए और जब उजाला हुआ तो उन्होंने अपने आप को सागू की कैद में पाया। यह समाचार आग की तरह सारे इलाके में फैल गया। लोग बिलबिला उठे। देवताओं में हलचल मच गई। अठारह देवता भृगुतुँग पर आकर इकट्ठे हो गए। यह सृष्टि की रचना में पहली घटना थी, जब निराकार देवता साकार बन कर पृथ्वी पर आ उतरे। इसी दौरान सागू ने महर्षि को खा जाने के लिए बहुत हाथ पाँव मारे। परन्तु जब वह उन्हें पकड़ने के लिए हाथ मारता तो उसका हाथ एक ठोस शरीर की बजाये एक वायु के शरीर में से आर-पार गुज़र जाता और उसके हाथ कुछ न लगता। वह हैरान था कि भला-चंगा मनुष्य सामने चौकड़ी लगाए आँखे बन्द किए बैठा है, परन्तु हाथ शरीर से स्पर्श भी नहीं करता। देवताओं के ललकारने पर सागू ऋषि को छोड़कर भृगु तुंग पर गया और उनसे भिड़ गया। सागू बड़ा बलवान था, परन्तु देवता भी तो वस्तुतः प्रकृति के किसी उद्देश्य को पूरा करने के लिए प्रकट हुए थे। मानव जाति का विस्तार होना था, आर्य सँस्कृति को बढावा मिलना था। ईश्वर की शक्तियों ने निराकार से साकार होना था। अतः सागू भीषण युद्ध के बाद मारा गया। सागू सामप्त हुआ और इलाके भर के लोगों ने सुख का साँस लिया, परन्तु सम्भवतः उसकी अ त्मा अभी भी भृगु तुंग के इस इलाके में भटकती फिरती है। सागू खोल जल प्रपात बनकर जहाँ गिरता है, वहां अब भी एक भयानक आवाज सुनाई देती है। कहते हैं वह सागू की आत्मा

है, और यह आत्मा किसी न किसी प्रकार राहणी नाले के आस पास प्रतिवर्ष मानव-बलि ले लेती है। इसमें शक नहीं कि **रोहताँग और** राहणी नाले के बीच प्रायः हर वर्ष हवा चलने से गलेशयर गिरने से, पाँव फिसलने से या किसी भी बहाने से कूछ न कुछ मौतें हो जाती हैं। बहुत वर्ष पहले की बात बताई जाती है जब राहणी नाले में और रोहताँग पर सख्त तेज़ हवा चलने से सैकड़ों घोड़ें खच्चर और आदमी मर गये थे। वैज्ञानिक संसार के आज के लोग सागू की भटकती आत्मा और उससे सम्बन्धित दुर्घटनाओं पर निःसंदेह विश्वास न करें, तो भी इस विचार को वे कैसे रोक सकते हैं कि बाद की बुराइयाँ भी प्रायः उसी से सम्बन्धित की जाती हैं जिसने जीवन में थोड़ी भी बुराई की हो।

इतिहास के इसी राक्षसी दौर की दूसरी महत्वपूर्ण घटना भी इस कहानी की दूसरी कड़ी है। सागू से निपटने के बाद महर्षि ने अठारह देवताओं की साकार प्रतिमाएँ बना लीं, और उन्हें एक टोकरी में डाल कर हाम्टा होते हुए चन्द्रखणी पर्वत पर पहुँचे। तेज़ हवा चलने से प्रतिमाएं उड़कर इधर-उधर बिखर गईं और फिर जहाँ जहाँ वे प्रकट हुई वहाँ वहाँ लोगों ने उनके मन्दिर और स्थान बना दिए। उनका महत्व बढ़ा और फिर यही अठारह देवता '**ठारह करडू**' कहलाए और यह देश कहलाया '**ठारह करडू का देश**'।

चन्द्रखणी से महर्षि जमदग्नि नीचे उतर कर ऐसी जगह पहुँचे जो चारों तरफ से पहाड़ों से घिरा हुआ था। इस जगह को आजकल '**मलाणा**' कहते हैं। उस समय इसका नाम क्या था? यह कुछ नहीं कहा जा सकता। महर्षि की धर्म पत्नी रेणुका साथ थीं। यहीं उन्होंने रहने-सहने और जप-तप करने का कार्य क्रम बनाया। कहते हैं तब इस पहाड़ी प्रदेश पर **बाणासुर** नाम के राक्षस का बहुत ज़ोर था। यह कौन बाणासुर था कुछ विश्वास से नहीं कहा जा सकता। पौराणिक कथाओं में कई जगहों पर विभिन्न परिस्थितियों में बाणासुर के होने का उल्लेख आया है। हो सकता है कि यह बाणासुर भी किसी न किसी बाणासुर के वंश से सम्बन्धित हो। कुछ भी हो बाणासुर नाम का एक राक्षस था, जिसकी मुठभेड़ मलाणा में महर्षि जमदग्नि से हुई। कहा जाता है कि बाणासुर ने महर्षि को पकड़ कर एक बड़े बरतन में पकने के लिए आग पर चढ़ा दिया। बहुत देर बाद ढकना खोलकर देखा तो महर्षि आलती पालती मारे, समाधि चढ़ाए, खौलते हुए पानी में बड़े मज़े से बैठे थे। थोड़ी देर के लिए बरतन का

ढकना बन्द किया गया, परन्तु महर्षि की स्थिति में कोई अन्तर नहीं पड़ा। उन पर आग और उबलते पानी का कोई प्रभाव न देखकर बाणासुर बहुत घबराया। उसकी अपनी सारी शक्तियाँ हवा में उड़ती हुई महसूस होने लगीं। रंग काफूर हो गया। वह गिड़गिड़ा कर महर्षि के पाँव पर गिरा। बाणासुर हार चुका था, और ऋषि की दया पर था। महर्षि उसे क्षमा नहीं करना चाहते थे क्योंकि इस सारे पहाड़ी प्रदेश के लोगों को इस अत्याचारी के पंजों से मुक्ति दिलाना उनका उद्देश्य था। निर्णय हुआ कि यदि बाणासुर मरना नहीं चाहता तो इस सारे देश को छोड़कर ऐसी जगह चला जाए जहाँ मनुष्य न रहते हों। प्रतीत होता है कि बाणासुर राक्षस होते हुए भी सुलझा हुआ राजनीतिज्ञ था। उसने यह फैसला स्वीकार करने से पहले समझौते की कुछ शर्तें महर्षि से मनवा लीं। बाणासुर की जनता को विश्वास में लेने के लिए महर्षि ने शर्तें मान लीं, और बाणासुर यह देश छोड़ कर और फिर कभी न आने का ऋषि को वचन देकर चला गया। समझौते की सबसे महत्वपूर्ण शर्त और दूर दर्शिता की बात यह थी कि मलाणा गाँव में बाणासुर की ही भाषा जारी रहेगी, उसे बदलने की किसी युग में कोशिश नहीं की जाएगी। बाणासुर देश छोड़कर चला गया, परन्तु वह इस बात को समझता था कि जब तक उसकी भाषा वहाँ जारी रहेगी, उसका थोड़ा बहुत नाम और उसकी सभ्यता का कुछ प्रभाव वहाँ बाकी रहेगा, जो उसे लोगों के दिलों में जीवित रखेगा। और सचमुच युग बदल गया, परन्तु मलाणा में लोगों की वही अपनी भाषा युग-युग से चली आ रही है जिसे '**कणाश**' कहते हैं। यह बाणासुर के लोगों की अपनी निराली ही बोली है। इसे दूसरे लोग समझ तो सकते हैं परन्तु बोल नहीं सकते। हैरानी इस बात की है कि जो हरिजन बाजगी (ढोल आदि बजाने वाले) प्राचीन समय से वहां रहते हैं वे भी 'कणाशी' भाषा बोल नहीं सकते।

बाणासुर के चले जाने के बाद उसकी एक छोटी सी मूर्ति बना एक पिंजरे में बन्द करके उसे एक मकान के सबसे अंधेरे कमरे में लटका दिया, और बताया यह गया कि यदि बाणासुर ने कभी मलाणा आने का प्रयत्न किया तो उसकी मूर्ति को नष्ट-भ्रष्ट कर दिया जाएगा, और उसके साथ ही बाणासुर का शरीर भी टुकड़े-टुकड़े हो जाएगा। जिस जगह यह पिंजरा रखा गया है उसे "**राक्सा रा मौढ़**" कहा जाता है। वर्ष में एक बार वहां बाणासुर के नाम बकरे की बलि दी जाती है। जिस कमरे में वह पिंजरा

रखा गया है वह कभी नहीं खुलता। सामान्य त्यौहारों के अवसर पर भी राक्षसी तरीका पर ही उस राक्षस के नाम पर बलि दी जाती है। पशुओं को झटका करने की बजाए छुरे से चीर कर उसका दिल निकाला जाता है, और वह धड़कता हुआ दिल पत्थर पर रख कर भेंट किया जाता है। बलि का यह तरीका एशिया भर में बहुत पुराने समय से प्रचलित था, जब सम्भवत: राक्षस किस्म की जातियां सब जगह पर फैली हुई थीं।

फागली का वर्णन ऊपर आ चुका है। इस त्यौहार का सीधा सम्बन्ध '**टुँडी राक्षस**' से बताया जाता है। ख्याल है कि लाहुल में चन्द्र-भागा का संगम इसी राक्षस के नाम से '**तांदी**' कहलाता है। इस का शासन लाहुल स्पिति से लेकर नेपाल तक के पहाड़ी इलाका पर रहा होगा, क्योंकि "**हिमालय दर्शन**" नामी पुस्तक में नेपाल में एक ऐसे मैदान के बनाए जाने का वर्णन आया है, जिसका नाम 'तुण्डी खेल' है। यह मैदान नेपाल के राजा कोश चन्द्र मल्ल ने सम्भवत: सोलहवीं सदी के लग-भग बनवाया। इसे हमेशा हरा भरा रखा जाता है। इस पर सैनिक प्रेड होती है, तथा त्यौहार मनाए जाते हैं। कुल्लू में '**टुण्डी खेल**' उस रसम का नाम है जो फागली के खुले मैदान में '**राक्स नाटी**' अर्थात राक्षसी नाच के रूप में पूर्ण की जाती है, जिसका वर्णन हम ऊपर कर आए हैं। '**टुण्डी खेल**' भी पूर्वोक्त 'देउ खेल' की तरह होती है। इस में 'टुण्डी राकस' की आत्मा किसी आदमी में आ जाती है और वह उस आवेश में विचित्र हरकतें करने लगता है, तथा इशारों से मानवता विहीन इच्छाओं को प्रकट करता है।

आर्यावर्त की महा गाथा के लेखक श्री के० एम० मुनशी अपनी पुस्तक '**भगवान परशुराम**' के पृष्ठ सं० १६२ पर लिखते हैं कि 'तुण्डी केरा' जाति का राजपुत्र राक्षस की शकल सूरत वाला सहस्र अर्जुन का सेनापति था। सहस्र अर्जुन एल वंश का राजा था जिसका राज्य, डाक्टर सत्य केतु के अनुसार, नरबदा नदी से लेकर हिमालय तक फैला हुआ था। इस राजा का नाम 'कार्त वीर्य' भी था जिस ने हिमालय की अन्दरुनी घाटियों तक आ कर ऋषि आश्रमों को जलाया था। महर्षि जमदग्नि को काम धेनु गाय के लिए परेशान किया था, हालांकि वह उनका रिश्तेदार था, और जब भगवान परशुराम को इस बात का पता लगा तो उन्होंने न केवल सहस्र अर्जुन को मौत के घाट उतारा बल्कि कहा जाता है कि आर्य सभ्यता के प्रसार में रुकावट डालने वाले और उसका विरोध करने वाले क्षत्रियों को इक्कीस बार बुरी तरह पराजित किया था। रावण की गिनती यदि राक्षसों

में की जाती है तो कार्तवीर्य को भी राक्षसों में ही गिना जा सकता है। और जब हिमालय की अन्दरुनी घाटियों तक इस का राज्य था तो यह बिल्कुल सम्भव है कि उसका दबदबा कुलूत देश तक भी हुआ होगा। यह भी हो सकता है कि तुण्डी केरा जाति का कोई आदमी इन पहाड़ों का जिम्मेदार बना दिया गया हो, जिस ने कुलूत से लेकर नेपाल तक के इलाके को अपने अधीन करके उस पर कठोर शासन किया हो, जिससे उसे तुण्डी राक्षस कहा गया हो। इस बात की पुष्टि इससे भी हो जाती है कि कार्तवीर्य के जनपद का नाम **'हैहय'** था और उस नाम की एक खेल कुल्लू में बीस वर्ष पहले तक देहातों में लड़के खेलते थे जिस में शब्द **'हय्या-हो'** बार-बार बोला जाता था। यह दो पार्टियों में जोर-आजमाई का खेल होता था जो सम्भवतः हैहय जनपद की सैनाओं का उस समय नारा हो जब कार्तवीर्य ने इस पहाड़ी प्रदेश में आ कर लूट मार की थी। बहरहाल, 'टुण्डी राकस' कुलूत देश की अनुश्रुतियों मेंएक महत्वपूर्ण स्थान रखता रहाहै,चाहे वह तांदी का राक्षस था, चाहे वह कुलूत से नेपाल तक अत्याचार करने वाला तुण्डी केरा जाति का कोई राक्षस रूपी सेनापति था। लाहुल स्पिति से लेकर कुल्लू, सिराज, हिमाचल, गढ़वाल, और नेपाल तक टुण्डी का नाम आज भी लोग जानते हैं और राक्षस के रूप में याद रखते हैं।

वृहत संहिता के कूर्म विभाग-अध्याय चौदह पृष्ट १६४ पर श्लोक २३ में भारतवर्ष के उत्तर पश्चिम में रहने वाली एक जाति का नाम **'फालगुलुका'** लिखा है। शब्द **'फागली'** इस जाति के नाम से समानता रखता है। राक्षस किस्म की यह जाति होगी, और किसी समय इस जाति के लोग भी इस इलाके में जरूर रहते होंगे। इनके त्यौहार का नाम इस जाति के नाम से ही सम्बन्धित हो कर फागली रखा जाना बिल्कुल उपयुक्त जान पड़ता है। इस सिलसिले के श्लोक सं० २२ में शब्द कुलूत भी आया है और एक शब्द 'स्त्री राज्य' भी आया है। सिराज के इलाके में यह भी कहावत है कि किसी समय इस पहाड़ी प्रदेश में स्त्रियों का ही बोल बाला हो गया था, लगभग स्त्रियों का ही राज हो गया था। तब थोड़े से पुरुषों ने एक ऐसे त्यौहार का रिवाज डाला, जिस में दिल खोल कर बेशर्मी और निर्लज्जता का प्रदर्शन किया जाता था। इससे स्त्रियोंमेंलज्जाशीलता इतनी जागृत हो गई कि उन्होंने फिर से पुरुषों के अधीन रहना आरम्भ किया। जागृत बहुत जगह इस फागली के अवसर पर लोग ऐसे गंद-मंद

बोलने का प्रदर्शन अब भी करते हैं। रूपी के इलाके में सदियाले और उसी की तरह दियाली ऐसे त्यौहार हैं जिन से किसी राक्षसी सभ्यता की याद ताज़ा हो जाती है, जिसका वर्णन हम आगे चल कर करेंगे।

हिडिम्बा का नाम हमारी कहानी में पहले भी कई बार आ चुका है और आगे चल कर पाठकों को पता लगेगा कि कुलूत देश में 'ठारह करडू' यदि दिल का अधिकार रखते हैं तो हिडिम्बा का व्यक्तित्व और उसका अस्तित्व जिगर से कम नहीं है। कल्लू के राजाओं को राजपाट दिलाने वाली हिडिम्बा आज भी इस वंश मे दादी कही जाती है, और कुल्लू भर में देवी मानी जाती हैं। परन्तु वास्तविकता यह है कि हिडिम्बा को महाभारत में हिडिम्ब नाम के राक्षस की बहन बताया गया है। कुछ विद्वानों ने इसे निखाद जाति की लड़की कहा है तो भी जनभाषा में इसे राक्षसी ही माना जाता है कहा जाता है कि हिडिम्बा राक्षस का राज्य चम्बा-लाहुल से लेकर गढ़वाल तक हिमालय की तराई में था। भागवत् पुराण के अनुसार हिडिम्ब राक्षस की राजधानी हिमालय की तराई में किसी ऐसी जगह थी, जहां साल के घने जंगल थे। पाँडव जब माता कुंती के साथ लाक्षागृह में जलने से बच कर निकले तो वह इसी हिडिम्ब राक्षस के प्रदेश में घूमते फिरते आ निकले। यहां भीमसेन का परिचय हिडिम्बा से हुआ और विवाह के वचनों का आदान प्रदान भी। सब भाइयों के परामर्श से माता कुंती ने भीमसेन को हिडिम्बा से विवाह की आज्ञा दे दी, और उसे एक साल के लिए हिडिम्बा के साथ रहने की आज्ञा भी दी। एक वर्ष के बाद हिडिम्बा के पेट से भीमसेन का लड़का घटोत्कच्छ पैदा हुआ। भीम सेन वापिस अपने भाइयों में आ मिला और घटोत्कच्छ का पालन पोषण पूरा करके हिडिम्बा ने ईश्वर भक्ति में शेष आयु गुजारने का निर्णय किया। हिडिम्बा का भाई हिडिम्ब आरम्भ में ही नहीं चाहता था कि हिडिम्बा का विवाह भीम सेन से हो। इस लिए भीम सेन और हिडिम्ब की आपस में ठन गई। खुला मुकाबला हुआ जिसमें हिडिम्ब मारा गया और भीमसेन के मार्ग का कांटा साफ हो गया और हिडिम्बा से विवाह रचा लिया गया था। जब तक घटोत्कच, बड़ा नहीं हुआ, राज-काज का काम हिडिम्बा चलाती रही और फिर, जैसा कि ऊपर लिखा गया है, बालिग होने पर घटोत्कच, को इस सारे पहाड़ी प्रदेश का राज सम्भाल कर हिडिम्बा ने कई वर्ष तक घोर तपस्या की। जिस जगह हिडिम्बा ने तप किया वह स्थान **"डूंगरी"** मनाली के निकट ही है,और हिढिम्बा को आज भी '**देवी डूंगरी**' कहा जाता

है। यह गौरव और महानता कुलूत देश को ही प्राप्त है कि जहां एक राक्षसी ने तप करके देवताओं के गुण और ज्ञान प्राप्त किए, आत्म-शक्ति और त्याग की आस्था से उस स्थान को छूआ कि ज़बान के एक साधारण बोल से ही मायापुरी के एक निर्धन युवक को जो कुम्हार के बरतन बेचता फिरता था कुलूत का राजा बना कर प्रसिद्धि के शिखर पर आरुढ़ कर दिया। यही नहीं बल्कि अठारह सौ वर्ष तक उसी वंश को इस पहाड़ी प्रदेश पर अधिकार में रखा, और प्रत्येक कठिनाई में उन का मार्ग-दर्शन किया और हर दुख में सहायता की। यह केवल एक हिडिम्बा राक्षसी की बात नहीं, कुल्लू की पवित्र भूमि से जिसने पारस समझ कर प्यार किया वह लोहा सोना बन गया। परन्तु जिन लोगों ने इसे तुच्छ मिट्टी पत्थर का ढेर समझ कर इसे रोंदने या लूटने की चेष्टा की वह आखिर स्वयं मार्ग की धूलि बन कर रह गए या भटके राही की तरह खाक छानते देखे गए।

जहां कुछ लोगों का यह विचार है कि हिडिम्बा एक निखाद जाति की लड़की थी वहां कुछ लोगों का यह कहना है कि हिडिम्ब का ही दूसरा नाम टुण्डी या तांदी था और इसकी राजधानी जोत रोहतांग या भृगु तुंग से उस तरफ तांदी के स्थान पर थी। यह विचार हमें एक पुरानी हाथ से लिखी पुस्तक से मिलता है। इस के बारे में हमारी अपनी राय निश्चित रूप से कुछ न हो सकती। हमें तो अपने पाठकों को यह बताना है कि पौराणिक सृष्टि के अनुसार राक्षस राज भी कुलूत देश पर रहा है। इन बड़ी-बड़ी घटनाओं के अतिरिक्त स्थानीय छोटे-छोटे राक्षसों के किस्से तो लोगों की ज़बान पर आम प्रचलित हैं। राक्षसों से सम्बन्धित एक विशेष बात बहुत रुचिकर यह है कि यह लोग बचन के बहुत पक्के और सेवाभाव से भरे माने गए हैं। यदि राक्षस ने किसी आदमी को सेवा करने का वचन दिया तो उसे अन्त तक निभाया। ऐसी अनुश्रुतियां भी सुनने में आई हैं जब एक राक्षस ने रात को रोपे में धान लगा दिया, परन्तु अनजाने में उल्टा लगा गया। प्रातः देखा तो धान की जड़ें ऊपर को थीं और पनीरी के सिरे मिट्टी में दबाए हुए थे। राक्षस लकड़ियां लाने गया है तो रात में लकड़ी के ढेर लगा दिए हैं। राक्षस प्रायः रात को काम करते सुने गए हैं। बजौरे के पास एक प्रसिद्ध राक्षस **'जड़ाकसी'** के सम्बन्ध में कहावत है कि वह लोगों को नदी के आर-पार ले जाया करता था और हर फेरे में एक आदमी को चुपके से हड़प कर जाता था। इसी तरह लाहुल में केलंग के स्थान पर भी एक राक्षस पुराने समय में बताया गया है जिसके भोजन के लिए एक आदमी प्रति दिन

आबादी के लोगों को देना पड़ता था। एक बुढ़िया के इकलौते लड़के की जिस दिन बारी आई तो वह बहुत घबराई। उसे एक लामा मिला जिसने राक्षस को अपनी तंत्र शक्ति से मार भगाया। तब केलंग वालों को उससे मुक्ति मिली। इसी तरह सिराज के बीनी गांव में भी कोई राक्षस था जिसे देवता ने समाप्त किया। इस याद में वर्ष में एक बार विशेष दिन देवता की ओर से कुछ रस्में अब तक इस सिलसिले में मनाई जाती हैं। सारांश यह कि कुलूत देश की अनुश्रुत कहानियों में जहाँ एक ओर देवता का वर्णन है तो दूसरी तरफ उसी अनुपात से राक्षस का नाम भी आता है। अतः राक्षसों का उल्लेख भी हमारी कहानी की बहुत जरूरी कड़ी है।

गीठू राक्स—

कुलूत देश में राक्षसों के वर्णन में **"गीठू राक्स"** भी एक विचित्र वस्तु है। पहाड़ों पर कभी कभी रोशनी की लम्बी लम्बी मशालें कितारों में जलती हुई नजर आती हैं। दो-चार से आरम्भ हो कर फिर वे मशालें बीस तीस तक प्रकाशित हो जाती हैं। कभी कोई बुझती है तो कभी कोई रोशन हो जाती हैं। कभी एक जगह खड़ी हैं तो कभी चल-फिर रही हैं। यह नज़दीक से कभी नहीं देखी जातीं, हमेशा दूर से किसी पहाड़ पर या किसी जंगल में नजर आती हैं। कुल्लूई भाषा में इन्हें "गीठू राक्स" कहते हैं। कहा जाता है कि इनके सिरों पर आग की अंगीठियां होती हैं जो उनकी मरजी से जलती और बुझती हैं। यह लोग उनको अपने सिरों पर उठाए कभी प्रकट हो जाते हैं। ये इकट्ठे प्रकट होंगे और इकट्ठे गुम हो जाएंगे। हम ने स्वयं ये जलती बुझती मशालें पहाड़ों पर कई बार देखी हैं। इस लिए उसमें शक-सन्देह की कोई गुंजाइश नहीं। स्थानीय अनुश्रुति के अनुसार इन्हें लावारिस बच्चों की आत्माएं कहा जाता है, जो सिर पर आग लिए इन वीरानों में मालूम नहीं कब से भटक रही हैं।

खण्डा धार—

राक्षस जाति से सम्बन्धित विवेचना अधूरी रह जाएगी यदि हम अपनी कहानी के क्रम में **"खण्डा"** नाम की राक्षसी का वर्णन नहीं करते। सिराज में सैंज की वादी से दूर पीछे वाले पहाड़ का नाम **'खण्डा धार'** है, और इस पहाड़ को यह नाम उसमें रहने वाली खण्डा राक्षसी के सम्बन्ध से मिला

है। कुल्लू में यदि कोई स्त्री भयानक रूप बना कर लड़ने झगड़ने लग पड़े तो उसे **"खण्डा राकसण"** कह कर समानता दी जाती है। प्राचीन समय में खण्डा कुलूत के लोगों के लिए एक स्थायी डर और भय था। यह न केवल रूप-शक्ल में भयानक थी बल्कि यह उस मिट्टी के खमीर से बनी हुई थी जो स्वयं एक जादू है। प्रकृति का यह विचित्र रहस्य आज भी आश्चर्य-जनक है। खण्डा धार के किसी बहुत दूर स्थान पर एक जगह ऐसी मिट्टी है, जो यदि मुट्ठी में काबू आ जाए और उसे लाते हुए आदमी अपनी होश और सूझ-बूझ खो न बैठे तो उसमें इतना प्रभाव है कि यदि इस बालू की मामूली सी मात्रा भी किसी के सिर पर डाली जाए तो वह बेदाम गुलाम बन कर पीछे चलने पर मजबूर हो जाता है। स्त्री हो या पुरुष वह सदा के लिए आज्ञाकारी दास बन जाता है। हजारों जादू टोने इन मिट्टी के कणों के आगे बेअसर हो जाते हैं। इससे बढ़ कर बशीकर्ण की और कोई शक्ति नहीं। परन्तु कठिनाई यह है कि इस स्थान तक पहुँचना और फिर इस बालू को साथ लाना एक कठिन कार्य है और खतरे से भी खाली नहीं है। उस रेत को सम्भालने वाला व्यक्ति स्वयं जादू की दुनिया से दो चार होता है। कहते ह कि मिट्टी को हाथ डालते ही चारों ओर से इतना भयानक शोर शुरू हो जाता है कि यदि आदमी सुदृढ़ निश्चय का न हो तो वह बेहोश हो सकता है। पागल भी हो सकता है और ऐसी स्थिति में जान से भी हाथ धो सकता है। इस मिट्टी को कुल्लुई भाषा में **"खण्डा धारा रा खेड़ा"** कहते हैं। इस मिट्टी के जादू से खण्डा राक्षसी का कोई सम्बन्ध न भी हो; परन्तु जिस धार पर यह मिट्टी है उसे खण्डा के नाम से पुकारा जाता है और यह **"खेड़ा"** भी खण्डा धार का कहलाता है। अब यह अन्दाजा लगाईये कि जिस पर्वत की मिट्टी में यह जादू हो उस पर्वत की मिट्टी से पैदा हुइ खण्डा राक्षसी किन आफतों का परकाला होगी। कहा जाता है कि इस राक्षसी को एक देवी ने ही मारा जिसे **"खण्ड़ासन"** कहा जाता है और जिसका मन्दिर अपर कुल्लू में भाड़का के स्थान पर है। तिब्बती भाषा में कुल्लू के इलाका को **'खांडो लिंग'** कहा जाता है। खांडो का अर्थ राक्षसी डाकिनी है और लिंग का अर्थ पुरी या देश। तब कुल्लू डांकिनियों का देश हुआ या खाण्डो नाम की राक्षसी का इलाका। इसके दोनों अर्थ लिए जा सकते हैं। इससे तो यह प्रतीत होता है कि कुल्लू का सारा इलाका किसी समय खण्डा का ही देश माना जाता था, क्योंकि तिब्बती भाषा में कुल्लू को आज तक खांडो लिंग ही कहा जाता है।

---

* रेत, मिट्टी।

गोघड़ा—

तिब्बत की महा गाथा में **"ज्ञालपो गेसर"** की कहानी हमारे यहां की रामयण और महाभारत के समान है। कहानी के अनुसार ज्ञालपो ने भारतवर्ष पर भी आक्रमण किया था, और बजौरे के स्थान पर एक राक्षस को मारा था, जिसे तिब्बती भाषा में **"दाछोंग"** और कुल्लूई भाषा में **"जड़ाक्सी"** कहते हैं जिसका वर्णन पीच्छे की पंक्तियों में अभी अभी हुआ है। तिब्बत की प्रसिद्ध ऐतिहासिक पुस्तकों में बोधों के सब से बड़े गुरु श्री **'पद्म सम्भव'** को जिसे प्रायः **'पद्मा संभा'** कहते हैं, अपने अन्तिम दिनों में हिमालय की इस तराई में आना पड़ा था, जिसे उस समय 'डाकिनियों' का भी देश कहा जाता था। लिखा है कि तब उन्होंने खालसर के स्थान पर रह कर इर्द-गिर्द के सारे पहाड़ी प्रदेश पर प्रकृति की इस तलिस्माती जाति को किसी हद तक पराजित किया था। मण्डी हिमाचल प्रदेश का यह स्थान आज बोधों का पवित्र तीर्थ है, और निकट ही वे पहाड़ियां हैं जिन्हें सामूहिक रूप में **'गोघड़ा धार'** या **'गोघड़ धार'** कहा जाता है। **गोघड़ा** शब्द कुल्लुई भाषा में उपर्युक्त तलिस्माती जाति को कहते ,हैं जिस में राक्षस, पिशाच डायन या डाकिनी आदि सब शामिल हैं। कांगड़ा में यह शब्द **'घोगड़'** कहा जाता है और इस तरह कुल्लू और कांगड़ा में बच्चों को डराने के लिए यह शब्द आज भी प्रयुक्त होता है। उपर्युक्त सभी पहाड़ी अनुश्रुतियां तथा पहाड़ी भाषा के कितने ही शब्द यह सिद्ध करते हैं कि इस पहाड़ी प्रदेश में पुराणों की वह अनुश्रुत सृष्टि इतिहास के किसी प्राचीन दौर में मौजूद थीं। वृहत संहिता के अनुसार तो भारतवर्ष के उत्तर पूर्व और उत्तर पश्चिम में, जिस में हिमालय की तराई शामिल है, चालीस के लग-भग जातियां आबाद रही हैं, जिन में से बहुतों का तो अब नाम-निशान ही समाप्त हो चुका है, और जिस सृष्टि का वर्णन हम ऊपर कर आए हैं वह तो वृहुत संहिता की रचना से भी बहुत पहले की है। इसी लिए कवि के इस विचार से हमें सहमति है जिसमें कहा गया है—

कुछ खो भी गए कुछ मिट भी गए,
कुछ लौहे खिरद पर बाकी हैं
वह नाम जो शामिल हो न सके,
ऐ इश्क तेरे अफसाने में।।

इसी तरह भूत-प्रेत, थान, पताल, डाइन, डंकन, चुड़ेल, मशाण कितने ही नाम हैं जो स्थानीय रूप में लोगों के विश्वासों पर अब भी छाए हुए हैं। इनका अधिकतर सम्बन्ध तंत्र शास्त्र से है, और तांत्रिक लोग इन से निपटने में पूरी मुहारत रखते हैं। यह भी वास्तविकता है कि बहुत से स्थानीय लोग आज भी देवताओं के साथ-साथ इन अपवित्र आत्माओं की भी पूजा करते हैं और यह सब श्रद्धा से नहीं डर और भय से किया जाता है, ताकि वह अपवित्र रुहें, इन लोगों को तंग न करें। इनके नाम पर विभिन्न पशुओं की बलि देना भी आम रिवाज है। आम तौर पर किसी गांव से इन अपवित्र रुहों को निकालने की रस्म या कार्यवाही का नाम **'जौध'** है, जिस में देवता का गुर हर घर में जा कर वहां से नापाक रुह या जादू टोने को निकाल कर एक घड़े में बंद करता है। वह घड़ा एक आदमी किल्टे में उठाए हुए साथ चलता है जिसे **'जोधा रा किलड़ू'** कहते हैं और अन्त में ये सब रुहें जमा करके गांव से प्राय: नदी के किनारे ले जाकर भगा दी जाती हैं, और इन्हें प्रसन्न करने के लिए सूर या सूंगर, मुर्गा, मछली केकड़ा और भेडू की बलि दी जाती है। विवाह-शादियों के अवसर पर देवताओं के साथ ऐसी रुहों को प्रसन्न करने के लिए भी कुछ किया जाता है। **'भूंगड़ी और पिंदलू' देना** अर्थात् आटे के गोले बना कर उन्हें तोड़-तोड़ कर हवा में उछालना इस रस्म का हिस्सा होता है। अत्यन्त बुरी रुहों को **'भौसा रा पिंद्लू'** अर्थात् राख का पिण्ड दिया जाता है। थान और पताल गांव के निकट गोल पत्थरों की शक्ल में रखे हुए होते हैं, जिन की गांव के लोग कभी-कभी पूजा करते हैं। इन की गिनती बहुत बड़ी रुहों में नहीं की जाती। थान का अर्थ सम्भवत: स्थानीय देवता हो, और पताल वस्तुतः वैताल नाम की कोई जाति थी। कुल्लू के लोक गीत भी इन के होने की पुष्टि करते हैं, कि—

देउआ देबी रै मुख मोहरै,
थाना पातालै रै बौतै।
डाइणी साजे रै गुल्हरु बौबरु,
केंढ़ै गौला न शौतै॥

असूज महीने के पहले दिन कुल्लू भर में एक त्यौहार मनाया जाता है, जो विशेषत: **'डाइणी साजा'** या **'डाइणी ठराणे रा साजा'** कहलाता है।

1. बुद्धि का पर्दा।

इस दिन लोग अपने घरों की छतों पर खड़े हो कर ऊंचे स्वरों में डाइनियों और डंकिनियों को सम्बोधित करते हैं कि वे **'बौड़े बौबरु'** खा कर, जो छत पर कांटों के बीच उन के लिए रखे जाते हैं, गोघड़ा धार को चली जाएं। इस से सिद्ध होता है कि इस जाति का एक केन्द्र गोघड़ा धार भी था जहां से वे इधर-उधर भय फैलाने के लिए निकलती थीं, जिन्हें फिर इस तरह प्रसन्न करके वहीं वापिस जाने के लिए कहा जाता था। यह रिवाज अब भी है और सम्भव है यह जाति अब भी हो। वैसे कुल्लू के दूर देहातों में अब भी ऐसे लोग बताए जाते हैं जो डाइन मंत्र जानते हैं, परन्तु अब इस प्रकार की तांत्रिक कार्यवाहियां धीरे-धीरे खत्म हो रही हैं। एक समय तो यूरोप में भी ऐसा आया है और सारे एशिया में भी था, जब वहां इन बातों का खुला रिवाज पाया जाता था और इसे "Witch Craft", अर्थात् **'डाइण विद्या'** कहा जाता था। समाचार पत्रों से पता लगता है कि सारे यूरोप में' आज भी यह तंत्र विद्या अनेक नामों से प्रचलित है और लोगों के आकर्षण का कारण बनी हुई है। चुड़ेल, डाइन, और डंकन प्राय: स्त्री जातियां होती हैं। इनमें से डाइन का सम्बन्ध मानव वंश से है। इस विद्या की माहिर बिना लिहाज जात-पात कोई भी स्त्री हो सकती है। यह विद्या प्राय: कोई स्त्री अपने वंश में या अपने रिश्तेदारों में से किसी को सिखा देती है, और इस तरह प्राचीन समय से यह अपवित्र तंत्र सम्भवत: आज तक चला आ रहा है, क्यों कि आज भी दूर के देहातों में लोग इन के होने की बात करते हैं और उनसे डरते हैं। इनका विशेष वर्णन आगे चल कर फिर लिखेंगे।

नाग—

संस्कृत साहित्य में नाग साप को कहते हैं। ऐतिहासिक रूप से नाग एक जाति हुई है जिसे वर्तमान काल के विद्वानों ने भारत के आदिवासियों की सूची में दर्ज किया है। नाग और नागा लोगों में आपस में क्या सम्बन्ध है यह तर्क-वितर्क का विषय है। परन्तु कांगड़ा और कुल्लू के पहाड़ी इलाकों में तथा काश्मीर में नाग ब्राह्मणों की एक ऊंची जाति है जिन का प्राय. गोत्र या गोत कश्यप है। काश्मीर में नागों के नाम पर कितने ही चश्में और झीलें हैं, और कुलूत देश में लाहुल स्पिति से ले कर गढ़वाल तक असंख्य मन्दिर, तीर्थ-स्थान, चश्में, बाउलियां और जंगल आदि नागों से सम्बन्धित हैं, उदाहरणार्थ नाग देऊ, नागा रा डेहरा, नागे री नगोण या नगोणी, नाग बोण या नाग वन, नागे री धार, नागे री नाली, नागा रा सौर, नाग चौला या

नाग चला, नागनी, नगौठी, नागा बाड़ी, नागोंई या नगवाईं आदि।' इसी तरह एक बूटी का नाम नागकेसर, और एक बेल का नाम नागरबेल, है। नाग दौण (नाग दमन) नाम की एक ऐसी लकड़ी है जिस के बारे में यह प्रसिद्ध है कि जिस घर में वह होगी, वहां कोई सांप नहीं होगा, और जिस सांप से वह लकड़ी छू जाएगी वह मर जाएगा। नाग पाश या नाग फांस नाम के एक हथियार का वर्णन रामायण और महाभारत में आया है, और नाग ताम्बा या नाग ताम्बा नाम की एक कीमती धात का भी स्थानीय अनुश्रुतियों में वर्णन है। नाग केवल हिमालय की तराई में ही नहीं अपितु सारे भारत भर में फैली हुई जाति थी। दक्षिण में **नागपुर** का मशहूर शहर नागराजाओं की बसाई हुई कोई बस्ती और उन के राज्य प्रसाद की एक भूली बिसरी कहानी प्रतीत होती है। भारत से बाहर मध्य एशिया में **ताशकंद** का क्षेत्र असल में **तक्षक** नाग का देश था जो **तक्षक खन्ड** कहलाता था। तक्ष या तक्षकखण्ड से बिगड़ कर ही ताशकंद शब्द बना है। तक्षक नाग की राजधानी **तक्षशिला थी** जिसे बाद में **टैक्सिला** (TAXILA) कहा जाने लगा। मालूम होता है तक्षक नाग का राज्य विस्तार कुलूत देश तक भी रहा है क्योंकि जगतसुख गांव से स्पिति जाते हुए रास्ते में एक स्थान "**छिक्का**" आता है जो "**तक्षिका**" शब्द का बिगाड़ मालूम होता है। यहां एक चबूतरे पर शिवलिंग है और इसे सर्पों की सीमा समझा जाता है। यदि मान लिया जाए कि "**छिक्का**" शब्द "**तक्षिका**" का बिगड़ा हुआ रूप है तो फिर यह स्थान अवश्यमेव तक्षक नाग की अन्तिम चौकी होगा। इसी तक्षक नाग ने महाभारत के अन्त पर अभिमन्यु के पुत्र राजा प्रीक्षत को डस लिया था या यूं कहें कि आक्रमण कर के परास्त कर दिया था।

महाभारत में नाग कन्या **उलूपी** से अर्जुन के विवाह का वर्णन आया है। इस में कृष्ण के काली नाग को मारने का ही नहीं बल्कि नाग लोक पाताल में जाकर अन्य नाग राजाओं से मुठ-भीढ़ होने का और नाग कन्याओं सें बिलासादि का भी वर्णन है। जब पुराणों का संकलन हुआ तब शेष-नाग को आदि देव शंकर के गले का भूषण और फिर भगवान् विष्णु की शय्या (बिस्तरा) बना दिया गया। यही नहीं कुछ विश्वासों के अनुसार तो यह पृथ्वी हीं शेष नाग के सिर पर खड़ी बताई जाती है। नाग पूजा का रिवाज भी प्राचीन समय से अब तक चला आ रहा है, और नाग पंचमी का दिन वर्ष में एक बार इसके लिए निर्धारित है। **बासुकी नाग का** भी पौराणिक अनु-

श्रुतियों में वर्णन है, जिस का कुलूत देश से भी विशेष सम्बन्ध है जिस का हम आगे उल्लेख करेंगे।

आज भारत वर्ष में नागा आदि वासी आसाम की नागा पहाड़ियों में आबाद हैं। इनका सम्बन्ध ऊपर लिखी हुई नागों की तफसील से क्या है, यह विश्वास से कुछ नहीं कहा जा सकता। हां, विचार तथा अध्ययन और अनुश्रुतियों और घटनाओं से कुछ अंदाजे लगाए जा सकते हैं। आर्य जाति के आरम्भ के बारे ही अभी संसार भर के विद्वानों में विभिन्न मत हैं तो नाग जाति तो उनसे भी पहले की है। इसलिए एक ऐसा गोरख-धन्धा है जिसे सुलझाना आसान काम नहीं। नागों के उप्युक्त ब्योरे से तीन बातें बिल्कुल स्पष्ट हैं। प्रथम यह कि नाग देवता के रूप में सृष्टि के आरम्भ से आज तक मौजूद हैं, और उन कीं पूजा होती है। दूसरे यह कि नाग एक अलग जाति या वंश के रूप में इस देश में रहते थे, जिन के अपने गांव थे, आबादिया थी, जंगल थे, झीलें थीं और चश्मे थे। तीसरे यह कि नाग मानव वंश के रूप में आज भी उत्तरी पहाड़ी श्रृंखला में नाग श्रृंखला में ब्राह्मण और पूर्व में नागा आदिवासियों की शक्ल में हमारे बीच मौजूद हों उपर्युक्त तीन परिस्थितियों में कुलूत की कहानी से इस का किस कदर सम्बन्ध हैं, इस पर हमें हर पहलु से बहस करनी है।

एक बात स्पष्ट है कि नागा आदिवासियों के रूप में तो कुल्लू में कोई लोग हैं नहीं। प्राचीन कुलूत में भी इन लोगों जैसे तौर-तरीकों वाले दूसरे लोगों का कोई निशान नहीं मिलता। थोड़े बहुत नाग कहलाने वाले लोग हैं भी तो वे ब्राह्मण हैं, जो प्रायः और विशेषतः कांगड़े से आए हैं, और उनका नागा आदिवासियों से दूर का भी सम्बन्ध नजर नहीं आता। ब्राह्मणों में यह नाग जाति कब और कहां से आई यह एक रहस्य है। हो सकता है कि नागों के उपासक होने से यह ब्राह्मण नाग कहलाए। या किसी नाग देवता के वरदान से उत्पन्न होने के कारण अपनी जाति नागों से जोड़ दी हो। बहरहाल यह विषय अनुसंधान का है। यहां हम सबसे पहले नागों को देवता मान कर कहानी को आगे बढ़ाते हैं।

अठारह नाग—

हिन्दुओं के साधारणतः तीन सौ साठ देवता माने जाते हैं, और इस

अनुश्रुति के अनुसार कुल्लू में तीन सौ साठ देवता हैं। इन में अच्छी खासी संख्या नाग देवताओं की है। जिस तरह काश्मीर में पौराणिक सृष्टि के अनुसार किसी समय नागों का प्रभाव अधिक रहा है और जिन के नाम पर कई स्थान, चश्मे, और भीलें अब भी हैं, उसी तरह इस सृष्टि का विस्तार और प्रभाव कुलूत में भी हुआ है। कुलूत को हमने अठारह करडू का देश कहा है। इन अठारह करडुओं की निस्बत से ही अठारह नाग और अठारह नारायण की परम्पराएं कुल्लू भर में आज भी आम प्रचलित हैं। परण्तु यह नाग और नारायण का सम्बन्ध और इस पर आधारित लोक परम्पराएं एक ऐसा विचार है जिसकी अलग ही गहरी खोज होनी चाहिए। इस समय तक हम जो समझ पाए हैं, वह यह है कि पौराणिक सृष्टि रचना के अनुसार सब से पहले कश्यप की एक पत्नी से नाग भी पैदा हुए जो कश्मीर में फैले और पूर्व की ओर भी बढ़े। ये अकेले नहीं बल्कि कश्यप की अन्य संतान के साथ-साथ बढ़ते-फैलते रहे। सब से पहला नाग जो कुलूत में प्रकट हुआ और सबसे पहले देवता के रूप में स्वीकृत हुआ वह **बासुका** नाग था, जिसका मन्दिर आज भी व्यास की वादी में नगर से ऊपर **हलाण** गांव में है। पौराणिक कथाओं में बासुकि को नागों का राजा बताया गया है। बासुकि कुलूत में आ कर आध्यात्मिक रूप में प्रकट हुआ या वह कहीं बाहर से चल कर यहां आया और हलाण गांव में स्थित हुआ, दोनों कल्पनाएं स्वीकार की जा सकती हैं। कहा नहीं जा सकता कि बासुकि कुलूत में कहां से आया। बहरहाल वह आया होगा तो बिल्कुल उन लोगों की तरह जो समय समय पर पहाड़ों में आते रहे हैं। उन ऋषियों की तरह जिन्होंने बाहर से आ कर कुलूत में अपने आश्रम बनाए। उन राजाओं की तरह जिन्होंने कुलूत में आकर कदम जमाए और अपने राज्य स्थापित किए। बासुकि यदि राजा होगा तो उसने इर्द-गिर्द जरूर राज्य स्थापित किया होगा। और यदि बासुकि इस पहाड़ी प्रदेश में देवता के रूप में प्रकट हुआ होगा तो उसने हलाण में अपना आश्रम बनाया होगा, या अन्य ऋषियों की तरह यहां तप किया होगा। बरहाल बासुकि नाग ने किसी न किसी रूप में हलाण में निवास किया। स्थानीय अनुश्रुतियों के अनुसार इस देवता को **बासू नाग** कहते हैं। और इसका स्थान गांव से ऊपर एक सुन्दर जगह पर है जिसे नगोणी कहते हैं। यहां **सौर** नाम से एक दलदल जगह है जिसके आगे पानी का एक झरना है। विचार है कि यहां कभी वास्तव में एक छोटी सी झील या बड़ा सा तालाब रहा होगा जिस के पास बासुकि ने अपना आश्रम बनाया होगा। इसी समय की एक घटना है जिस ने कुल्लू में अठारह नागों की कहानी को

जन्म दिया।

कहते हैं एक बार बासुकि एक सुन्दर युवक का रूप धारण कर घूमता फिरता मनाली से ऊपर गोशाल नाम गांव की ओर जा निकला। गांव में शौइरी का मेला था। घर-घर में सूर अर्थात् सुरा का दौर चल रहा था। नाच की मस्ती, गानों की लय, शहनाई की मधुर लहरें वातावरण को मस्त और रूमानी बनानेमें सोने पर सुहागे का काम कर रही थीं। कुल्लू की पृष्ठ भूमिमें ज्ञान, भक्ति, प्रेम, वासना सभी पनपते रहे हैं। यहां यदि महर्षि व्यास ने गीता ज्ञान के तराने गाए थे तो मनु महाराज कामायनी और भीम सेन जैसे योद्धा निखाद कन्या हिडम्बा के काम पाश में भी उलझ ही गए थे। सम्भवतः ऐसी ही घटना बासुकि को भी पेश आई। दिन भर मेला देखने के बाद रात जिस घर में वह महमान हुआ उस घर के मालिक की लड़की उसकी सुन्दरता पर आसक्त हो गई। इधर बासुकि के दिल की धड़कनें भी तेज़ हो गईं। दो चार दिनों के मेल-जोल के बाद दो दिल इतने निकट आ गए कि वे एक हो जाने पर मजबूर हो गए। बासुकि बहुत दिनों तक गोशाल में रहा। एक दिन बासुकि को गोशाल छोड़ कर जाना पड़ा परन्तु वह जाने से पहले घर वालों पर अपने बासुकि नाग होने का भेद खोल गया। उसने बताया कि उनकी लड़की गर्भवती है और उसके पेट में अठारह नाग पल रहे हैं। उनके जन्म लेने पर वे लोग घबराएं नहीं, बल्कि उनका नियमित रूप से पालन-पोषण करें। उसने उन्हें विश्वास दिलाया कि उस वंश के फलने-फूलने में कोई कमी नहीं होगी, और जब किसी कष्ट के समय उसे याद किया जाएगा, वह उनकी सहायता को आएगा। बासुकि चला गया और नियत समय पर उस लड़की के पेट से अठारह नागों ने जन्म लिया। अठारह सांप एक लोथड़े के रूप में बिल्कुल ऐसे ही बाहर आए, जैसे बच्चा पैदा होता है। उन्हें उठा कर मिट्टी के एक बड़े बरतन में जिसे 'भांदल' कहते हैं, सुरक्षित रखा गया।

प्रकृति के इस विचित्र कारखाने में क्या-क्या सम्भव है यह तो अनन्त-काल से आज तक मानव देख ही रहा है। नागों के जन्म का किस्सा तो इतिहास के किसी दौर में हुआ होगा, अन्यथा आज के संसार में भी किसी स्त्री के सांप या अन्य विचित्र रूप, के पदार्थ पैदा होने के दष्टांत मिलते ही रहते हैं। और तभी प्रकृति के इन चमत्कारों से प्रभावित हो कर कवि ने कहा है—

तख़्लीके[1] काइनात[2] के दिलचस्प जुर्म पर
हंसता तो होगा ख़ुद भी वोह् यज़दां[3] कभी कभी ।।

अठारह नागों का गोशाल गांव में भांदल में रखे हुए पालन-पोषन होता रहा। उन्हें दूध पिलाया जाता, और देवता समझ कर रोज़ उनकी पूजा की जाती रही। रिवाज के अनुसार एक कड़छी में आग और उसमें बेठर नाम की एक सुगन्धित बूटी जला कर उन की आरती उतारी जाती थी। एक दिन की बात है कि घर की स्वामिनी किसी काम से बाहिर चली गई, और घर की एक दूसरी स्त्री को, सम्भवतः बहू को, नागों की पूजा करने की हिदायत कर गई। उसने नियमानुसार कड़छी में आग और बेठर डाला और भांदल के निकट जा कर खड़ी हो गई। वह सम्भवतः इस रहस्य से परिचित न थी, और यदि परिचित थी तो उसने अनजाने में, या रहस्य जानने की उत्सुकता में भांदल का ढकना खोल दिया। नागों ने यह जान कर कि उनके लिए दूध आया है भांदल के मुंह तक लपकने की कोशिश की। और ज्यूं ही यह दृश्य बिचारी पुजारिन ने देखा तो उसकी होश उड़ गई। भय के कारण पूजा की आग और बेठर वाली कड़छी उसके हाथ से उलट गई। आग के अंगारे नागों के ऊपर जा पड़े। बहुतों के शरीर झुलस गए। एक नाग की एक आंख जल गई। भांदल के अन्दर एक विचित्र उथल-पुथल मच गई। ऐसी भगदड़ मच गई कि जिसका जिधर जोर लगा उसने उधर से भांदल फाड़ कर निकलने की कोशिश की। कहते हैं कि जो नाग सबसे पहले भांदल के मुंह से सुरक्षित बाहर निकला वह 'शिरघन' के नाम से प्रसिद्ध हुआ। शिरघन का शाब्दिक अर्थ 'सिर-फोड़' है। धूएं से जिस का शरीर कदरे बेरंग हुआ उसे ही सम्भवतः 'धूमल' अथवा धूम्बल कहा गया। उसके सम्बन्ध में अनुश्रुति है कि जब वह आसानी से भांदल के मुंह से बाहर न निकल सका तो उसने इतना ज़ोर लगाया कि उस बरतन के मुंह का ऊपर का भाग ही तोड़ कर बाहर निकला जो उसके गले में फंसा रहा। जिसकी आंख जली वह सम्भवतः भाग नही सका। इस लिए गोशाल में ही रहा और 'काणा नाग' कहलाया। बहरहाल ये नाग वहां से निकले, और जिसके जिधर सींग समाए उधर चले गए।

अठारह नाग की भांदल आज भी गोशाल गांव के "लौंउंद" खानदान में मौजूद है। आज भी उस की पूजा होती है। कुल्लू के विशेष बहुत से नाग देवता यहां आदर प्रकट करने आते हैं। यह मिट्टी का बरतन लगभग चार फुट ऊंचा और बीच में भी लग-भग इतना ही गोल है। इसमें कितने ही छेद

1. बनाना, 2. संसार, 3. ईश्वर।

हैं जिन से वे नाग बाहर निकले। यह भांदल कब से इस खानदान में चली आ रही है, यह उस खानदान के लोग भी नहीं जानते। परन्तु यह भांदल है, और कुलूत देश में नागों के पैदा होने की उपर्युक्त कहानी की शहादत है। यह कोई धोखा या फरेब नहीं कि चतुर और चालाक लोगों ने एक मनोरंजक ऐतिहासिक घटना से अपने आप को सम्बन्धित करने के लिए भांदल का ढोंग रचाया हो। बल्कि सीधे-सादे लोगों के भोले भाले दिलों की वह श्रद्धा है जिसे वह अत्यन्त सादगी से अनुश्रुति के रूप में अपने सीने से लगाए बैठे हैं। इनकी धार्मिक भावनाएं इससे सम्बन्धित हैं। इस वंश की अनुश्रुत कहानी के अनुसार इस वंश की वह लड़की छत पर सोई हुई थी जब उस पर बासुकि नाग की छाया पड़ी और वह गर्भवती हो गई, इस तरह अठारह नाग बासुकि के मानस पुत्र हुए अर्थात् केवल मन की शक्ति से पैदा होने वाले पुत्र। पुराणों में तो कई स्थानों पर मानस पुत्र होने के उदाहरण मिलते हैं। बाइबल में भी ईसू मसीह को खुदा का बेटा माना है, क्योंकि वह कंवारी मरियम के पैदा हुआ था। अतः बासुकि नाग के अठारह नाग लड़कों के जन्म और भांदल में इनके पालन-पोषण आदि की कहानी साधारण कहानी नहीं बल्कि एक वास्तविकता है जो भांदल की शक्ल में तथा नाग मंदिरों के रूप में कुल्लू-मण्डी के इलाकों में आज भी विद्यमान हैं। कुल्लू भर में फैले हुए इन नाग देवताओं का रथ जब वसिष्ट आश्रम की यात्रा पर आता है तब वह गोशाल गांव में जा कर 'भांदल' को भी सम्मान देता है जिसे कुल्लू की भाषा में "नुआस देणा" कहते हैं। परन्तु जब बासुकि नाग इस ओर आता है तब गोशाल गांव में न जा कर व्यास नदी के इस ओर से ही गांव की तरफ "नुआस" देता है और अपनी श्रद्धा प्रकट करता है और कवि के शब्दों में सोचता भी होगा कि :—

वोह गलियां अभी तक हंसीनो जवां हैं।
जहां हम ने अपनी जवानी लुटा दी॥

भांदल से निकलने के बाद वे अठारह नाग कहाँ पहुंचे, कहाँ ठहरे और कहां-कहां जा कर प्रकट हुए इस का पूरा विवरण हमें अभी मिल नहीं सका। जो अपनी आध्यात्मिक शक्ति तथा अपनी खानदानी विद्या और कला के कारण प्रसिद्ध हुए वे अपना नाम देवता के रूप में आज तक जीवित रख पाए हैं। सब से पहले निकलने वाला नाग जिसे **शिरघण** कहा जाता है, जगतसुख से ऊपर भनारा गांव में प्रकट हुआ, जहां इस का मंदिर आज भी स्थित है। इस मन्दिर में एक शिवलिंग है, और पास ही एक छोटी सी

पत्थर की पिण्डी है जो सम्भवतः शिरघण को ज़ाहिर करती है। शिरघण केन्द्रित रूप में शिवलिंग क्यों है, यह कुछ पता नहीं, परन्तु अंदाज़ा लगाया जा सकता है, कि उस युग में मुख्यतः भगवान शिव ही सब से बड़े देवता माने जाते होंगे और शिरघण भी उन का ही उपासक होगा। एक बात तो निश्चित रूप से मानी जाती है, कि दूसरी आदिवासी जातियों की तरह नाग जाति के लोग भी महादेव या महाकाल को आदि देव मानते थे और उस समय नाग का निशान ही धार्मिक चिह्न और राजाओं की राजमुद्रा एवं मुकट में निशान के तौर पर बरता जाता था।

हरिवंश पुराण में जहां हिमालय को पहाड़ों का राजा और पीपल को वृक्षों का राजा कहा गया है, बासुकि को नागों का राजा बताया गया है। बासुकि से सम्बन्धित ऊपर लिखित अनुश्रुतियों का, जो किसी न किसी रूप में ठीक है, कुलूत देश की कहानी से सीधा सम्बन्ध सिद्ध होता है। देवताओं के राजा इन्द्र और मानव वंश के पहले राजा मनु का कुलूत से सम्बन्ध हम पहले लिख चुके हैं। नाग राज बासुकि का प्रकटन और उसके अठारह नागों का कुलूत में जन्म और पालन पोषण तथा उनके नाग मन्दिरों की मौजूदगी इस प्रदेश की ऐतिहासिक खोज में एक मनोरंजक वृद्धि है जिससे सिद्ध होता है कि नाग वंश के प्रसार में भी कुलूत का न केवल विशेष भाग रहा है, बल्कि नागों के राजा बासुकि के वंश को जन्म देने का गर्व भी इस देश को प्राप्त है।

यदि मान लिया जाए कि 'शिरघण' परम्परानुसार भांदल से भागा हुआ सर्प नहीं है तो शिरघण नाग वंश का एक ऐसा राजा अवश्य हुआ है जिस ने हिमालय की तराई में गंगा और यमुना तक के इलाके पर शासन किया है। **आर्क्योलोजिकल सर्वे आफ इण्डिया रिपोर्ट** (Archaological Survey of India Report) **खण्ड १४ के पृष्ठ ११२ पर जनरल कनिंघम** ने कनैत प्रधान आबादी वाले इलाके को सुरघन लिखा है, और इस बात की पुष्टि **श्री के० एम० मुन्शी की पुस्तक 'विष्णु गुप्त चाणक्य'** से भी होती है, जिस में वह शिवालिक की पहाड़ियों से लगते हुए इलाके को **स्रुघ्न** कहते हैं। निस्सन्देह **स्रुघ्न** शब्द शिरघण से बहुत दूर नहीं है। एक समय इतिहास में ऐसा ज़रूर आया होगा जब इस शिरंघन नाग ने हिमालय की तराई में अपना राज्य स्थापित किया होगा, और तब उस के नाम पर इस सारे इलाके का नाम, जिसमें कुलूत भी शामिल है, स्रुघ्न पड़ा होगा। स्रुघ्न कुलिंदस या कुनिंदस राज्य का एक भाग था, जो काश्मीर तक फैला हुआ था। शिरघण नाम

से सम्बन्धित कुल्लू में हिमालय की एक चोटी का नाम 'शिरघण तुंग' अर्थात् 'स्त्रुघ्न तुंग' है जो उक्त अनुश्रुति का एक और प्रमाण है।

भांदल से निकलने वाले नागों में से एक **'फाहल'** नाम से 'प्रीणी' गांव में प्रकट हुआ। इस गांव के पास से बहने वाला नाला इसी नाग के नाम से **'फाहली नाल'** कहलाता है। बटाहर का **पोउंली नाग** और **व्यासर का कूमरदान या कूमरदानु** भी इन अठारह नागों में से हैं। **धूमल नाग** कटराई से पीछे कोठी बड़ागढ़ के हलाण गांव में जा निकला, और जैसा कि ऊपर लिखा गया है, जिस नाग की आंख जल गई वह **काणा नाग** और **गोशाली नाग कहलाया,** जो बहुत बड़ा देवता माना जाता है। लाहुल के गोशाल गांव से भी इसका सम्बन्ध बताया जाता है। **लाहुल के मरबल गांव में अठारह नागों का मन्दिर है।** परम्परा अनुसार यहां के लोग तथा ठोलंग गांव के लोग गोशाल गांव में आ कर गोशली नाग को बड़े सम्मान आदर और सत्कार से बुलाकर लाहुल ले जाते रहे हैं। यद्यपि लाहुल से ले कर औटर सिराज, हिमाचल प्रदेश और गढ़वाल तक नाग देवताओं का एक जाल सा बिछा है, फिर भी विश्वास से कुछ नहीं कहा जा सकता कि इन में से कौन-कौन इन नागों में गिने जा सकते हैं।

लाहुल के सब से बड़े देवता का नाम **'घेपन'** है। इसे राजा घेपन भी कहते हैं। इसका मन्दिर सीसू के स्थान पर है। एक बहुत लम्बा लकड़ी का शहतीर है, जिसे कपड़ों से सजाया जाता है। सिर की ओर कदरे मोटा और पीछे की तरफ क्रम से पतला होता है। जिस तरह कुल्लू में रथ या कण्डु को सजाया जाता है, उसी तरह लाहुल में भी देवता घेपन का सुन्दर शहतीर सजाया तथा बनाया जाता है, और कन्धों पर उठा कर ले जाया जाताहै। शायद लोग परम्परा को भूल गए हैं, परन्तु यह शक्ल-सूरत और बनावट बिल्कुल स्पष्ट करती है कि घेपन जरूर नाग देवता है और नाग राजा हुआ है। राजा घेपन बारह वर्ष के बाद प्राय: कुल्लु आता है, तो गोशाल गाँव में जा कर सम्मान जरूर पेश करता है, जो यह सिद्ध करने के लिए काफी है कि घेपन नाग देवता है और गोशाल से उस का कोई सम्बन्ध ज़रूर रहा है। स्पष्ट है कि घेपन इन अठारह नागों में से एक है जो भांदल में से निकल कर लाहुल की ओर चला गया हो, और सीसू के स्थान पर अपनी विशेषतांओं के साथ प्रकट हुआ हो। इस नाग राजकुमार ने उस तरफ जा कर अपना राज्य स्थापित किया हो, जिस के कारण उसे राजा घेपन कहा जाता है। भाषा के आधार पर शब्द 'घेपन' ठाकुर मंगल चन्द भूतपूर्व वज़ीर लाहुल के

शब्दों में, 'ञे+पंग' अर्थात 'ञेपंग है। ञे का अर्थ 'पुण्य' तथा पंग का अर्थ 'त्याग' या 'छोड़ना' है। अतः इसका अर्थ हुआ जिसने पुण्य या नेकी छोड़ दी हो। और सम्भवतः यह इस लिए कहा गया कि बौध धर्म के इस इलाके में फैलने के बाद 'अहिंसा परमो धर्म' के नियम के विरुद्ध देवता घेपन पशु बलि स्वीकार करता है। इस लिए बौध धर्म के अनुयायों ने बाद में शब्द घेपन का यह अर्थ इस प्राचीन देवता के मान को कम करने के लिए घड़ा होगा क्योंकि ऐसे ही लोगों ने 'आर्य' शब्द का अर्थ भी "बलि देने वाला" लिखा है, हालांकि आर्य का अर्थ सर्वदा शुभ और स्रेष्ठ रहा है। कुछ लोग नितान्त अज्ञानता के कारण देवता जमलू को जयमल और राजा घेपन को 'फत्ता' कहते हैं, जो राजस्थान के इतिहास से सम्बन्धित दो राजकुमार भाई हुए हैं। ऐसे लोग निस्सन्देह स्वयं अनभिज्ञ हैं और दूसरों को अनभिज्ञ बनाने के दोषी हैं।

कुल्लू में काली नाग भी एक प्रसिद्ध देवता है जिस का मन्दिर शिरढ़ में है। परन्तु इसे हम बासुकि नाग के वंश में गिन नहीं सकते। कालिया का वर्णन महाभारत में अलग आता है, जिसे कृष्ण ने मारा था। यह तो सम्भव नहीं कि शिरढ़ का काली नाग वह ही हो, परन्तु उसी वंश का दूसरा नाग हो सकता है, क्योंकि कुल सम्प्रदाय के रूप में भी एक नाम चल पड़ता है। इस काली नाग की टक्कर सामने जाना गाँव के देवता **'जीव नारायण'** से हुई बताई जाती है। यह लड़ाई सम्भवतः **अरछण्डी** के स्थान पर हुई होगी, क्योंकि इस जगह काली नाग के नाम से उसकी ओडी रखी गई है, जिसे **काली ओड़ी** कहते हैं। किसी के मरने पर ओडी रखना अर्थात एक लम्बे पत्थर का जमीन में गाड़ना बहुत पुराने समय में रिवाज था जो राजाओ में अभी तक प्रचलित था। नगर के स्थान पर भी देऊ-नाग है, जिसे **बाहुडु नाग** कहते हैं। इसी के नाम पर एक नाला गाँव के बीच में वहता है, जिसे **बाहडु नाल** कहते है। नगर की प्रसिद्ध साढ़ी जातर के दौरान अन्तिम मेला भी इसी देवता नाग की याद में अब तक प्रचलित है जिसे '**बाहडू री खेल**" कहते हैं। इसी गांव के जंगल में एक जगह है **'नागा रा डेहरू'** जो किसी युग में जरूर नाग मन्दिर रहा होगा। यहाँ पानी का चश्मा अब भी है। इसी तरह **'नागे री नाली'** एक और जगह भी इसी गांव में है। व्यासर में **'कूमर नाग'** या **'कूमर दानू'** तो इन अठारह नागों में ही गिना जाता है। स्थानीय रूप में इन नागोंके प्रकट होने की जुदा-जुदा कहानियां हैं, और कुछ बन गई हैं। इसी तरह अन्तर

सिराज में चेथर का '**बालू नाग**' बहुत प्रसिद्ध देवता है। इसके प्रकट होने का किस्सा यूं है कि एक दिन इस गांव की एक वृद्ध स्त्री घर पर अकेली थी। शाम को एक आदमी आया और कहने लगा कि मुझे भूख लगी है। बुढ़िया ने अपनी मजबूरी बताई, कि उसके पास और तो सब कुछ है परन्तु रोटी पकाने के लिए लकड़ी नहीं है। उस आदमी ने लकड़ी ला कर दी। बुढ़िया ने रोटी पकाई और बड़े आदर से अतिथि को खिलाई। सवेरा हुआ तो देखा अतिथि गायब है और घर के चारों ओर लकड़ी के अम्बार लगे हुए हैं। बुढ़िया ने समझ लिया कि ऐसा चमत्कार दिखाने वाला कोई देवता ही हो सकता है। उसी समय देवता ने भी प्रकट हो कर वहीं रहने की इच्छा बताई, और तब घर में ही उसका मन्दिर बना कर नाग देवता की स्थापना कर दी गई, और फिर इलाका भर में खुशी और खुशहाली आने से इस की भी मान्यता आरम्भ हो गई।

काइस में माहुटी नाग, मणिकरण से ग्यारह मील दूर '**रुद्र नाग**' या '**लुद्र नाग**', औटर सिराज में देउगी का '**चम्भू नाग**', '**कतमोरी नाग**' दलाश का '**कठेड़ी नाग**', गोपालपुर का छमांहूं नाग, श्रीगढ़ का कण्ढा नाग, देथुआ का राई नाग, रामगढ़ कण्ढी का नात्री नाग, सरपारा रियास्त रामपुरबुशहर से नौ नागों का जन्म, यहाँ तक कि सारा हिमालय का दामन नाग देवताओं से भरा पड़ा है। मण्डी में मांहूं नाग बहुत प्रसिद्ध है जिसका वर्णन कुल्लू के एक बहुत पुराने लोक गीत में भी आता है। इस पहाड़ी प्रदेश में केवल नाग ही देवता नहीं नागन भी देवी मानी जाती है। कुल्लू में नागनी की धार और नागनी का गढ़, औटर सिराज में ग्याघी के स्थान पर बूढ़ी नागन का मन्दिर, कांगड़े नूरपुर में नागनी के स्थान और उनके नाम पर नागनी के मेले आज भी प्रसिद्ध हैं। इन सब की जुदा-जुदा कहानियाँ हैं, परन्तु उनके विवरण के लिए स्थान नहीं है। इनकी अलग कहानियाँ लिखी जाएं तो एक अलग पुस्तक की रचना हो सकती है। कुलूत देश के ये नाग देवते अठारह नागों के अतिरिक्त कब और कहाँ से आए, यह प्रश्न अभी विचाराधीन नहीं है। परन्तु इस समय तक जो व्यौरा हम पाठकों को दे सके हैं, वह यह सिद्ध करने के लिए काफी है कि इतिहास के एक दौर में कुलूत देश में नाग वंश का विस्तार जरूर हुआ है, यद्यपि उसकी कल्पना हमारे सामने केवल नाग देवताओं के रूप में ही शेष रही है। परन्तु यह कल्पना केवल कल्पना ही नहीं, कुल्लू भर की अधिक आबादी के दिल में नाग देवता के प्रति श्रद्धा और मान किसी

दूसरे देवता से कम नहीं है। बल्कि कहीं-कहीं तो नाग देवता ही शेष देवताओं पर छाया हुआ है। नाग देवता इष्ट के रूप में माना जाता है। और साधारणतया जीवन और मृत्यु के बीच आने वाली सभी समस्याओं के समाधान के लिए उसी की शरण ली जाती है। अतः कुलूत की कहानी में नाग का देवते के रूप में दर्जा बिल्कुल बाकी देवताओं के समान है, और ऐसा प्रतीत होता है कि किसी नाग के देवता के रूप में माने जाने की पृष्ठ भूमि भी वैसे ही है जैसे किसी महान शक्ति, आध्यात्मिक बल वाले किसी ऋषि या बलशाली तथा धर्मात्मा राजा के देवता के रूप में स्वीकार किए जाने या प्रसिद्ध हो जाने की होती है।

हिन्दुओं की पौराणिक परम्परा अनुसार तो नागों को देवता ज़रूर माना गया परन्तु फिर भी अच्छे और बुरे नागों में अन्तर ज़रूर रखा गया है। शेष नाग यदि सृष्टि के आरम्भ से देवता माना गया तो कालिया नाग को मानव जाति का शत्रु और सरापा बुराई समझ कर भगवान कृष्ण ने उसे लताड़ा भी है। मनुष्य आदि काल से स्वार्थी रहा है, इसलिए जिसे भी उसने सहानुभूति वाला तथा सहायक पाया उसे उसने सन्मान दिया और जिस में उसने शत्रु से टक्कर लेने की शक्ति देखी और जिस में विरोधी के मुकाबले में आध्यात्मिक शक्ति का अनुभव किया, ऐसी परिस्थिति में उसने न केवल पवित्र शक्ति को देवता स्वीकार किया बल्कि कुछ परिस्थितियों में बुरी ताकतों से डर कर उसे भी प्रसन्न रखने की नीति अपनाई। इस लिए नागों को देवता मान लिया गया तो कोई प्रकृति से भिन्न कोई बात नहीं हुई। विश्वास कर लेना चाहिए कि इतिहास के किसी दौर में इस पहाड़ी प्रदेश में नागों ने ज़रूर कभी महान शक्तिशाली होने का प्रमाण दिया होगा। अधिकार भी स्थापित किया होगा और उस समय रहने और बसने वाले लोगों की कई परिस्थितियों में सहायता भी की होगी। और तब ऐसे नागों को देवता मान लिया गया जो आज तक देवता माने जा रहे हैं, जिन के मन्दिर बन गए, रथ बन गए, प्रतिमाएँ घड़ी गईं, और बाद में राजाओं ने इन मन्दिरों के साथ ज़मीन की मुआफियां लगा दीं।

बासुकि नाग की कहानी हम ऊपर लिख चुके हैं। उस से यह बात सिद्ध हो जाती है कि नागों में अपनी एक विशेष कला थी जिससे वे मनुष्य के रूप में भी रहते थे और समय पड़ने पर साँप का शरीर भी धारण कर लेते थे। गन्धर्वों की चाक्षुषी विद्या, राक्षसों की माया और नागों की

विशेष कला तो इन्हें प्राकृतिक रूप से उस वंश में होने के नाते प्राप्त होती थी, और शेष विद्या कुल परम्परा में एक से दूसरे को सिखाई जाती थी। नागों को शास्त्रों में विद्याधर भी कहा गया है। मनुष्य के रूप में हमेशा ये ब्राह्मण वेश में रहे हैं। राजा परीक्षित की कहानी में तक्षक नाग की वैद्यराज धन्वंतरि से भेंट ब्राह्मण भेस में ही बताई गई है।

वर्तमान युग के अनुसंधान कर्ता नागों को एक अलग जाति तो मानते हैं, परन्तु ऊपर लिखी बाकी बातों से वह सहमति नहीं रखते, न रख सकते हैं क्योंकि आध्यात्मिक ससार और आध्यात्मिक भावनाओं से वैज्ञानिक प्रभावित नहीं हैं। मानवीय प्रतिष्ठा का अन्दाज़ा भी वे केवल वहीं तक लगा सकते हैं जहाँ तक उनके सूक्ष्मदर्शी यंत्र उनकी सहायता कर सकते हैं। वे इक़बाल की इस बात को नहीं समझ सकते कि— "**सितारों से आगे जहाँ और भी हैं**" क्योंकि अभी तो इनकी दूरबीनें चांद और मंगल तक सीमित हैं। वे यह तो मानते हैं कि महाभारत की लड़ाई के बाद तक्षक ने परीक्षित पर आक्रमण किया था। परन्तु यह नहीं मानेंगे कि तक्षक ने नाग बन कर परीक्षित को डसा था। अत: आज के अनुसधान कर्ता नाग का मूल रूप में देवता होना नहीं मान सकते। उनका तो यह विचार है कि कुलूत देश में नाग थे ज़रूर और ये नाग इस वंश के वे लोग हैं जिन्होंने किसी समय छोटे-छोटे इलाकों पर अपना प्रभुत्व जमाया और उस समय की दूसरी आबाद जातियों पर शासन किया। उनमें से जो श्रेष्ठ राजा हुए और जिन्होंने भक्ति और तप से आध्यात्मिक बल प्राप्त किया लोगों ने उन्हें देवता मान लिया, और जो अत्याचारी तथा जाबर थे लोग उनसे लड़ते भिड़ते रहे।

और अधिक अनुसंधान की रोशनी में यदि नागों को एक अलग जाति या वश मान लिया जाए तो वासुकि की कहानी एक नितांत भिन्न मोड़ पर आ जातो है। तब वासुकि नाग वश का बहुत बड़ा राजा हुआ होगा, और उसने कुलूत को पराजित करके कुछ समय यहां निवास किया होगा। हलाण उसकी राजधानी रही होगी। गोशाल शौइरी के मेले पर उसने उस लड़की के सौंदर्य, सादगी और भोलेपन से प्रभावित हो कर उस से विवाह कर लिया होगा, बिल्कुल उसी तरह जिस तरह भीम ने हिडिम्बा से और अर्जुन ने नाग कन्या उलूपी से तथा महर्षि वेद व्यास ने डेका से विवाह किया था। और तब वासुकि के अठारह पुत्र हुए होंगे, जिन्होंने बड़े होकर वासुकि का राज्य आपस में बांट लिया होगा, और अपने अपने इलाकों

पर राज्य स्थापित किया होगा। हमें आधुनिक विचारधारा पर आधारित इस कहानी को स्वीकार करने में भी कोई आपत्ति नहीं। परन्तु गोशाल के लौंउदू वंश में अब तक चली आ रही उस भांदल और उससे सम्बन्धित अठारह नागों का जन्म और पालन-पोषण की अनुश्रुति को भी हम आसानी से नजर अन्दाज़ नहीं कर सकते। फिर भी परिस्थितियों, घटनाओं और तथ्यों की रोशनी में नाग इस पहाड़ी प्रदेश में एक अलग जाति के रूप में ज़रूर आबाद रहे हैं। आर्यों के अधिकार में आने से बहुत पहले यह गन्धार, काश्मीर से लेकर आसाम तक फैले हुए थे। विभिन्न नाग राजाओं की छोटी बड़ी रियास्तें स्थापित थीं। इन के साथ-साथ गन्धर्व, किन्नर, यक्ष, राक्षस, पिशाच, कोल और किरात जैसी जातियाँ भी थीं। उनके भी अपने इलाके थे, गांव थे, और बस्तियां थीं। उस समय भी मिश्रित सी प्रजा थी जैसी आज है। ये जातियां अपने अपने समय पर प्रभुत्व में भी आईं और फिर धीरे धीरे एक एक करके मिट गईं।

गनेड़ या नगेड़—

नाग वंश के मिटने की धार्मिक परम्पराएं कुल्लू में अब भी बाकी हैं। अपर कुल्लू के नगर, जगतसुख और मनाली गांवों में सरदियों में एक मेला होता है, जिसे **गनेड़** कहते हैं। यह शब्द वास्तव में **'नाग हेड़'** से बिगड़ कर बना है। नाग हेड़ से **'नगेहड़'**, नगेहड़ से **'नगेड़'** और नगेड़ से **'गनेड़'** कहा जाना कुल्लू के लोगों की भाषाई परम्परा के बिल्कुल अनुकूल है। शब्द को उल्टा बोलना प्रायः कुल्लू के लोगों की साधारण सी आदत है। वे कचहरी को चकहरी, मसाला को समाला, मदरसा को दमरसा, नथान को थनान प्रायः कहते हैं। इसलिए नगेड़ की बजाए गनेड़ कह दिया जाना तो स्वाभाविक ही है। **अतः शब्द 'गनेड़' वास्तव में नगेड़ है और 'नगेड़' निस्संदेह 'नागहेड़' का संक्षेप है।** कुल्लूई भाषा में **'हेड़'** का अर्थ समूह है जो प्रायः पशुओं और विशेषतः गाय-बैलों के समूह के लिए आम तौर पर बोला जाता है। यूं लगता है प्राचीन समय में मनुष्य के समूह को भी **'हेड़'** कहते थे। इसीलिए कई गांव आजकल भी 'हेड़' के आधार पर नामित हैं-जैसे जटों का समूह जहां आबाद हो उसे **जटेहड़** कहा जाता है। भट्टों के गिरोह की आबादी को **भटेहड़** या **भटेड़ह** और गूगे चौहान के मानने वालों की जगह को **गगेहड़** नाम दिया जाता है। इसी तरह **टकरेड़ह, धमसेड़ह** आदि नाम रखे गए। अतः नाग लोगों के गिरोह जहां रहे उसे ज़रूर **नगेड़ह** कहा गया। इस सिद्धान्त के अनुसार

बहुत पुराने समय में नगर में नाग वंश का गिरोह आबाद था। जगतसुख और मनाली में भी अवश्य नाग आबादियां होंगी जिन्हें नगेड़ह कहा जाता होगा, क्योंकि आज भी जहाँ-जहाँ गूगे चौहान के मन्दिर और मानने वाले मौजूद हैं, उन सब जगहों को गगेहड़ ही कहा जाता है।

स्वाभाविक रूप में विभिन्न गिरोहों और कबीलों में पारस्परिक प्रतिद्वंद्व शत्रुता की हद तक होता रहा है। इस लिए एक समय ऐसा आया जब नाग वंश के लोगों या उन लोगों से जो नागों को देवता मानते थे ऐसे कबीलों का टकराव हो गया जो नागों को नहीं मानते थे, या नाग वंश को समाप्त करना चाहते थे। परम्पराओं से स्पष्ट होता है कि नागों के विरोधी जो लोग थे वे नारायण देवता को मानते थे। अठारह नागों के मुकाबले में महर्षि जमदग्नि ने अठारह नारायण सप्त सिन्धु के आर्यों को दिए थे, जिन्हें ठारह करडु कहते हैं। इसलिए ज़रूरी तौर पर नागों का मुकाबला उन लोगों से हुआ जो आर्य संस्कृति के प्रभावाधीन आ चुके थे। इस संघर्ष के दौरान दोनों दलों में समझौते भी हुए होंगे, और फलस्वरूप अठारह नाग और अठारह नारायण सब को देवता मान लिया गया होगा या नाग प्रजा को अपने देवताओं को मान्यता देने की धार्मिक एव राजनैतिक तौर पर आज़ादी दे दी होगी। परन्तु प्रतीत होता है कि नागों के विरुद्ध जो आंदोलन चला वह इस सीमा तक सफल रहा कि नाग वंश धीरे-धीरे समाप्त हो गया, और नागों को देवता मानने वाले लोग पराजित किए गए। सम्भवतः इतिहास के उस दौर में यह इतना बड़ा काम हुआ होगा जितना रामायण के युग में रावण पर विजय पाने का हुआ था, और इसीलिए उस विजय की खुशी ने इलाका भर में एक मेले या त्यौहार को जन्म दिया जिसे स्थानीय भाषा में दियाली कहते हैं। कुल्लू, सिराज, लाहुल, स्पिति में दियाली का त्यौहार भिन्न-भिन्न समय पर मनाया जाता है। और सम्भवतः उनकी पृष्ठभूमि भी अलग अलग होगी, परन्तु नागों पर विजय पर जो जशन कुल्लू में मनाया जाता है, उसे प्रायः **'कोले री दियाली'** कहते हैं। या **'देशा दियाली'** भी कहते हैं।

होता यूं है कि एक नियत दिन पर जगति के मन्दिर के बाहर शाम होते ही सबसे पहले लकड़ी की मशालें जलाई जाती हैं। उन मशालों के प्रकट होते ही नदी के आर पार जो भी उसे देखता है अपने-अपने घर के अन्दर बरामदे में लकड़ी की छोटी-छोटी मशालें जलाते हैं। बस फिर क्या है देखते-देखते सारी उपत्यका जगमगा उठती है। घरों में अच्छे खाने

पकते हैं। लोग खुशियां मनाते हैं। उसके दूसरे दिन जगतसुख, तीसरे दिन मनाली, और चौथे दिन नगर में वे मेले होते हैं, जिन्हें गनेड़ कहते हैं, जो वास्तव में नागों पर विजय की एक यादगार स्थापित की गई, और उसे बिलकुल वही स्थान दिया गया जो हर वर्ष रावण के बुत को जला कर भारत भर में त्यौहार के रूप में दिया जाता है। रावण का तो बुत जलाया जाता है और यहाँ धान की पराली और रस्सियों को जोड़ कर एक काफी लम्बा और मोटा रस्सा बनाया जाता है, जिसे नाग माना जाता है, इसे **'गूण'** कहते हैं। एक दल इस नाग रूपी गूण का सिरा पकड़ता है और दूसरा दल पूंछ पकड़ता है। फिर दौड़ का मुकाबला होता है जिन्हें **'ठोर'** या **'ठोरा'** कहा जाता है। तीन दौड़ों में जहां दो दलों की हार जीत का मुकाबला होता है वहाँ बिचारे नाग रूपी गूण के टुकड़े-टुकड़े कर दिए जाते हैं, और लोग उन टुकड़ों को ले कर नाचत, कूदते, लड़ते, झगड़ते अपने घरों को जाते हैं। पहले की इस सारी कार्यवाही में दोनों देहातों के लोग अपने-अपने देवता और साज़-बाज़ सहित इस में शामिल होते हैं, जिस से सिद्ध होता है कि लोग इस विजय में अपने देवताओं के बल और शक्ति को भी शामिल ससझते हैं।

नगर की स्थानीय परम्पराओं के अनुसार लोगों का कहना है कि पुराने समय में कभी एक बहुत बड़ा दानव सामने के गाँव बड़ाग्रां से नदी पार करके नगर की ओर आया और उसने नगर में आ कर डेरे डाल दिए। यहाँ वह लोगों को परेशान करने लगा। लोगों ने तंग आ कर अपने देवता की शरण ली। एक योजना बनाई गई जिस में जाणा गाँव के देवता जीव नारायण को भी शामिल किया गया। तब वे लोग भी नगर आए और सब ने मिल कर उस नाग का हेड़ा अर्थात् शिकार किया। अतः नगेड़ह शब्द को नाग हेड़ा भी मान लिया जाए तो कोई आपत्ति नहीं होनी चाहिये। उस दिन केवल एक दानव नहीं बल्कि नागों के साथ भारी लड़ाई हुई होगी और उस मुकाबले को जिस में नागों को नष्ट किया गया नागहेड़ा या नगेहड़ अथवा नगेड़ कह दिया गया हो जो बाद में बिगड़ कर गनेड़ बन गया, और आज तक यह मेले के रूप में उस घटना की यादगार बाकी है।

जगतसुख में भनारा और जगतसुख के लोग इस **गूण तोड़ने** और **ठोरा देने** के मुकाबले में शामिल होते हैं। स्थानीय देवताओं की रसूम भी इस कार्यवाही में शामिल होती हैं इसी तरह मनाली में विरोधी शलीन

गाँव के लोग अपने देवता शाण्डिल्य ऋषि सहित बाजे गाजे ले कर आते हैं, और मनाली गनेड़ में शामिल हो कर **गूण तोड़ते** हैं। स्थानीय लोगों के कहने के अनुसार वहाँ वशिष्ट गांव की तरफ से किसी दानव के आने की कहानी बताई जाती है, जिसे लोगों ने इसी तरह मिल कर नष्ट किया। परिस्थितियां कुछ भी रही हों, नाम के आधार पर और ऊपर लिखी मेले की परम्परा से यह बात स्पष्ट होती है कि नागों की आबादियां प्राचीन कुलूत देश में थीं जिन्हें उनके विरोधियों ओर युगान्तर के संघर्षों ने मिटा कर रख दिया।

यदि गनेड़ के मेले को दो दलों के बीच केवल रस्सा-कशी और दौड़ का मुकाबला भी समझा जाए तो भी इन में एक पार्टी देवना नारायण की होगी और दूसरी पार्टी देवता नाग की। क्योंकि नगर में मुकाबले के लिए गांव जाणा के लोग आते हैं, जिनका देवता **जीव नारायण** है, और नगर की पार्टी के लोग ज़रूर नाग देवता के पुजारी होंगे। इसी तरह भनारे के लोग देवता **शिरघण नाग** की ओर से और जगतसुख के **धौम्य ऋषि के धौम्यगण** से होंगे। इसी तरह मनाली में वहां के आदि वासी नाग होंगे, जिनका केन्द्र गोशाल गांव है, और दूसरी ओर शलीण के लोग शाण्डिल्य ऋषि के मानने वाले होंगे। इस परिस्थिति से भी यह सिद्ध हो जाता है कि इस इलाके में नाग वंश या नाग देवता से सम्बन्ध रखने वाले लोग अवश्य थे, जिनके मुकाबले पहले लड़ाइयों के रूप में हुए और बाद में रस्मी तौर पर रस्सा-कशी और दौड़ों के रूप में प्रचलित हो गए, जो आज तक जारी हैं और निस्सन्देह एक भूली बिसरी कहानी की याद दिलाते रहते हैं।

औटर सिराज की दियाली जो भारत भर में मनाई जाने वाली दीप माला या दीपावली के लग भग एक मास बाद मनाई जाती है, हमारी कहानी की खोज में एक नई रुचि, एक नया आकर्षण पैदा करती है। इसे आम तौर पर बूढ़ी दियाली कहते हैं और यह भगवान परशुराम के स्थान निरमण्ड में मनाई जाती है। इस रस्म के पहले दौर में ईर्द गिर्द के ग्रामों से खश लोगों का प्रवेश उस स्थल में होता है जहां पहले से निरमण्ड निवासी "**आग के घियाने**" के चहुं ओर नाच में मस्त होते हैं। खशों का उस स्थल में प्रवेश बिल्कुल आक्रमण कारियों जैसा दृश्य पेश करता है। दूसरे दौर में निरमण्ड के कोली लोग जो वहां के आदिवासी हैं, बारीक लकड़ियां जोड़ कर रस्सियों की सहायता से एक साँप की शकल

की बड़ी मशाल तैयार करते हैं, जो सिर की ओर से काफी मोटा और पूंछ की ओर से पतला होता है। इसे सिर की ओर से आग लगा कर कितने ही लोग उठा कर गांव में फिराते हैं। फिर वे उस स्थान पर आते हैं जहां लकडी के बड़े बड़े ठेले जला कर आग जलाई होती है, जिसे "**घियाना**" कहते हैं। तब इस घियाने के गिर्द यह कोली लोग शमशान की राख मल कर चक्कर काटने का प्रयत्न करते हैं। दूसरे लोग जो उस स्थल पर पहिले से कब्जा कर चुके होते हैं, उन्हें चक्कर काटने नहीं देते और यह संघर्ष सवेरा होने तक जारी रहता है। एक ओर से युद्ध का बाजा पूरे ज़ोर-शोर से बजता रहता है, और एक ब्राह्मण 'ठारह कण्डी' का गाना और सिराजी भाषा में रामायण का स्वर ताल बद्ध संगीत चलाता रहता है, जिसके लिए उसे नियमित रूप से कुल परम्परा अनुसार शासन अर्थात माफी मिली हुई है। इस तरह घियाने के गिर्द चक्कर काटने में असफल होने पर प्रातः काल यह कोली लोग उस घियाने की राख को ही अपने माथे पर लगाते हैं और चाटते हैं, और इस के साथ ही रस्म समाप्त हो जाती है। दूसरे दिन की रसूम में घास की रस्सियों के बनाए हुए नाग को एक दूसरे स्थान पर काटा जाता है जिसे "बांढ काटणा" कहते हैं। ऊपर कुल्लू में गनेड़ के मेले पर जो नाच नाचा जाता है, उसे विशेष रूप से "बांढू" कहते हैं। और इस के गानों में निर्लज भाषा का मुक्तकण्ठ प्रयोग होता है जो सम्भवतः उस युग की नाग कोल सस्कृति का प्रतीक होते हैं।

निरमण्ड औटर सिराज में एक प्रसिद्ध स्थान है, जिसे रामायण काल के आरम्भ में ही भगवान परशुराम ने बसाया था। ऐतिहासिक रूप से इस का स्थान एक विशेष महत्व रखता है। इसलिए निरमण्ड की दियाली जिस की धार्मिक कार्यवाही ऊपर लिखी गई है, जरूरी तौर पर इतिहास की किसी प्राचीन परम्परा की ओर इशारा करती है। यह बात तो स्पष्ट है कि इस रस्म का सम्बन्ध किसी बड़ी लड़ाई से है, जो यहां कभी लड़ी गई हो। और यह भी स्पष्ट है कि इस लड़ाई में एक दल तो वे लोग थे जो ठारह करडू या ठारह कण्डी के मानने वाले हैं। दूसरा दल नाग राजा की कोली प्रजा मालूम पड़ती है। हो सकता है कि नागों को पराजित करने में कोलियों का भी हाथ हो, और इसीलिए वे इस घटना की यादगार मनाने के लिए नाग का प्रतिरूप लकड़ी की मशाल बनाकर उस खुशी में उसे आग लगा कर गांव में घूम कर लोगों में नागों पर विजय का विश्वास दिलाते हों। परन्तु इस विचार से कि कोली लोग उस

बड़ी कोल जाति से सम्बन्ध रखते हैं जो नागों के उपासक थे, यह सन्देह होता है कि यह लडाई नागों से नहीं बल्कि कोलों से हुई होगी जो रिवाज और यादगार के रूप में अब भी उस पवित्र घियाने के गिर्द चक्कर काटने का प्रयत्न करते है, जो सम्भवत: ब्राह्मण खश आदि आर्य लोगों ने जलाया होता है। कोली लोगों का शमशान की राख मल कर इस राख को प्राप्त करने के लिए संघर्ष करना और इस समय में युद्ध के बाजे बजते रहना और ठारह कण्डी के बार गाए जाना निस्सन्देह इसी बात की ओर संकेत करते हैं कि इस लड़ाई में एक ओर देवताओं को मानने वाले ब्राह्मण खश आदि आर्य लोग थे, और दूसरी तरफ नाग उपासक कोल और कुछ नाग वंश के लोग। इस दियाली के अवसर पर ही एक दिन कुछ कोली मुख्या परशुराम के मन्दिर में जा कर क्षमा याचना भी करते है जो मैं समझ पाया हूं उस से तो यह निष्कर्ष निकलता है कि निरमण्ड के नाग राजा से उस की कोली प्रजा ने भी धोखा किया और अपने राजा को खशों से मरवा दिया। सम्भवत: उसी परम्परा को **"बांढ काटणा**' कहा गया है। हो सकता है नाग राजा का नाम ही 'बांढ' हो और उसी से सम्बन्धित अश्लील नाच और गाने को **बांढ** कहा गया हो। यह घटना इतनी महत्वपूर्ण हुई होगी, कि इस खुशी में इस इलाके में दीप जलाए गए और आज तक इसे दिवाली त्यौहार के रूप में मनाया जाता है। इसे देव-असुर संग्राम कहा जाए तो भी कोई अतिश्योक्ति नहीं होगी।

इस पुरानी नाग जाति का आज के नागाओं से जो आसाम के नागा हिल्ज में रहते हैं, क्या सम्बन्ध है, इस सम्बन्ध में इतिहास तो खामोश है ही, अनुश्रुतियां भी चुप हैं। हो सकता है कि जिस तरह सप्त सिन्धु से द्राविड़ों को दक्षिण की ओर धकेला गया, उसी तरह नाग जाति के लोगों को भी आसाम के जंगलों तक धकेल दिया गया हो, और यह लोग उस नागवंश के वे सदस्य हों जिन्हों ने आर्य संस्कृति की गोद में आने की बजाए उसके प्रभाव क्षेत्र से दूर भाग जाना ही पसन्द किया हो। भारत की कितनी ही आदिवासी जातियां आज भी मौजूद हैं जिन्हों ने आर्यधर्म और आर्य संस्कृति को स्वीकार नहीं किया, और हज़ारों वर्ष बीत जाने पर भी जो अपनी प्राचीन सभ्यता को सीने से लगाए बैठी हैं। कुल्लू में भी यद्यपि नाग या नागा नाम से लोग सिवाए नाग ब्राह्मणों के अब नहीं हैं या दूसरी जाति में घुलमिल गए हैं, तो भी बहुतों का प्राचीन

नाग वंश से सम्बन्ध होना कल्पना से बाहर नहीं कहा जा सकता। आसाम के नागा आदिवासी जातियों, उदाहरणार्थ डफला, ल्हेप्चा, कोनेक के कुछ रस्म-रिवाज और लिबास कुल्लुई सभ्यता में कहीं कहीं नज़र आते हैं। मनीपुर और त्रिपुरा की स्त्रियां और कुल्लु की स्त्रियां नाक में दोहरे लोंग पहनती हैं और सिर का थिपु भी एक ही तरह बांधती हैं। चावलों से लुगड़ी तैयार करके प्रयोग करना भी दोनों लोगों में लगभग एक जैसा है। डफला जाति के नाम पर ढोल की किस्म का एक वाद्य अभी भी कुल्लू में डफाल कहा जाता है, तथा कुरते या कोट के लम्बे बाजू को ल्हेप्चा भी कुल्लूई भाषा में कहते हैं। इसलिए हज़ारों वर्ष पहले यदि कभी यह लोग इकट्ठे रहते हों, या कुलूत में यदि कहीं उन की बस्तियां रही हों तो इस सचाई को मान लेने में भी कोई हर्ज नहीं। प्रश्न पैदा होता है कि नाग वंश के मिट जाने पर भी नाग देवताओं को इस इलाके में अब तक इतना महत्व क्यों प्राप्त है। इसका उत्तर कुछ तो हम पहले दे चुके हैं और अब एक बार फिर पाठकों को हम **मिस्टर हॉकस तथा सर ल्योनार्ड** का हवाला देते हुए यह बताना चाहते हैं कि प्राचीन आदि वासियों में भी ऐसे लोग पैदा होते रहे हैं जो किसी न किसी तरह आत्मा की शक्ति से परिचित थे, जो रूहों के तरीकों से मनुष्य को और मनुष्य की इच्छाओं को रूहों तक पहुंचाने की शक्ति और अधिकार रखते थे। अपनी पुस्तक "Prehistory of the beginning civilization" के पृष्ट ११ पर वे लिखते हैं—"Men of holy and magic powers were passed on from pre-historic age to the civilization" अर्थात् **रूहों की पवित्र और विचित्र शक्ति वाले आदमी प्रागैतिहासिक युग से सभ्यता के दौर तक पैदा होते रहे हैं।** तब नाग वंश में ऐसे मनुष्यों का पैदा होना, जो प्रकृति की गुप्त शक्तियों पर अधिकार रखते थे, असम्भव नहीं हो सकता। डाक्टर श्याम चरण दूबे के शब्दों में प्रकृति की गुप्त शक्तियों से डरना भी मनुष्य का अनुभव रहा है, और इस डर के प्रभावाधीन भी मनुष्य ने इन शक्तियों को देवता स्वीकार किया है। अत रूहानी शक्ति के प्रभावाधीन या डर और भय के कारण नाग वंश के बहुत से चमत्कारी सदस्यों को देवता मान लिया गया और आज तक माने जा रहे हैं। **गलौसरी आफ ट्राइबज** (Glossary of Tribes के) लेखक का कहना है कि प्राचीन समय में गिलगित और आस्तूर के इलाकों में भी नाग देवताओं के मन्दिरों के निशान मिलते हैं। वहां **नागेशी पहाड़ी** के किले में **नागी सूचेमी** नाम की देवी का एक पत्थर का चबूतरा स्थापित

था, जहां जा कर लोग सच और झूठ को सिद्ध करने के लिए शपथ लेते थे। अफगानिस्तान में भी स्वात नदी के स्रोत की कहानी एक नाग राजा से सम्बन्धित की जाती है, जो उद्यान के इलाके में सब से बड़ा देवता माना जाता था। ह्यू न सांग ने प्राचीन बोनेर में भी नाग पूजा के रिवाज का वर्णन किया है। काश्मीर तो नाग देवताओं और उनके नाम की झीलों और चश्मों की अनुश्रुतियों से भरा पड़ा है। यही नहीं मिस्सर देश के पुराने देवता ओसीरिस (Osiris) की मूर्ति के हाथों में त्रिशूल, लेम्प, गुरज़ और लोहे की सगल बिल्कुल वैसे ही हैं जैसे चम्बा के इलाके में कुछ नाग देवताओं की मूर्ति के हाथों में आज भी नज़र आती हैं। यदि ऐसी मूर्तियों को चम्बा में नाग देवता की मूर्ति माना जाता है तो निस्संदेह मिस्सर देश में भी यह नाग देवता की ही मूर्ति किसी समय मानी जाती होगी। हिन्दु अनुश्रुतियों के अनुसार तो **अमेरिका को "पाताल देश"** और वासुकि नाग का राज्य भी महाभारत में वर्णन किया गया है। इसी अमेरिका में अर्जु न के नाम पर बसाए गए अर्जनटाइना नाम के इलाके में जो सूर्य मन्दिर अभी तक विद्यमान हैं उनमें नाग के चित्र भी हैं, जिससे यह स्पष्ट होता है कि अमेरिका में भी हज़ारों वर्ष पहले नाग पूजा का रिवाज था। सोबियत यूनियन में अज़वेकिस्तान की राजधानी ताशकन्द असल में तक्षक खण्ड का बिगड़ा हुआ शब्द है, जिसका अर्थ है नाग राजा तक्षक का देश। इसका उल्लख हम पीछे कर आए हैं। यही नहीं भाषा विज्ञान के प्रसिद्ध विद्वान डाक्टर जार्ज ब्हूलर (George Buhlar) ने तो भाषा लिपियों पर विचार करते हुए एक प्राचीन समय की नाग लिपि का भी वर्णन किया है, जिसे नाग देवताओं की रचना विधि कहा गया है। इसी तरह भोगावती नगर में जो नागों का निवास स्थान था, भोगावत्या लिपि का भी हवाला दिया है।

उपर्यु क्त परिस्थितियों और अनुश्रुतियों से सिद्ध होता है कि नाग देवता केवल कुलूत देश में ही नहीं बल्कि किसी समय संसार के विभिन्न देशों में भी अवश्य माने जाते रहे हैं। जहां तक हमारी कहानी का सम्बन्ध है, हिमालय के दामन में काश्मीर से गढ़वाल तक सैंकड़ों नाग देवता हैं और नाग मन्दिर हैं जिन में से हर एक की विचित्र और सुन्दर अनुश्रुतियां हैं जिन का वर्णन हम आगे चल कर कुलूत के देवताओं के उल्लेख में करेंगे। इस समय तो केवल यही बताना पर्याप्त है कि जिस तरह आर्य ऋषियों को उन की आध्यात्मिक शक्ति के कारण बाद में देवता स्वीकार किया गया और उनके आश्रमों को तीर्थ स्थानों का दर्जा दिया

गया उसी तरह नाग वंश की महान और पवित्र आत्माओं को भी सब जगह देवता रूप से मान लिया गया, जिनके बाकी देवताओं की तरह ही आश्रम, तीर्थ-स्थान और मन्दिर सारे पहाड़ी इलाकों में आज तक विद्यमान हैं।

यह बात भी स्पष्ट है कि इस पहाड़ी क्षेत्र में आर्य खशों के अधिकार में आने से पहले हिमालय और इसकी तराई पर नाग वंश का बोल बाला रहा है, और अन्ततः तक्षक नाग के हाथों राजा परीक्षित की पराजय का बदला लेने के लिए जब राजा जन्मेजय ने नाग यज्ञ करके नाग वंश को मुकाबले की चुनौती दी, तब उस लड़ाई में नाग वंश का सफाया हुआ, और दूसरी कितनी ही जातियों की तरह जिनकी अब केवल कहानियां बाकी रह गई हैं, नाग जाति भी मिट गई। ऐसा प्रतीत होता है कि नाग वंश की अपनी एक सुलझी हुई संस्कृति थी जो द्रविड़ संस्कृति का अंग मालूम देती है। नगरों के बसाने में इस संस्कृति का न केवल हाथ था बल्कि **'नगर'** शब्द भी नाग संस्कृति की देन और इसी की उपज है। मध्य भारत के इतिहास के लेखक श्री द्विवेदी अपनी पुस्तक के पृष्ठ १९३ पर लिखते है कि **"हमारे प्रदेश की आज की लिपि वर्तमान देवनागरी के रूप में द्राविड़-मूल के नागों के द्वारा ही फली फूली है।"** श्री राम धारी दिनकर अपनी पुस्तक **'भारतीय संस्कृति के चार अध्याय'** के पृष्ठ ४ पर लिखते हैं कि **"भारत में बहुत दिन रहने के बाद भी आर्य अच्छे भवन बनाने के लिए दानवों और तक्षकों (नागों) पर आश्रित थे, जिन्हे सिंचाई के लिए नदियों के बांध, नगर तथा किले बनाने का पूरा ज्ञान था।"** यह संस्कृति सारे भारत में फैली हुई थी यद्यपि इसका आरम्भ भी मध्य एशिया अर्थात् ताशकंद के इलाके से हुआ, और फिर आर्यों की तरह यह आगे बढ़ती और फैलती गई। यदि पौराणिक सिद्धान्तों के अनुसार कश्यप ऋषि से नाग का जन्म माना जाए तो फिर नाग संस्कृति भी आर्य संस्कृति का ही एक अभिन्न अंग बन जाती है यद्यपि ऋग्वेद के अनुसार वृत्र नाग को भी आर्यों के राजा इन्द्र ने ही मारा था फिर आर्यों के इसी देवता इन्द्र की महिमा को महाभारत काल में श्री कृष्ण ने गोवर्धन पर्वत को उठाकर समाप्त करके रख दिया था। कुछ भी हो एक बात बिलकुल स्पष्ट है कि जिस वृत्र असुर के मारने का उल्लेख ऋग्वेद में है वह अहि अर्थात् नाग वंश का था और उसने सात

नदियों पर बांध बनाकर उनके बहाव को रोका हुआ था, जिसे आर्यों के राजा इन्द्र ने उसे मार कर मुक्त कराया और इस तरह सप्त सिन्धु के भूखण्ड को आर्यों के लिए हरा भरा और सुन्दर बना दिया। इन सात नदियों पर ये बांध इन्हीं पहाड़ों पर बनाए गए थे, जिन में कुलूत भी शामिल है। अतः इन पहाड़ों पर नाग वंश का आधिपत्य आर्यों के आने से पहले ऋग्वेद से ही सिद्ध होता है।

नवां अध्याय

कारवां चलता रहा

ख़ैरो शर की गोद में ताज़ा जहां पलता रहा
काफले आते गए और कारवां चलता रहा

संसार के सभी छोटे बड़े देशों की तरह कुलूत देश में भी विभिन्न जातियों के काफले आते रहे। कभी इधर उधर से आए, कभी अपने ही बीच एक दूसरे के साथ साथ आगे बढ़ते हुए एक संघर्ष और टकराव के बीच कई परिवर्तन हुए और हर उथल-पुथल के बाद एक नया युग, एक नया देश, एक नया भूगोल बनता रहा। नई सभ्यता जन्म लेती रही, और नयी संस्कृति पनपती रही। कुलूत देश की कहानी में इस समय तक कौमों के जिन काफलों का, या जातियों के जिन गिरोहों का उल्लेख हुआ है उन में अधिकतः वे जातियां हैं जो वहमोगुमान और संशय, विस्मय के गोरख धंधे में उलझी हुई हैं। जिनके होने या न होने के सम्बन्ध में भी कई तरह के शक पैदा हो सकते हैं। जिन के विचित्र अस्तित्व तथा गैर कुदरती काम आज के पढ़ने वालों के लिए पंचतंत्र के किस्से तथा इन्द्रजाल या गुल बकाउली की कहानियों से कम नहीं जान पड़ते। परन्तु जातियों के जिन काफलों का या जिन जातियों का हम अब उल्लेख करने जा रहे हैं वे उन तथ्यों के परिणाम हैं, जिन की इस समय तक काफी से ज्यादा ऐतिहासिक छान-बीन हो चुकी है और बहुत से विद्वान और इतिहासकार जिन के सम्बन्ध में किसी न किसी निष्कर्ष पर पहुँच चुके हैं और जिन के बारे में उन में कोई विशेष मतभेद भी नहीं है।

नितान्त विश्वास से तो कोई भी नहीं कह सकता कि कौन जाति कब पैदा हुई, कहां से आई, और कब उसने अपने साथी और पड़ौसी लोगों पर अधिकार प्राप्त किया। परन्तु परिस्थितियों और समय के परिवर्तन के आधार पर कुछ अंदाज़े ऐसे लग सकते हैं जो बिल्कुल गल्त नहीं हो सकते। वे जातियां जिन का अब नामोनिशान केवल अनुश्रुतियों तक सीमित

हो, या जिनका संस्मण अब केवल अफसाना बन कर रह गया हो, अवश्य पुरानी हैं और वे जातियां जिन का न केवल नामोनिशान अभी बाकी है, बल्कि इतिहास के मरुस्थल पर बढ़ते हुए कारवां[1] में जिन के पदचिन्ह आज भी प्रकट हों, वे जातियाँ अवश्य निकटतम अतीत की यादगार होने का दावा कर सकती हैं। इसी लिए गन्धर्व, किन्नर, निषाद, पिशाच, राक्षस और नाग आदि जातियों का उल्लेख हम ने पहले कर दिया, क्योंकि परिस्थितियों और घटनाओं के अनुसार हमें उनका अस्तित्व तथा अधिकार कदरे देर का मालूम होता है, और उनके साथ-साथ चलती हुई कोल, किरात खश और कनैत आदि जातियां, जो किसी न किसी शकल में आज तक अपने अस्तित्व को स्थिर रख पाई हैं, निस्संदेह बाद में बढ़ीं, फैलीं, और अधिकार में आई जान पड़ती हैं।

प्राचीन कुलूत से ले कर आज के कुल्लू तक जो लोग युगों के उथल-पुथल से टकराते और ज़माने के अत्याचारों से आंख मचोली करते हुए बच पाए हैं, वे यहां के कोली हैं। यद्यपि कनैत लोग भी जिन की दो शाखाएं राहु और खौश कही जाती हैं, ऐसी ही घटनाओं और परिस्थितियों से दो-चार होते हुए प्राचीन काल से कुलूत के रहने वाले माने जाते हैं, परन्तु तथ्यों के आधार पर और ऐतिहासिक खोज की दृष्टि में कोली लोग ही कुलूत के आदिवासी स्वीकार किए जा सकते हैं जो वास्तव में एक बड़ी **कोल** जाति की बची हुई निशानी और भारत भर में फैले हुए **कोलार्यन** (Kolarian) वंश के ही सदस्य हैं। इतिहासकारों ने यद्यपि एक मत हो कर किरात और खश लोगों को भी भारत के आदिवासियों की सूची में रखा है, और यह भी ठीक है कि कुलूत के किरात, कनैत, राहु और खौश भी कोलियों के साथ-साथ विकास की मंज़िलें पार करते रहे हैं, फिर भी न तो कुल्लू के कोलियों को और न कनैतों, खशों को सरकार की उस सूची में जगह मिली है, और न वे सुविधाएं मिली हैं जो केन्द्रीय और राज्य सरकारों ने अन्य अनुसूचित जातियों को दी हैं। कुल्लू के कोलियों को केवल हरिजन मान कर सिर्फ उन्हीं सुविधाओं का हकदार समझा गया है जो आम हरिजनों को प्राप्त हैं, हालांकि कुल्लू के कोली उस बड़ी कोल जाति की दूसरी शाखाओं संथाल, गोंड, मुड़िया आदि से मिलते जुलते हैं।

1. काफला।

सम्भवतः यह इस लिए हो कि उत्तर पश्चिम में यारकंद (आर्य खण्ड), समरकंद (सुमेर खण्ड), गंधार (कंधार), अफगानिस्तान (आर्यस्थान), ईरान (आर्यान) आदि की ओर से आए हुए आर्यों की भाषा और संस्कृति को कुल्लू के इन आदिवासियों ने सब से पहले स्वीकार किया हो और सब से पहले यह लोग आर्य सभ्यता के प्रभावाधीन आए हों।

ऋग्वेद की ऋचा के हवाले से हम पिछले अध्याय में यह सिद्ध कर चुके हैं कि शम्बर को **कोलितर** अर्थात् कोल या कोली कहा गया है, और यही शम्बर था जिस ने चालीस वर्ष तक आर्य राजा दिवोदास और दूसरे आर्य जनपदों के दांत खट्टे किए। यद्यपि तब सभी आर्य शत्रुओं को दस्यु कहा जाता था, परन्तु शम्बर का उल्लेख विशेषतः '**कोलित्रम्**' के रूप में यह सिद्ध करता है कि वह कोल राजा था और इन्हीं पहाड़ों का राजा था जिन में कुल्लू और कांगड़ा शामिल थे। श्री राहुल अपनी पुस्तक '**ऋग्वैदिक आर्य**' के पृष्ठ ४० पर लिखते हैं कि शम्बर विपाश और परुषणी अर्थात् व्यास और रावी के इर्द-गिर्द सारे पहाड़ों पर राज्य करता था। चूंकि ऋग्वेद काल से लेकर इस सारे पहाड़ी प्रदेश पर कोल राजा शम्बर और उसके लोगों का अधिकार था, इसलिए 'कुल्लू के कोली' अवश्यमेव उस कोल जाति से सम्बन्धित हैं। स्पष्ट है कि ऋग्वेद काल के दूसरे दौर से जो लोग कुलूत में आबाद रहे हों, वही वास्तव में यहां के आदिवासी कहलाए जाने के अधिकारी हैं। और सच तो यह है कि कुल्लू के कोली लोग प्रमाणित इतिहास के शुरू दौर में इस इलाके के मालिक रहे हैं। इस विचार की पुष्टि में **डा०एम०एस० रन्धावा** अपनी पुस्तक '**फार्मरज़ आफ इण्डिया**'[1] के पृष्ट १७६ पर लिखते हैं—

"It is believed that the Punjab Hills were once inhabited by a true Kolarian people who belonged to the same stock to which the Kols of centeral India and Bihar belonged. The present Kolis are most probably their descendants."

'यह विश्वास किया जाता है कि पंजाब के पहाड़ी इलाके में किसी समय असल कोलार्यन अर्थात् कोल लोग आबाद थे, जो उसी गिरोह में से

Farmers of India.

थे जिससे मध्य भारत और बिहार के कोल थे। वर्तमान कोली अवश्य ही उन्हीं में से हैं।'

डाक्टर रन्धावा ने पंजाब के पहाड़ी इलाकों में आबाद कोली लोगों को असल कोलार्यन लिख कर न केवल ऋग्वेद की उपर्युक्त ऋचा की ठीक व्याख्या को विश्वसनीय बना दिया है, बल्कि पहाड़ी प्रदेश के मौजूदा कोलियों की मूल वास्तविकता और ऐतिहासिक महानता को भी उजागर करने में सहायता दी है। अब हम यह निश्चय से कह सकते हैं कि जब सप्त सिन्धु ही आर्यावर्त था, जब इतना बड़ा भारतवर्ष कल्पना में भी विद्यमान न था, जब आर्यों का सब से पहला टकराव दस्यु लोगों से हुआ था, तब कांगड़े और कुलूत की पहाड़ियों का **कोलित्र अर्थात् कोल राजा शम्बर** इस प्रदेश के सौ मजबूत दुर्गों (किलों) का मालिक था, और यह कोल लोग इस भूखण्ड के शासक थे। तब कोल जाति अछूत नहीं थी, कमज़ोर नहीं थी, पिछड़ी नहीं थी, अनुसूचित नहीं थी। आर्यों से चालीस वर्ष तक लगातार लोहा लेने वाले लोग जरूर वीर थे, परिश्रमी थे और योधा थे। प्रतीत होता है कि यह लोग युद्ध-नीति और शास्त्र विद्या में भी बड़े चतुर और प्रवीण थे, अन्यथा ऋग्वेद की सैंकड़ों ऋचाओं में आर्य लोग अपने देवताओं से इन दस्यु शत्रुओं को नाश करने की प्रार्थनाएं करते दिखाई न देते। निर्माण कार्य में दक्षता का प्रमाण उन के वे सौ दुर्ग थे, जिन्हें जीतने के लिए आर्यों को अपने देवता इन्द्र की बार-बार शरण लेनी पड़ी थी। इन सारी घटनाओं से यह स्पष्ट हो जाता है कि इन कोल दस्यु लोगों की अपनी एक अलग संस्कृति थी। ये महाकाल या महादेव को मानते थे। नागों के भी उपासक थे। महादेव को, जिसे बाद में आर्यों ने शिव का नाम दिया, यह लोग लिंग के रूप में पूजते थे। इसी लिए इन्हें शिश्नदेव कहा जाता था, अर्थात् लिंग को देवता मानने वाले। सिन्धु उपत्यका की जिस सभ्यता को सिन्धु सभ्यता (Indus Valley Civilization) कहा जाता है, और जिसे द्राविड़ों से सम्बन्धित किया जाता है उसके कई पहलुओं को बनाने और संवारने में कोलों का भी भाग था। परन्तु खेद है कि इन की वीरता, साहस और योग्यता की किसी ने प्रशंसा नहीं की। इनकी युद्ध कुशलता को किसी ने सराहा नहीं, और इनके निर्माण कार्य कौशल होने की किसी ने दाद नहीं दी। इनकी सभ्यता और इनके देवता का मजाक, इनके रंग और इनकी भाषा की खिल्ली उड़ाई गई,

और जो भी अपमानजनक शब्द इनके लिए प्रयुक्त हो सकते थे वह आर्यों ने इनके लिए किये। इन्हें काली चमड़ी, भद्दे नाक और असभ्य, अशिष्ट लिंगपूजक कह कर घृणा का पात्र समझा जाता था। आप दूर क्यों जाते हैं, वर्तमान के इतिहास में जो बर्ताव गौर-वर्ण अंग्रेज़ ने भारत वासियों से किया है, ठीक वही बर्ताव उस समय के आर्यों ने इन दस्यु लोगों से किया जिन में कोल, किरात, द्राविड़, भील, सभी शामिल थे। आजादी से पहले इंगलैण्ड के होटलों के बाहर नोटिस बोर्ड पर लिखा होता था कि, "कुत्ते और हिन्दुस्तानी अन्दर नहीं आ सकते।" ठीक इसी तरह **श्री के० एम० पानीकर** अपनी पुस्तक **सर्वे आफ इण्डियन हिस्ट्री** (Survey of Indian History) के पृष्ठ ५ पर ऋग्वेद की एक ऋचा (५-२१-७) का नमूना पेश करते हैं जिस में आर्य ऋषि प्रार्थना करता है कि **"हे देव! जो लिंग अर्थात् जनन-इन्द्रिय को देवता मानते हैं, उन्हें हमारे आश्रमों की सीमा में प्रवेश न करने दो।"**

अतः इस में कोई हैरानी की बात नहीं कि कोल लोगों से ऐसा बर्ताव हुआ क्योंकि प्रत्येक विजेता और शासक अपनी पराजित जनता से ऐसा ही बर्ताव करता है। पांचवीं सदी ईसवी में सफैद हुणों ने पंजाब में और मेहर कुल ने काशमीर में क्या किया? आज चीन तिब्बत में दलाई लामा के अनुयायी तिब्बती नसल के लोगों से क्या कर रहा है? रूस की क्रान्ति में जार की जनता पर क्या गुजरी? हंगरी के धार्मिक प्रचारकों की क्या दुर्गति बनी? शान्ति और प्रेम की मूर्ति मसीह के नाम लेवाओं ने अफरीका और अमेरिका के नीगरो लोगों पर क्या अत्याचार नहीं ढाए? आजकल पाकिस्तान में हिन्दुओं पर क्या बीत रही है? यह सब तो अभी इस सदी और बिल्कुल हाल की घटनाएं हैं जो हमें इस बात के समझने में सहायता देती हैं कि प्रत्येक विजेता शासक पराजित जनता को, उसकी सभ्यता और संस्कृति को नष्ट-भ्रष्ट करने के प्रयास करता ही है, और फिर पराजित लोगों से इतिहास भी न्याय नहीं करता, क्योंकि उसे लिखने वाले इतिहास-कार भी तो हमेशा विजेता जाति के सदस्य ही होते हैं, जिन्होंने मुकाबले के शत्रु को सदा निकृष्ट से निकृष्ट और घृणित से घृणित दिखाने के प्रयत्न किए हैं। यहां तक कि रावण जैसे विद्वान व्यक्ति को, जिसके बारे में यह प्रसिद्ध है कि उसे चार वेद और छः शास्त्र जबानी याद थे, दस सिरों वाला

राक्षस बना कर रख दिया। आजकल की नाम-निहाद वैज्ञानिक सभ्यता ने भी तो जापान के जनरल टोजो को युद्ध का अपराधी घोषित करके फांसी पर चढ़ा दिया, हालांकि हीरोशीमा और नागासाकी के हजारों निर्दोष मरने वालों की आत्माएं आज भी पूछी जाएं तो वे बता सकती हैं कि युद्ध का अपराधी कौन था ? हिटलर और मसोलोनी भी युद्ध अपराधी घोषित किए जा चुके हैं, परन्तु यदि वही लोग युद्ध में विजेता होते, तो इतिहास किसी और ढंग से लिखा गया होता।

बहरहाल कोल लोगों की बहादुरी की कहानी क्रम में न भी लिखी हो तो भी ऋग्वेद की सैंकड़ो ऋचाएं, जो वैदिक आर्य ऋषियों ने निर्माण की हैं, उनकी परेशानी को प्रकट करती हैं और उन से निस्सन्देह सिद्ध हो जाता है कि जब उन दस्यु लोगों से लड़ाई करते हुए आर्य गणों को हर क्षण अपने देवताओं से सहायता के लिए प्रार्थना करनी पड़ती थी तो दस्यु लोग अवश्य वीर थे। परन्तु जिस तरह १८५७ के स्वतन्त्रता संग्राम के बाद, जिसे अंग्रेजों ने सैनिक विद्रोह का नाम दिया है, यू० पी० के लोगों को हमेशा हमेशा के लिए घस्यारा बना कर रख दिया, ठीक उसी तरह आर्य विजयों के तेज बहाव में एक लम्बे संघर्ष के बाद जब कोल पराजित हुए तो उनकी बहुत सी जनसंख्या समाप्त हो चुकी थी। उनके अच्छे-अच्छे वीर और नेता चालीस वर्षीय युद्ध में मर मिट गए थे। इसी चालीस वर्ष की अवधि में कोल जाति के जिन लोगों ने आर्य सभ्यता का स्वीकार किया, उनका बरतन-बर्ताव, मेल जोल किसी हद तक आर्यों से हो गया, और जिन लोगों ने विरोध जारी रखा या कहीं भाग निकले उन्हें समाज में न केवल निकृष्ट स्थान मिला, बल्कि धीरे-धीरे वे अछूत बना दिए गए। और फिर हमेशा के लिए उनके उन्नति के मार्ग सामाजिक जीवन में सीमित हो गए। आज के कोली इसीलिए उस वीर कोल जाति के सदस्य होते हुए भी इस कदर पिछड़े हैं, इतने कमज़ोर और निकृष्ट हैं, क्योंकि शम्बर युद्ध के बाद भी सदियों इन का टकराव जारी रहा। केवल एक हजार वर्ष की दासता के बाद यदि समूचे रूप में भारतीय जनता की अवस्था संसार में इतनी निकृष्ट हो सकती है तो हजारों वर्षों की दासता के उपरान्त बेचारे कोली लोग क्या सिर उठाने की ताब ला सकते हैं। यह तो इन का साहस है कि ये आज तक जीवित हैं, अन्यथा असंख्य जातियाँ, बेशुमार कौमें पिछले दो तीन

हजार वर्षों में अपना अस्तित्व खो बैठी हैं, मर मिट चुकी हैं और अब उनका नामोनिशान भी बाकी नहीं है।

वस्तुत: ऋग्वैदिक काल में यह लोग अछूत नहीं माने जाते थे। यह उल्लेख आता है कि शम्बर के पुत्र भेद को ऋषि विश्वामित्र ने पाला और ऐसा भी लिखा है कि शम्बर कन्या उग्रा की कोख से ऋषि विश्वामित्र का पुत्र शुनः शेप पैदा हुआ था, जिसे पैदा होते ही अजीगर्त ब्राह्मण का ज़ाहिर किया गया था। बाद में अजीगर्त ने सौ गौओं के बदले में इस लड़के को राजा हरिश्चन्द्र के नरमेध यज्ञ के लिए बेच दिया था। इस नरमेध को ऋषि विश्वामित्र ही सम्पन्न करवा रहे थे। यह ज्ञात हो जाने पर कि शुनः शेप उनका ही पुत्र है, उन्होंने उसे वरुण देवता से क्षमा दिला दी। राजा हरिश्चन्द्र का जलोदर ठीक हो गया, और विश्वामित्र ने लड़के का नाम देवव्रत रख कर उसे अपना पहला उत्तराधिकारी घोषित किया था।

इस कहानी के अनुसार शम्बर कन्या उग्रा की कोख से पैदा हुआ लड़का ऋषि विश्वामित्र का उत्तराधिकारी बन सकता था तो प्रकट है कि उस युग में दस्यु लोगों को अछूत नहीं माना जाता था। ऋषि विश्वामित्र ने तो दस्यु लोगों को आर्य संस्कृति की गोद में लाने का पूरा प्रयत्न किया था। प्रोफेसर रेगोज़िन (Prof. Ragozin) के अनुसार दाश राज्ञ में भाग लेने वाले दस आर्य जनपदों में से अणु जनपद कालार्यन था, अर्थात् कोल से आर्य बना था। इस बात का एक स्पष्ट प्रमाण आज भी विद्यमान है कि जिला कांगड़ा की पालमपुर तहसील में दस हज़ार के लगभग ऐसे कोली हैं जो कुल्लू, हिमाचल और गढ़वाल के बाकी कोलियों की तरह हरिजन नहीं हैं। गुड़गांव ज़िला में भी एक बड़ी आबादी कोलियों की है जिन्हे अछूत नहीं माना जाता। कह नहीं सकते कि काश्मीर में कौल ब्राह्मणों का इस प्राचीन कोली जाति से क्या सम्बन्ध है, फिर भी हो सकता है कि नाग ब्राह्मणों की तरह यह भी कोल ब्राह्मण हों। कुछ विद्वानों का यह भी कहना है कि महात्मा बुद्ध की माता इसी कोलार्यन जाति से थीं। डा० रन्धावा इसी सम्बन्ध में आगे चलकर लिखते हैं कि इन कोलियों की विशेष रूप से उप-जातियां डूमना, कहार, गूजर, लोहार, बोहरा, ठाकर और नाई हैं। अब इन उप-जातियों में से एक दो के सिवाए बाकी सब स्वर्ण हिंदु हैं।

स्पष्ट है कि जिस जाति की उप-जातियां स्वर्ण हों, उस के लिए हरिजन होने की पाबंदी कब और कैसे होगी। और जहां ये हरिजन कहलाईं वह दुर्भाग्य और परिस्थितियों की प्रतिकूलता के कारणवश हुई होंगी, अन्यथा इस सारे विवरण से यह सिद्ध होता है कि इस पहाड़ी प्रदेश की यह कोली जाति मूल रूप में उस उच्च कोल जाति की टिमटिमाती हुई रोशनी है जिसने आर्यन टकराव से पहले कभी हिमालय और उसकी तराई में चिर काल तक शासन किया है। अतः यही लोग यहां के आदिवासी हैं। इनकी कहानी ही वस्तुतः कुलूत देश की मूल कड़ी है।

कोली, कोल, कुलूत—

इतिहासकारों तथा मानव समाज की खोज करने वालों ने मानव वंश को शारीरिक गठन, रीति रिवाज तथा कई प्रकार की भिन्नताओं के आधार पर विभिन्न गिरोहों में विभक्त करने का प्रयत्न किया है। यद्यपि मानव गिरोहों और जातियों के हजारों वर्षों के आपसी मेल मिलाप से मानव वंश इस कदर संमिश्रित हो चुका है कि कोई भी गिरोह या जाति रक्त शुद्धि का दावा नहीं कर सकती, फिर भी आम तौर पर कुछ विशेषताएं और भिन्नताएं ऐसी हैं जिन से स्पष्ट रूप में एक दूसरे के बीच लकीर खेंची जा सकती है। उदाहरणार्थ नीगरो जाति का काला रंग, घुँघराले बाल तथा मोटे मोटे होंट और मंगोलियन नसल का पीला रंग, चपटा नाक, आंख के पपोटों का उभार स्पष्ट रूप से एक दूसरे को अलग करते हैं। सब से पहले **हरबर्ट रिजले** (Herbert Rizley) ने १८६१ में मानव जाति को तीन मुख्य जातियों अर्थात् द्राविड, इंडो-आर्यन और मंगोलियन में विभक्त किया था। एक और विद्वान **हेडन** के अनुसार भारत में पहले द्राविड और फिर आर्य जातियां बसती थीं, और फिर इनके मेल मिलाप से बहुत-सी नई जातियां पैदा हुईं। **हेडन** ने मंगोलियन नसल को अपनी रिसर्च में कोई जगह नहीं दी, अतः उनका यह अनुसंधान पूर्ण नहीं माना जा सकता। एक और विद्वान **हट्टन** ने भारत वर्ष में सब से पहले नीगरो जाति का आना बताया है, और फिर इसके बाद **प्रोटो-आस्ट्रोलाइड** (Proto Austroloid) अर्थात् कोल। **हट्टन** ने जातियों के और भी गिरोह स्वीकार किए हैं, और फिर इसके इस सिद्धान्त को बाद के विद्वानों और इतिहासकारों ने भी

लगभग स्वीकार किया है। हाल के वैज्ञानिक अनुसंधान के अनुसार मानव वंश को छः गिरोहों में बांटा गया है, जिस में **प्रोटो-आस्ट्रोलाइड** (Proto Austroloid) दूसरे स्थान पर है। यह वही कोल जाति है जिसका उल्लेख हम इस अध्याय में ऊपर कर आए हैं। **'वैदिक एज'** (Vedic Age) के लेखक का विचार है कि यह आस्ट्रोलाइड लोग पश्चिम की ओर से भारत में आए, और बढ़ते-बढ़ते आस्ट्रेलिया और उसके पड़ोसी देशों तक पहुँच गए। यह आर्यों की विजय से बहुत पहले की बात है, और इसी से दस्यु राजा शम्बर से आर्यों की मुठ-भीड़ का समर्थन हो जाता है। प्रोफेसर **रेगोज़िन के** अनुसार यह कोलार्यन लोग पूर्व से आए। आसाम, बंगाल से बढ़ते-बढ़ते ये पंजाब तक पहुँचे, जहां इन्होंने जंगल साफ किए, और साधारण खेती बाड़ी आरम्भ की। इसकी **पूर्ण पुष्टि जे० एफ० हेविट** (J.F. Hewitt) **ने अपनी पुस्तक** "Early History of Northern India" में की है, जिस की रिपोर्ट जर्नल आफ दी रायल एशियाटिक सोसायटी[1] में १८८२ और १८८९ में छपी। कोलार्यन लोगों का टकराव द्राविड़ों से हुआ, और इस संघर्ष में द्राविड लोग उन्हें धकेल कर पंजाब के पहाड़ों और घने जंगलों तक ले आए, और सम्भवतः यही समय था जब कोलार्यन नसल के यह कोली लोग सतलुज, व्यास और रावी की अत्यन्त दुर्गम और कठिन घाटियों वादियों में आ कर बसे। यहां उन्होंने अपने आप को अधिक सुरक्षित भी पाया होगा, और उससे आगे जाने का उनमें साहस भी न रहा होगा। इससे आगे उनका मुकाबला किरात लोगों से था, जो स्पिति और चन्द्रभागा के ऊपर के भागों में आबाद थे। ये दुर्गम घाटियां और पेचदार वादियां कोलार्यन स्टाक के लोगों की हिमालय की अन्तरीय उपत्यका में अन्तिम शरण ली। चूंकि इस इलाके का नाम कुलांतपीठ भी परम्परा अनुसार ही पड़ा होगा, इसलिए हो सकता है कि यह शब्द कुलांत की बजाए कोलांत हो, अर्थात् कोल लोगों का अन्त या अन्तिम सीमा।

कोलार्यन गिरोह के यह लोग यदि यहां आ कर कोल कहलाए तो कोई सन्देह की बात नहीं। यूं भी तो कुल्लू के लोगों को कोले कहा ही जाता है। फान आइम-स्टेड नाम के एक विद्वान ने भारत की जातियों को जिन तीन भागों में बांटा है, उनमें दूसरी उप जाति का नाम उसने कोलिड रखा

1. Journal of the Royal Asiatic Society.

है । इसी को दूसरे विद्वानों ने आस्ट्रोलाइड या कोल कहा है। कोलिड, कोलितर, कोलित और कोली निस्संदेह एक ही प्रकार के नाम हैं। भारत के आदिवासी नामक पुस्तक के लेखक श्री योगेश अटल अपनी पुस्तक के पृष्ठ १८ पर लिखते हैं कि आदिवासी भारत के दो प्रसिद्ध कबीले संथाल और होकालिड उप-जाति के सदस्य हैं, तथा यह बात असंख्य विद्वानों ने भी स्वीकार की है। प्रोटो आस्ट्रोलाइड या कोल जाति की सबसे पुरानी उप-जाति संथाल लोग हैं, जो बंगाल, बिहार और उड़ीसा के इलाकों में बहुत बड़ी संख्या में आबाद हैं। इन के रीति रिवाज, रहन-सहन और भाषा आदि की कितनी ही समानता कुल्लू के लोगों के रीति रिवाज में आज तक विद्यमान है। केवल संथालों के ही नहीं भारत के दूसरे आदिवासियों के भी कितने ही रिवाज कुल्लू में आम लोगों में पाए जाते हैं। इसका यह अर्थ नहीं कि कुल्लु के आज के लोग सभी आदिवासी हैं। हां, यह बात स्पष्ट है कि कुलूत देश की आज की सभ्यता पर इन आदिवासी रीति रिवाजों और उन के रहन-सहन की छाप अवश्य यहां के कोली आदिवासियों की देन है। संथालों तथा अन्य आदिवासी जातियों ने आर्य संस्कृति को बहुत कम अपनाया है। इस लिए उनके आज के रीति रिवाज की झलकियां कुलूत देश में आज भी प्रचलित हों तो विश्वास करना चाहिए कि वह उन की ही किस्म के लोगों के कारण यहां रिवाज पा गई होंगी, और फिर धीरे-धीरे कुल्लू के सारे समाज ने उन्हें किसी न किसी रूप में आज तक अपनाए रखा है। इस बात से तो इन्कार हो ही नहीं सकता कि प्रोटोआस्ट्रोलाइड अर्थात् कोलों का शमान धर्म (SHAMANISM) केवल कुल्लू में ही नहीं तिब्बत तथा चीन तक भी कभी फैला हुआ था, और जिसे कोल तथा किरात लोगों के पारस्परिक मेल मिलाप ने दूर-दूर तक प्रभावशाली बना दिया था। अच्छी और बुरी आत्माओं की पूजा, भूत-प्रेत, चुड़ेल, जादू-टोनों में संथाल तथा अन्य आदिवासी लोगों का आम विश्वास है। यह सब वे बुरी रूहों के संकटप्रद प्रभाव से डर कर और उनसे बचने के लिए करते हैं। जंगल, पहाड़, झील, बड़ी सी चट्टान, बहुत बड़ा वृक्ष, नदी-नाले, सब में वे भूत आत्माओं को स्थित मान कर उन की पूजा करते हैं। इनके यहां एक कबीले का देवता एक गांव का देवता, और एक घर का कुल देवता होता है। ये सब आस्थाएं और रिवाज कुल्लू में भी प्रचलित हैं, यद्यपि इन में से कई एक रिवाजों पर बाद में आर्य सभ्यता की छाप पड़ी और उन का थोड़ा सा रूप और नाम

प्रसन्न मुद्रा में कोल बुढ़ापा

श्रौर यह रहा सिर का श्रृंगार "डेंगा टोपणू"

बदल गया। थान, पताल तथा जोगरु देऊ निस्संदेह कोल सभ्यता की स्पष्ट निशानियां हैं। कुल्लू के प्राचीन मन्दिरों एवं देवस्थानों में कई जगह बड़े-बड़े वृक्षों में लोहे की कीलें, लोहे की चिड़ियां, सांप और त्रिशूल आदि गाड़े हुए नज़र आते हैं। यह पूर्णतः कोल सभ्यता के प्रमाण हैं। प्रोफेसर रेगोज़िन का कहना है कि कोल लोग जब आरम्भ में जंगलों में आबाद होने लगे, तो उन्होंने उस क्षेत्र के सब से बड़े वृक्ष को उस जंगल का देवता मान लिया। वे जंगल की उस आत्मा को प्रसन्न करने के लिए उसे सजाते और अपनी झोंपड़ियां बनाने तक उसी के नीचे डेरा डाल देते। इस रिवाज की एक हल्की सी झलक आज भी तिब्बती बोधों के तम्बुओं के पास गाड़ी हुई एक लम्बी और उंची सी शाखा में देख सकते हैं, जिस में कुछ घास और कुछ रंग बरंगी झण्डियां लहराती हैं।

कुलूत तथा इसके इर्द-गिर्द के पहाड़ी प्रदेशों में मरे हुए की याद में ओड़ी रखने का एक साधारण सा रिवाज था। अब भी कहीं-कहीं है, और कहीं तो किसी ऊंचे दर्रे पर जाते हुए जिन्दा आदमी भी अपनी निशानी के रूप में एक लम्बा सा पत्थर ज़मीन में गाड़ देता है, और यह उसकी ओड़ी कहलाती है। पुराने राजाओं, रानों और ठाकुरों के मरने पर भी उनकी ओड़ियाँ रखने का रिवाज था। ऊझी नगर में, जो कुल्लू के राजाओं की चौदह सौ वर्ष तक राजधानी रहा है, आज भी राजाओं की ओड़ियाँ 'वृषकुण्ड' के स्थान पर गड़ी हुई प्राचीन कोल परम्पराओं की याद दिलाती हैं। अलेऊ के स्थान पर 'झोणा राणा' के कुल के सदस्यों की ओड़ियाँ आज भी गाँव के पास छोटे से मैदान में खड़ी हैं। इसी तरह ऊंचे पहाड़ों के दर्रों पर लगभग सभी जगह इस तरह गाड़े हुए पत्थरों के ढेर और पंक्तियाँ दिखाई देंगी। ये सब प्राचीन कोल सभ्यता की मुँह बोलती तस्वीरें हैं। कुल्लू के कोलियों में तथा अन्य हरिजनों में घर के किसी सदस्य के मरने पर उसकी याद में सड़क या रास्ते के किनारे कहीं पत्थरों का चबूतरा, पानी के चश्मों पर पत्थरों की बैठक, या किसी रास्ते का बनाना या बाउली की मुरम्मत करना आदि रिवाज भी कोल संस्कृति के शेष चिन्ह हैं। गोंड, भील, और कोलों की तरह ही एक आदिवासी उप-जाति का नाम खोंद भी हैं। श्री जी० एस० घुरय्या ने मिस्टर रसल और श्री हीरा लाल की पुस्तकों का हवाला देते हुए लिखा है कि यह लोग अपने आप को 'कुइलोक' (Kuilok)

कहते हैं । इस शब्द के सामने आने से एक और राज से पर्दा हट जाता है । अपनी पुस्तक के पृष्ठ २१ पर हम रामायण के किसकिन्धा काण्ड में दर्ज श्लोक का हवाला दे कर यह सिद्ध कर आये हैं कि वृहत् संहिता में दर्ज उत्तर पश्चिम की जातियों में कुलूत शब्द को ही रामायण के इस श्लोक में '**कोलुक**' लिखा गया है । परन्तु उपर्युक्त प्रोटो आस्ट्रोलाइड जाति की खोंद उप-जाति के लोग यदि अपने आपको '**कूइलोक**' कहते हैं, तो फिर रामायण की यह '**कोलुक**' जाति वास्तव में यही '**कुइलोक**'जाति है, क्योंकि श्री घुरय्या के अनुसार इस खोंद उप-जाति के जो लोग प्राचीन कबाइली परम्पराओं से आज भी परिचित हैं, उन्हें उनकी भाषा में '**कुतिया खोंद**' अर्थात् '**पहाड़ी खोंद**' कहते हैं । शब्द खोंद तो सम्भवतः इस उपजाति ने मध्य भारत की ओर जाकर अपनाया हो । हां, उनकी अपनी अनुश्रुतियों के अनुसार वास्तव में वे कुइलोक अर्थात् कोलुक हैं और आरम्भ में हिमालय के पहाड़ों में रहते होंगे । इन्हीं लोगों में मानव वलि का भी रिवाज था । यह रिवाज कुल्लू भर में आज भी है, जिसे '**काहिका**' कहते हैं । कुइलोक और काहिका शब्द भी आपस में कुछ न कुछ मिलते हैं । इसलिए हो सकता है कि कोलार्यन जाति की यह कोई उप-जाति ही रामायण के अनुसार उत्तर पश्चिम में आबाद कोलुक जाति हो । कुइलोक से बिगड़ कर या संक्षिप्त हो कर कोली शब्द का बनना भी ठीक सम्भव है । औटर सिराज में '**कोइल**' नाम गांव का और ऊझी नगर में एक चश्मे का नाम 'कूई बाई' और कोइशी नाम की कूल्ह भी कुइलोक जाति की सम्भवतः किसी भूली बिसरी कहानी की कड़ियां हैं ।

श्री घुरय्या अपनी पुस्तक "The Schedule Tribes" में लिखते हैं, कि कोल गाँव के मुखिया को वे लोग 'महतो' कहते है । कुल्लू के इतिहास में भी इस शब्द की छानबीन से हमें पता लगता है कि किसी समय यहाँ भी गांव या रियास्त के मुखिया को 'मोंहता' कहते थे । भोसल राणा के शासन काल में जिस की राजधानी अपर कुल्लू में बड़ाग्रां के स्थान पर थी, उस का एक मुंहलग मंत्री हुआ है जिस का नाम टीटा था । उसे मुखिया के रूप में टीटामोंहता कहते थे । शब्द मोंहता तथा कोल गांव का मुखिया 'महतो' मूल रूप में और अर्थ की दृष्टि से एक ही शब्द हैं । इसी तरह कोल भाषा में वंश को 'कुली' कहते हैं । कुल्लुई भाषा में भी कुली ही कहते हैं । "**कुली मोंझे का ता बेली मोंझे तोंबड़ा**" एक कुल्लुई मुहावरा है । किसी कुल में

पैदा हुए किसी मूर्ख सदस्य को कुली मोंभे का अर्थात कुल में पैदा हुआ कौआ कहते हैं। कोल भाषा में **स्तम्भ को थम्बा** कहते हैं, जबकि कुल्लुई भाषा में भी '**थोम्बा**' कहते हैं। कोल गीतों को **खम्बोई** कहते हैं इसी तरह कुल्लू की प्राचीन देहाती भाषा में भी गीत को **खमोई** कहा जाता है कोल लोग अन्दर शब्द के लिए **भीतर** कहते हैं, जबकि कुल्लुई में **भीतरे** कहा जाता है। देवता के लिए कोल भाषा में **देऊ** और **दे**वता के स्थान को **देऊथान** कहते हैं। ठीक इसी तरह कुल्लुई भाषा में देवताको **देऊ**, उसके स्थान को **देऊथान** ही कहते हैं। नारायण को भी कोल लोग सूर्यदेव मानते हैं और कुल्लू में भी ठारह नाग ठारह नारायण मानते हैं। नारायण के मन्दिर के पासके चश्मे को कुल्लुई भाषा में **नराइंडी** कहते है। डी या दा कोल भाषा में पानी को कहते हैं। इस लिए **नराइंडी** का अर्थ हुआ नारायण का पानी। कोल लोग **चंवर** का भी प्रयोग करते हैं जिसे कुल्लुई भाषा में **चौंरी** कहते हैं जो सुरा गाय की दुम से बनती है। बड़ा देऊ और महादेव के साथ-साथ कोल लोग देवी और नागों के भी उपासक हैं, और यह उपासना कुल्लू में भी आज तक प्रचलित है। कोल लोगों के मन्दिर छोटे छोटे होते हैं इसी तरह कुल्लू में भी मन्दिर प्रायः छोटे छोटे होते थे, जिन्हें **डेहरू** या **डेहरी** कहा जाता था। बड़े-बड़े मन्दिर तो मानव की सूझ बूझ के साथ बड़े बने हैं, अन्यथा आज भी इस पहाड़ी प्रदेश में कई एक बड़े वृक्षों के नीचे **डेहरी** बनी हुई नज़र आएँगी। कहीं घर की छत पर एक डेहरी होगी, और उसमें एक सफेद पत्थर, मेंढे के सींग और लोहे की चिड़ियाँ लगी हुई नजर आएंगी। सड़क के किनारे कहीं छोटा सा डेहरू बना हुआ देखेंगे। उसके दरवाजे पर लकड़ी में खुदी हुई नागों की तस्वीरें सूर्य, का चित्र, और लोहे या टीन की चादर के काटे हुए सर्प लटके हुए नज़र आएंगे। ये सब कोल सभ्यता के स्पष्ट और सीधे सादे चिह्न हैं। सँथाल और मुंदा जातियों में त्यौहार को पर्व कहते हैं और कुल्लू में भी पर्व कहा जाता है— जैसे दीउड़ी पर्व। सावन महीने के एक त्यौहार को कोल लोग '**सौहराई**' कहते हैं, और कुल्लू में भी यही त्यौहार **शौइरी साजा और शौइरी जाच**के नाम से प्रसिद्ध है। कुल्लू भर के विभिन्न स्थानों पर सावन जात्र के नाम से भी मेले लगते हैं। संथाल लोग प्रायः **सकरात** को त्यौहार मनाते हैं, जिस तरह कुल्लू के लोग प्रायः महीनों कीं **संक्रांत** को मनाते हैं। मुंदा जाति में एक त्यौहार का नाम **फागू** है, और कुल्लू में **फागली और फागु जाच** सब

से प्राचीन त्यौहार ह । फागली के अवसर पर कुल्लू और सिराज में नाचने वाले जिस तरह घास के घगरे पहनते हैं, उसी तरह का लिबास पुराने समय में कोल, भील और गोंड लोगों का था। अराओं कबीले में त्यौहार को जात्र कहते हैं और कुल्लू में **जाच** कहा जाता है। कोलों में एक त्यौहार का नाम 'सालो काल्लों' होता है, जिस में लोग नशा पी कर शर्म और लज्जा त्याग कर नाचते, कूदते और बकवास करते है। बिलकुल यही त्यौहार एक या दूसरे रूप में इस पहाड़ी प्रदेश में कहीं कहीं मनाए जाते हैं। रूपी में सदियाल और उझी में गनेड़ इन त्यौहार के प्रसिद्ध नाम है। यद्यपि रूपी के सदियाले अब अच्छे भले मेलों में बदल चुके हैं, परन्तु होते ये सभी मेले रात को हैं। लग वादी में भी प्रायः मेले रात को होते हैं। पुराने समय में इन त्यौहारों में गंद-मंद खुले तौर पर बोला जाता था। उझी नगर में गनेड़ के अवसर पर जिस का उल्लेख पहले नागों के सम्बन्ध में आ गया है, एक समय अब भो बारह माह, शर्म और लज्जा को त्याग कर बोले जाते हैं और दोहराए जाते हैं।

कोल लोग स्थायी रूप से काश्तकार न थे, बल्कि जगह जगह खुले जंगलों को साफ करके अन्न पैदा करने के अभ्यासी थे। इस लिए इस पहाड़ी प्रदेश में भी बहुत कम भूमिपति बन सके। यदि कहीं थे भी तो बाद में आर्यन विजेताओं ने उन से या तो छीन ली या वे स्वयं छोड़ कर कहीं दूसरी जगह भाग गए। हां, इतिहासकारों का विचार है कि भूमि की वट बंदी और खास कर धान लगाना, और उसके लिए ज़मीन को उचित ढंग से तैयार करना वर्तमान लोगों को कोल लोगों से उत्तराधिकार में मिला है। इसी तरह बीस तक की गिनती, दिनों और महीनों के नाम पर बच्चों के नाम रखना और मरने पर बकरा काट कर शुद्धि करना भी कोल सभ्यता की ही देन हैं।

मध्य भारत की कुछ कोल और मुंदा जातियों में गांव के बड़े देवता को बड़ा-देऊ कहा जाता है और कुल्लू भर में मलाणा गांव के देवता को भी बड़ा देऊ कहा जाता है। तारापुर कोठी में भलयाणी गांव के देवता का नाम ही 'बड़ा देऊ' है। यह सांझी धार्मिक सभ्यता भी इस पहाड़ी प्रदेश में कोल या आस्ट्रोलाइड लोगों की गहरी छाप को प्रकट करती है। इसी

प्रकार मिस्टर एलविन (Mr. Elwin) ने भी अपनी पुस्तक "दी ट्राइबल वर्ल्ड" (The Tribal world) के पृष्ठ १७१ पर लिखा है कि मध्य भारत के बहुत से आदिवासियों के लोग अपने देवता को महा देऊ कहते हैं, और वास्तविकता यह है कि महा देऊ कल्पना ही मूल रूप में आदिवासियों की है। महा देऊ को शिव और शंकर के रूप में आर्यजनों ने बाद में अपनाया है। कुल्लू में भी परिस्थितियों तथा स्थानों के आधार पर विभिन्न नामों से महादेव की पूजा आर्यों से पहले की सभ्यता की ओर इशारा है। बिजलेश्वर महादेव का वर्णन हम पिछले किसी अध्याय में कर आए हैं, जो सृष्टि के आदिकाल में व्यास और पार्वती के संगम के ठीक ऊपर वाले शिखर पर प्रकट हुआ था।

कुल्लू के वैष्णव मन्दिरों में होली के अन्तिम दिन फाग जलाना और विशेष रूप में जलती हुई फाग के ठीक बीच में खड़े किए हुए लकड़ी के स्तम्भ पर बांधे हुए पैसों की पोटली के लिए दो दलों में मुकाबला होना बिहार और उड़ीसा की संथाल आदि उप-जातियों की होली का अंग है। जान पड़ता है कि यह रिवाज यहां बिहार से आए वैरागी साधुओं की मार्फत पहुंचा, तब यह स्पष्ट है कि यह कुल्लू में कोल संथाल संस्कृति की नकल है। निरमण्ड में दियाली के समय वहां के आदिवासी कोलियों और खशों में जो मुकाबला होता है, और जिस प्रकार कोली लोग लकड़ी और रस्सियों के सांप बना कर नाचते हैं और जलते हुए घियाने के चारों ओर चक्कर लगाते हैं, यह सब इस पहाड़ी प्रदेश में कोल सभ्यता के स्पष्ट प्रमाण हैं। इसी तरह कोठी सारी में एक रिवाज है कि सावन और भादों में एक नियत दिन लोग पहाड़ की चोटी पर जोगिनियों की यात्रा को जाते हैं। वापसी पर नौजवान लोग शिखर से नीचे की ओर दौड़ते हैं। रास्ते में दोनों तरफ नौजवान लड़कियां हाथों में कांटेदार लकड़ियां लिए खड़ी रहती हैं। जो भी युवक साहस करके उनके बीच में से गुजरने का प्रयत्न करता है उसे मार्ग के दोनों ओर की लड़कियां कांटेदार झाड़ियों से मारती हैं, और नौजवान बचता हुआ नीचे की ओर भागता हुआ चला जाता है। कुछ नौजवान तो पहली ही मार में रह जाते हैं। कुछ बीच में जाकर कांटों से छलनी हो कर रास्ते से हट जाते हैं। और इस तरह हार मान लेते हैं। परन्तु जो नौजवान उस सारे मार्ग में कांटों की मार सहता हुआ मंज़िल पर पहुंच जाता है, वह न केवल वीर माना जाता है, बल्कि यह जीत उस के लिए बहुत शुभ शगुन मानी जाती है। यदि वह विवाहित न हो, तो एक वर्ष के अन्दर

उसका विवाह हो जाता है। यदि विवाहित हो तो उसके एक वर्ष के अन्दर लड़का पैदा होता है। ऐसा इन लोगों का विश्वास है। यह रिवाज गुजरात के आदिवासियों में भी प्रचलित है। गुजराती आदि-वासियों में कोल और भील शामिल हैं, और उपर्युक्त रिवाज उन की ही सभ्यता का एक नमूना आज भी कुल्लू में विद्यमान है।

कुल्लू की भाषा में एक शब्द है, 'बटाल'। जब एक ऊंची जाति का हिन्दु किसी नीच जाति के यहां खाने पीने एवं दूसरे प्रकार के सम्बन्ध स्थापित करता था या सामाजिक निष्ठाओं के विपरीत आचरण करे तो उसे बटाल लगाया जाता था। ब्रादरी में उसका हुक्का-पानी बंद हो जाता था, और उससे सब व्यवहार तोड़ लिए जाते थे। इसी तरह यदि कोई व्यक्ति अपनी किसी निकटतम रिश्तेदार की किसी स्त्री या लड़की से सांठ-गांठ करता है तो उसे बटाल लगाया जाता है। बिल्कुल यही रिवाज सथालों में भी है, जिसे वह लोग बटलाहा कहते हैं। निकट रिश्तेदारी में चरित्र-हीनता का प्रमाण मिलने पर संथाल ब्रादरी में खलबली मच जाती है। तब ब्रादरी की एक बहुत बड़ी सभा बुलाई जाती है, और उस व्यक्ति के लिए उचित सज़ा प्रस्तावित की जाति है, जिस में अन्य बातों के अति-रिक्त ब्रादरी वालों को बहुत बड़ा खाना भी दिया जाता है। कुल्लू में भी बिटले हुए आदमी की शुद्धि रीति रिवाज के अनुसार सम्पन्न करके उस दिन ब्रादरी का खाना खिलाया जाता था। अब तो कानूनी तौर पर बटाल आदि शब्द अनावश्यक हो गए हैं। सामाजिक बन्धनों की कड़ियां एक-एक करके टूटती जा रही हैं। परन्तु इस सांझी सभ्यता से इस पहाड़ी प्रदेश में कोल रीति रिवाज के प्रभाव का पता चलता है।

शादी विवाह, नौजवान लड़के लड़कियों का आजादी से मिलना-जुलना, इकट्ठे नाच रंग और शराब लुगड़ी जैसी नशे वाली वस्तुओं का प्रयोग, लड़के लड़कियों की अनुमति ले कर विवाह करना, स्त्रियों का तलाक लेना किसी स्त्री के अन्य मरद के साथ पकड़े जाने पर हरजाना लेना, लड़कियों को शादी से पहले भगा ले जाना, किसी लड़की का किसी मरद के घर जा कर बैठ जाना जिसे कुल्लू में "घौरा पेशणा' कहते हैं, एक पति के एक से अधिक पत्नियां होना, या एक पत्नी के एक से अधिक पतियों का होना, मामा और बुआ की लड़की से विवाह को उचित समझना, जादू-टोना निकालने के लिए मुर्गा, सुअर, मछली आदि की बलि देना ये सब रिवाज

आस्ट्रिक भाषी कोल, भील आदिवासियों के हैं, और इनके दृष्टांत इस पहाड़ी प्रदेश में भी मिलते हैं जिस की हम कहानी लिख रहे हैं। ये रीति रिवाज कुलूत भर की अधिकतर आबादी में अपनाए गए हैं, यहां तक कि बाद में आई हुई आर्य जातियों ने भी उन्हें स्वीकार किया। इस सम्बन्ध में **मिस्टर ई० बी० हेवल** (Mr. E. B. Havel) ने अपनी पुस्तक "History of Aryan Rule in India" के पृष्ठ ६ पर इस दृष्टांत की व्याख्या करते हुए लिखा है—

The non-Aryan systems were not suppressed but rather linked on to the Aryan system. For it was a fixed principle of the Aryan Government that the social customs and proprietary law of concerned people should always be respected.

अर्थात् "अनार्य रीति-रिवाजों को दबाया नहीं गया बल्कि उन्हें आर्य रिवाजों में शामिल कर लिया गया, क्योंकि आर्य शासन का यह एक नियत सिद्धान्त था कि स्थानीय लोगों के सामाजिक रिवाजों और स्वाभाविक विधियों का आदर किया जाए।" यही कारण है कि आरम्भ से भेड़ बकरी चराने वाले और बाद में खेती-बाड़ी करने वाले आर्यों ने जब विजय प्राप्त करनी आरम्भ की, तब आदिवासी लोगों से सामाजिक समझौते हुए, और तब एक नई संस्कृति ने जन्म लेना शुरू किया। अवश्य ही आज हिन्दुओं की धार्मिक व्यवस्था में पच्चास प्रतिशत से अधिक परम्पराएं इन्हीं आदिवासी लोगों की शामिल हैं। अतः कुल्लू में इन सब आदिवासी रीति-रिवाजों की बुनियादों में जिन का हम विस्तार में ऊपर वर्णन कर आए हैं प्राचीन समय के कोल लोगों का अस्तित्व और उनका कुलूत से सम्बन्ध सिद्ध होता है, और ज़ाहिर है कि इस बड़ी कोलार्यन जाति की असल और सर्वथा सम्बन्धित उप-जाति के लोग इन पहाड़ों में आबाद कोली ही हैं, इसमें शक और संदेह की अब कोई गुंजाइश नहीं है। गुजरात और खांदेश में भी यह उप-जाति आबाद है, जिसे महादेव कोली कहा जाता है। **मिस्टर ए० एच० फ्रेंक** (Mr. A.H. Franke) "Antiquities of Indian Tibet" में लिखते हैं कि निरमण्ड के कोली निस्सन्देह यहां के प्राचीनतम आदिवासी हैं, और ये आस्ट्रलाइड कोल आबादी का वह अंग हैं, जो किसी तरह आर्यन संस्कृति में अपनी जगह न बना सके। डाक्टर रंधावा के शब्दों में इसके साथ की दूसरी जातियों ठाकर, कहार, नाई, गूजर, बोह्रा आदि ने अपने आप को पूर्णरूपेण आर्यन सभ्यता में ढाल लिया है,

और समाज में उचित स्थान बना लिया है। परन्तु डूमना, लोहार, सोई आदि कोलियों की तरह ही ज़रा दूर दूर रहे, हालांकि तहसील पालमपुर के कोलियों ने कुल्लू के कोलियों की अपेक्षा अपना स्थान अधिक उचित बना लिया है, और उन की गिनती स्वर्ण हिन्दुओं में होती है। हिमाचल सिरमौर के इलाके में भी दो तरह के कोली आबाद हैं—एक अंदर के, और दूसरे बाहर के। उपर्युक्त सारे ऐतिहासिक प्रमाण अब यह विश्वास दिलाते हैं कि कुलूत के कोली वास्तव में उस बड़ी कोलार्यन जाति की ही बची-बचाई निशानी हैं जो कभी हिमाचल के दामन में इस भूखण्ड पर सब से पुराने समय में आबाद थे, और इन्हीं कोल या कोली लोगों के कारण ही इस प्रदेश का नाम कुलूत पड़ा।

इस बात का उल्लेख तो कई बार आ ही चुका है कि कुलूत शब्द वास्तव में कौलूत का ही दूसरा रूप है। इसी तरह इन शब्दों का एक और बिगड़ा हुआ शब्द 'कोलटा' है, जो देहरादून और जौनसर बावर के पहाड़ी इलाकों तथा हिमाचल प्रदेश की जुब्बल, सिरमौर रामपुर आदि बाईस ठकुरायतों में बिल्कुल उन्हीं लोगों के लिए प्रयुक्त होता है, जिन्हें हम कोली कहते है। **श्री आर० एन० सक्सेना** (R. N. Saxena) ने भी अपनी पुस्तक "Social Economy of a Polyandrous People" में इस बात की पुष्टि की है और लिखा है "The Koltas, the descendants of aborigines, are the survivors of the race belonging to the pre-historic Kol culture अर्थात् 'कोलटा' लोग, जो आदिवासियों के वंशज हैं, प्रागैतिहासिक कोल सभ्यता की ही बची-हुई निशानियां हैं। अतः ये सारे शब्द कोलटा, कोल कोली, कौलूत और कुलूत निस्संदेह एक ही स्रोत अर्थात् कोल से सम्बन्ध रखते हैं, और अब इस सिद्धान्त को स्वीकार करने में किसी शंका की गुंजाइश नहीं है कि कुल्लू वास्तव में कुलूत का संक्षिप्त रूप है, और कुलूत या कौलूत नाम इस सारे पहाड़ी प्रदेश को केवल कोल और कोली जातियों के कारण मिला है। हिमालय के दामन में हिमाचल और गढ़वाल की तरफ जहां-जहां तक यह कोली और कोलटा लोग बहुत संख्या में आबाद थे, उस सभी इलाके को कुलूत कहा जाता था, और इस बिना पर कुलूत एक बहुत बड़ा पहाड़ी प्रदेश था, जिसका उल्लेख मुद्राराक्षस नाटक में काश्मीर, सिंध और यूनान के साथ आया है। इसका विस्तारपूर्वक वर्णन हम चौथे अध्याय में कर आए हैं। चन्द्र गुप्त मौर्य के युग में अर्थात् ईसवी सदी से तीन सौ वर्ष पहले भी इस उल्लेख में कुलूत के राजा को मलेच्छ राज कहा गया है।

इसका कारण ही शब्द कुलूत है, क्योंकि कुलूत के राजाओं को प्रायः और साधारणतया कोली राजा या कोला राजा कहा जाता रहा है। और कुल्लू के लोगों को कोले ही कहा जाता रहा है, हालांकि न तो कुल्लू के राजे कोली हुए हैं और न ही आज की सारी कुल्लुई जनसंख्या कोलियों की है। परन्तु कुलत और कुल्लू नाम के कारण ऐसा कहा जाता है।

कुल्लू से ले कर हिमाचल और गढ़वाल के जिन इलाकों में यह कोली और कोलटा आदिवासी आबाद हैं, उन की स्थिति सांस्कृतिक रूप में एक जैसी है। इनकी बहुत-सी आबादी को खश, कनेत और दूसरे लोगों ने ज़मीन से वंचित कर दिया था, और तब से ये वंचित ही चले आ रहे हैं। प्रायः यह लोग मुज़ारों के रूप में ही अपने मालिकों के लिए काम करते हैं, या मज़दूरी आदि करके पेट पालते हैं। बहुत से विद्वानों ने प्रोटो-आस्ट्रलाइड अर्थात् कोल जाति को निखाद (निषाद) भी लिखा है। यह निखाद लोग कुल्लू में भी आबाद थे। डा० रंधावा के शब्दों में हिडिम्बा जिसने भीम से विवाह किया था, और जिसे कुल्लू के देवताओं में विशेष स्थान प्राप्त है, इस निखाद जाति से थी। सम्भवतः इसीलिए आज भी कुल्लुई भाषा में नखिद शब्द सब से घटिया के लिए प्रयुक्त होता है। तब इसका अर्थ यह हुआ कि जब यह कोल, कोली, निखाद लोग सब से घटिया माने गये थे तभी इन को इनकी ज़मीनों से वंचित करके इन्हें दासों, नौकरों, हालियों और मुज़ारों का दर्जा दिया गया था। यह सोने के भूषण नहीं पहन सकते थे। कहीं-कहीं इन लोगों को पाँव में जूता पहनने की आज्ञा नहीं थी। ये सब बातें इस परिणाम तक पहुँचने में सहायता करती हैं कि आर्यों के अधिकार प्राप्त करने से पहले यही कोलटा, कोली लोग यहाँ के आदि वासी थे, और इन से वही बर्ताव विजेताओं ने किया जो हर पराजित से किया जाता है। सब से अधिक महत्त्वपूर्ण बात इस ऐतिहासिक दौर की यह है कि इस पहाड़ी प्रदेश में दो सभ्यताओं का जिस ढंग से टकराव हुआ और जिस नीति पर इनमें समझौता हुआ, और इसके परिणामस्वरूप जिस साँझी सभ्यता ने जन्म लिया, उसकी सुन्दर झलकियाँ इस इलाके में आज तक विद्यमान हैं। विशेषतया धार्मिक भावनाओं और आध्यात्मिक विशेषताओं में तो स्वर्ण और हरिजन बरादरियों का इस कदर मेल मिलाप है कि देवता का गूर या चेला भी कोई हरिजन कोली, डागी, लुहार, चमार हो सकता है, और देवता के पवित्र रथ उठाने में भी कई बार हरिजनों पर कोई पाबन्दी नहीं, कोई परहेज़ नहीं।

कोली और डागी—

प्रोटो-आस्ट्रलाइड या कोल जाति की छोटी-छोटी बरादरियों उदाहरणतः संस्थाल, हो, गदाबो, पानो, मनाड़ी, चंचू, टोडा, काडर, महादेव कोली, वारली, उराओं, मुँदा, खड़िया, खोंद, साबड़, ज्वांग, मुड़िया, सराओं आदि की तरह हिमालय के दामन में बसने वाले डागी भी ऐसी ही एक उप-जाति है। आज कोली और डागी में बहुत कम अन्तर रह गया है। परन्तु १८९१ की जनगणना के समय यह दोनों स्पष्ट रूप में अलग-अलग जातियाँ थीं, और इनका इन्दराज भी अलग तौर पर कागजात में हुआ है। उसके अनुसार कुल्लू भर में कोलियों की संख्या १५६७० थी, और डागियों की संख्या १३३४३ थी। इन दोनों उप-जातियों में बहुत-सी भिन्न अनुश्रुतियाँ हैं। एक अनुश्रुति के अनुसार जिन कोलियों ने डग अर्थात् मरे हुए जानवरों को, जिनमें गाय, बैल भी शामिल हैं, खाना आरम्भ किया उन्हें बरादरी में घटिया दर्जा दे कर डागी कहा गया। यह शब्द फारसी के शब्द दागी का बिगड़ा हुआ रूप भी हो सकता है, अर्थात् दागदार या ऐसा व्यक्ति जो किसी घटिया कार्य का दोषी हुआ हो। जिस तरह छतीसगढ़ की कुमार आदिवासी जाति के लोग चूहे का शिकार करके उन्हें खाते हैं, उसी तरह आज से कुछ समय पहले तक बहुत से कोली या डागी लोग कुल्लू में भी चूहे खाने में परहेज़ नहीं समझते थे। बल्कि चूहों को **'भूईं चीड़'** कहा जाता था, अर्थात् भू-पंछी कह कर चूहों को खाते थे।

धोखा देने या दगा करने की भी ऐसे लोगों से सम्भावना की जाती है। कहा जाता है कि मनाली के राना झीणा को मरवाने के लिए राजा सिद्ध सिंह ने शनाग गाँव के मुछयाणी नाम बढ़ई को उकसाया, जिस ने धोखे से झीणा राना को अपने तीर के निशाने से मौत के घाट उतार दिया। इस दगा के कारण उसे दगई कहा गया। कुल्लुई भाषा में धोखा और दगा देने वाले को दगई कहा जाता है, और इसी से यह शब्द डागी बन गया। हिमाचल में राजगढ़, गिरीपार, तहसील रेणुका में इस उप-जाति को डगोली कहते हैं। बहुत पुराने समय में कुलूत के इतिहास में एक ऐसा दौर भी आया प्रतीत होता है जब प्रायः दो ही प्रकार के लोग यहाँ रहते थे। बाहर के **'डागी'** और अन्दर के **'धौणी'** कहलाते थे। तब सम्भवतः बहुत से कोली लोग भी अनजाने से अपने को डागी ही कहते होंगे। और जब धीरे-धीरे उनमें अपनी वास्तविकता जाग उठी, तब न

केवल उन्होंने अपने आपको कोली कहना आरम्भ किया बल्कि कुछ बुरे रिवाजों और बुरी आदतों को भी छोड़ दिया होगा, और फिर १८६१ से चल कर आज तक अर्थात् लगभग एक शताब्दी होने को आई कि इस बरादरी के सब सदस्यों में आत्म सम्मान की किरण फूट पड़ी। उन्हें अपनी वास्तविकताओं का पता लगने लगा। उन्होंने मरे पशुओं का माँस खाना छोड़ दिया। बरादरियों के रिवाजों में भी कुछ सुधार सोचा। रहन-सहन में भी परिवर्तन लाने का प्रयत्न किया, और परिणामस्वरूप आज कोई भी डागी कहलाने को तैयार नहीं। १९६१ की जनगणना में सबने अपने आप को कोली लिखवा दिया, और अपने आपको उस बड़ी कोलार्यन जाति से सम्बन्धित कर दिया, जो ऋग्वेद काल में न तो अछूत थी, और न थी घटिया, बल्कि कोलितर राज शम्बर और राजा भेद की वह जनता थी, जिसने प्राचीन समय में हिमालय और उसके पहाड़ी दामन में दूर-दूर तक और बहुत समय तक शासन किया था। परन्तु कालान्तर में जिनकी परिस्थिति इस कदर बिगड़ गई कि ज़बाने हाल ने कहा :—

रोशनी लूट ली उभरे हुए मीनारों ने
पस्त ज़र्रों के मुकद्दर में वोही रात रही।

किरात—

डा० बी० एस० गुहा (Dr. B.S. Guha) ने मानव वंश को जिन छः भागों में बांटा है, उनमें एक मंगोलाइड है, अर्थात् मँगोलियन। इसकी एक शाखा तिब्बती-मंगोलियन "Tibeto-Mangoloid" कहलाती है, जो हिमालय के पश्चिम से पूर्व तक फैली हुई है। किसी कदर नसली तबदीली के साथ लगभग इसी बनावट के लोग हिमालय के अन्दर की तरफ तलहटी में चम्बा से ले कर आसाम तक किरात कहलाते थे। मध्य भारत की ओर भी किरात लोग रामायण काल में चले गये होंगे, क्योंकि रामायण के अयोध्या काण्ड में तुलसीदास जी ने किरात जाति का वर्णन किया है, और उनको **"कोल, किरात भील बन चारी"** तथा **"बनचर कोल किरात बचारे"** आदि लिख कर कोल और भील जातियों के साथ-साथ रहते हुए बताया है। वास्तव में ये जातियाँ साथ-साथ ही बढ़ती, फैलती और पनपती रही हैं। हिमालय के दामन में भी किरात लोग कोलों के साथ-साथ रहते रहे हैं, बल्कि एक दौर इतिहास में ऐसा भी आया है, जब किरात लोगों का

शासन भी हिमालय के पहाड़ी प्रदेशों में दूर पार तक फैला हुआ था।

यदि राहुल सांकृत्यायन का यह विचार मान लिया जाए कि दस्यु-राज शम्बर किरात जाति से था तो हमें किरात जाति का ऋग्वैदिक काल में भी आबाद होना स्वीकृत करना होगा। परन्तु शम्बर तो कोल जाति से था।। इसलिए यह नहीं कहा जा सकता कि ऋग्वैदिक काल में किरात जाति का अस्तित्व था या नहीं। परन्तु बाद के साहित्य में किरात लोगों का वर्णन प्रायः आया है। रामायण के बाद महाभारत में भी किरात लोगों का वर्णन हिमालय के आर-पार की घाटियों में मिलता है। इस पुस्तक के पहले अध्याय में पृष्ठ ३ पर महाभारत की एक घटना का वर्णन किया गया है, जब पाशुपत अस्त्र प्राप्त करने के लिए अर्जुन को हिमालय में आ कर तपस्या करनी पड़ी थी। यह तपस्या अर्जुन ने इन्द्रकील पर्वत पर आ कर की थी, जो मनाली से हामटा के रास्ते स्पिती को जाते हुए दिखाई देता है। लिखा है कि भगवान् शंकर अर्जुन की तपस्या से प्रसन्न तो हुए, परन्तु उन्हें अर्जुन की शक्ति पर शक था और वे पाशुपत अस्त्र देने से पहले यह निश्चय करना चाहते थे कि क्या अर्जुन में उसे सम्भालने और चलाने की शक्ति भी है या नहीं। वे अर्जुन की शक्ति आज़माने के लिए चल पड़े। इन्द्रकील पर्वत के पास जब शंकर भगवान् पहुँचे तो देखा कि अर्जुन एक जंगली पशु का शिकार कर रहा है। जानवर कुछ दूरी पर भागा जा रहा है, और अर्जुन तीर-कमान लिए उसका पीछा कर रहा है। अर्जुन ने तीर चलाया और जब वह उस गिरे हुए शिकार के पास पहुंचा तो देखा वहां एक किरात खड़ा है, और कहता है कि शिकार मैंने मारा है। इस बात पर दोनों का झगड़ा हो जाता है और बात लड़ाई तक पहुँच जाती है। दोनों ने अपने-अपने धनुष सम्भाल लिए, और एक-दूसरे पर वाण वर्षा करने लगे। बहुत देर तक लड़ाई चलती रही। जब भगवान् शंकर ने देखा कि अर्जुन थक कर चूर हो गया है और इस बात का भी निश्चय कर लिया कि अर्जुन निस्सन्देह ही वीर है, तब आँख झपकने में उसी स्थान पर लोप हो गए। अर्जुन किरात के इस प्रकार अकस्मात अन्तर्हित हो जाने पर बहुत हैरान हुआ और घबराया भी। परन्तु दूसरे ही क्षण उसे इस चमत्कार का आभास हो गया। उसे विश्वास हो गया कि किरात कोई साधारण व्यक्ति न था, बल्कि किरात के रूप में कोई और ही शक्ति थी। अर्जुन ने भगवान् शंकर का ध्यान किया, और तभी साक्षात महा शिव एक हाथ में त्रिशूल और दूसरे में पाशुपत अस्त्र लिए सामने आ गए। अर्जुन

ने स्तुति की और तब शिवजी ने न केवल वह अस्त्र अर्जुन को दिया, बल्कि उसे चलाने का भी सब तरीका बताया। लिखा है कि इन्द्र आदि बहुत से देवताओं ने भी अर्जुन को कई प्रकार के अस्त्र-शस्त्र दिए, और इस तरह एक नई शक्ति ले कर अर्जुन महाभारत का युद्ध जीतने योग्य हुआ।

महाकवि कालीदास ने इस घटना को संस्कृत के प्रसिद्ध नाटक '**किरात अर्जुनी**' में बड़े साहित्यिक ढंग से प्रस्तुत किया है। यह नाटक सस्कृत साहित्य में विशेष महत्व रखता है। चूंकि यह घटना हिमालय में इन्द्रकील पर्वत के आस-पास हुई है, और उसमें भगवान शंकर ने एक किरात शिकारी के रूप में अर्जुन से लड़ाई की है, अतः सिद्ध होता है कि हिमालय के इस क्षेत्र में अधिकतर किरात लोग ही रहा करते थे, और इसी लिए भगवान शंकर ने उस समय के जन साधारण के भेस में ही अर्जुन से लड़ाई मोल ली, ताकि अर्जुन को उन के बारे में आरम्भ में सन्देह पैदा न हो जाए, और वे पूरे निश्चय से उस की शक्ति का अन्दाज़ा लगा सकें। महा-भारत की यह घटना जो वास्तविकता पर आधारित है, इस बात का विशेष प्रमाण है कि कुलूत देश में जिस में घटना हुई, महाभारत काल में किरात लोग आबाद थे। इन्द्रकील पर्वत के (जिसका उल्लेख पहले हो चुका है) इस क्षेत्र में जगतसुख गांव के निकट ही अर्जुन गुफा नाम का स्थान आज भी मौजूद है और अनुश्रुति के अनुसार यही वह स्थान है, जहाँ अर्जुन ने तपस्या की थी। अर्जुन गुफा के निकट ही शवरी देवी का मन्दिर है जिसके नाम पर शूरू का गाँव आबाद है। कुलांत पीठ महात्म में इस सारे क्षेत्र की अधिष्ठात्री देवी शवरी कही गई है, और इन्द्रकील इस क्षेत्र का सब से बड़ा पर्वत बताया गया है। चूंकि भगवान् शंकर के कई नामों में से एक नाम शवर भी है, इसी से पार्वती का नाम भी शवरी कहा जाता है। शवर या शावर शब्द भील और किरात का समानार्थक भी है, और इस दौर की एक अलग जाति भी। जैसे रामायण की एक चौपाई में लिखा है :—

"सपध शवर खस जमन जड़, पामर कोल किरात।"

इन सब का रहन-सहन और वेश-भूषा आदि समान होंगे। इसलिए किरात या शवर के भेस में भगवान् शंकर के अर्जुन को दर्शन देने के बाद इस क्षेत्र की देवी को शवरी कहा गया। यह सब बातें पुनः इस तथ्य को प्रमाणित करती हैं कि कुलूत देश के पहाड़ी क्षेत्रों में किरात लोग आबाद थे। **वैदिक एज** (Vedic Age) के लेखक ने भी इस बात की पुष्टि की है।

पुस्तक के पृष्ठ १६७ पर वह लिखता है कि ईस्वी सदी से बहुत पहले एक और जातीय तथा भाषाई सभ्यता भारत के उत्तर पश्चिम के क्षत्रों पर प्रभावित हुई, जिसे मंगोलाइड या "SINO TIBETAN" कहा जाता है। यह लोग किरात थे, परन्तु इन का प्रभाव स्थानिक ही अधिक रहा है। **श्री राहुल सांकृत्यायन 'ऋग्वैदिक आर्य'** के पृष्ठ ८२ पर किरात लोगों का वर्णन करते हुए लिखते हैं कि **'किसी समय सारे हिमालय में किरात लोग बसते थे। पश्चिम में चम्बा से ले कर पूर्व में नागा लोगों की भूमि तक और आगे ब्रह्मा, थाईलैंड होते हुए हिन्द चीनी तक इस जाति का पता** चलता **है'।** आज कल के विद्वानों ने इस जाति का नाम 'मोन खमेर' भी प्रस्तावित किया है। मानसरोवर, नेपाल तथा अन्य बहुत से उत्तर पश्चिमी इलाकों में वहाँ के पुराने निवासियों को **मोन** या **'मोनपा'** कहा जाता था, और कम्बोडिया आदि उत्तर पूर्व इलाकों के पुराने निवासियों को **खमेर** कहते थे। इन दोनों नामों को मिला कर **मोन खमेर** नाम प्रस्तावित किया गया, ताकि उत्तर पश्चिम से उत्तर पूर्व तक मिलने वाले किरात लोगों को एक ही नाम दिया जा सके। कदरे पीला रंग, आँखों के पपोटे उभरे हुए और किसी कदर लटके हुए, गोल-सा चेहरा और चपटी नाक प्राय: ऐसे शारीरिक चिन्ह किरात लोगों के होते हैं। लद्दाख, लाहुल, स्पिति, चम्बा, किन्नौर के लोगों में प्राय: किराती आकार पाए जाते हैं, इसी तरह गंगोतरी से ऊपर नीलिंग के रहने वाले और नीति माना के तोलछे और अलमोड़ा के मलम लोग भी यद्यपि किराती भाषा नहीं बोलते, परन्तु इनके चेहरे-मोहरे किरात लोगों जैसे होते हैं। कुल्लू और हिमाचल की ऊँची-ऊँची जगहों के रहने वाले लोगों में भी इस प्रकार की मुखाकृति देखने में आती है। कुल्लू घाटी के **मलाणा** गांव के लोग यद्यपि भाषाई दृष्टि से किराती प्रतीत होते हैं परन्तु चेहरे की बनावट इन की पूर्ण आर्यन दिखाई देती है।

मनुस्मृति (अध्याय १०, श्लोक ४४) में भी किरात लोगों का वर्णन दर्द और खश लोगों के साथ आया है, जिस का अर्थ यह हुआ कि दर्दस्तान से ले कर उत्तर पूर्व की ओर खश और किरात लोग साथ-साथ आबाद थे। वृहत संहिता में भारत के उत्तर पूर्व में किरात लोगों के होने का वर्णन आया है। महाभारत के जनपर्व में एक दूसरे स्थान पर भी सबाहु के देश का वर्णन आया है, जहां किरात, तंगुन तथा पुलंद जाति के लोग रहते थे। यह सबाहु कहाँ का राजा था, निश्चय से कहा नहीं जा सकता। हो सकता है कि हिमाचल में शिमला के निकट सबाथु या सपाटु नाम के स्थान से

सबाहु की कल्पना की जा सके। महाभारत की यह घटना पांडवों की हिमालय यात्रा के सम्बन्ध में है। तब पांडव गंध मादन पर्वत पर जाते हुए सबाहु के देश से गुज़रे थे। गंधमादन पर्वत गढ़वाल में है, और निस्सन्देह इन्द्रकील से गंधमादन पर्वत जाते हुए सबाहु का देश हिमाचल का ही क्षेत्र हो सकता है, जहाँ किरात लोगों के होने का उल्लेख आया है।

श्री डो० आर० रेधी नेपाल की ऐतिहासिक खोज करते हुए अपनी पुस्तक 'Ancient and Medieval Nepal' के पहले ही पृष्ठ पर लिखते हैं कि काठमंडू की बादी में प्राचीन समय में किरात लोग ही आबाद थे। आगे चल कर वे यह भी लिखते हैं कि नेपाल में सब से पहले सम्भवत: किरात वंश का ही शासन था, और इससे यह भी सिद्ध होता है कि इस देश में मानव वंश की सब से पहले स्थापना किरात लोगों ने ही की है। पूर्वी नेपाल के दूरस्थ तथा घने जंगलों वाले इलाके को आज भी किरात देश कहते हैं। श्री रेधी तो यहां तक लिखते हैं—

It may be mentioned here that in ancient treatises every body living in the Himalayas was called a Kirata."

"यहां यह भी उल्लेखनीय है कि प्राचीन लेखों के अनुसार हिमालय में रहने वाले हर एक व्यक्ति को किरात कहा जाता था।" नेपाल की अधिकतर आबादी जो नेवार कहलाती है, श्री रेधी और दूसरे विद्वानों के अनुसार मूल रूप में किरात सभ्यता से ही सम्बन्धित है। मसीह से सात सदी पहले के लगभग इस क्षेत्र में किरात लोगों के आबाद होने का पता चलता है, जबकि वंशावलियाँ और अन्य प्राचीन प्रलेख किरातों के इतिहास को मसीह से तीन हज़ार साल पहले तक ले जाते हैं। वंशावली के अनुसार आरम्भ के जिन २८ किरात राजों के नाम सामने आते हैं उनमें पालम्बर, पौबी, हुतमी, सुपरमा, बूंका, स्थूलका, जगरु, सूलका, केसू, खम्बू, गोंथू, खेम्बू, सामे, गुंजा, सिम्बू आदि ऐसे नाम हैं जो लगभग कुल्लू और कांगड़ा में आज भी आम पाए जाते हैं। पालम्बर यदि सब से पहले किरात राजा या मुखिया का नाम है तो निस्सन्देह इसी शब्द का बिगड़ा हुआ रूप शब्द लम्बर है जो बाद में लम्बर या लम्बरदार बन गया होगा। कुल्लुई भाषा में इसे लाम्बर कहा जाता है। ठेठ पंजाबी भाषा में यह शब्द लम्बड़ बोला जाता है। चूंकि प्राचीन समय से गाँव के मुखिया को लम्बर, लाम्बर या लाम्भर कहा जाता रहा है, (नम्बरदार तो केवल अंग्रेज़ी भू-अभिलेखों में

लिखा गया है) इसलिये यह शब्द अवश्य ही किरात भाषा और किरात सभ्यता की देन है, जो आज तक इस बात की याद ताज़ा कर रहा है कि किसी समय सारे हिमालय में कोलों के साथ-साथ किरात लोग भी आरम्भिक निवासियों में शामिल रहे हैं। पौबी, झगड़ू, केलू, खेमू, घांथू, खेम्बू, स्यामू आदि नाम कुल्लू कांगड़ा भर में गद्दियों तथा अन्य लोगों में प्रचलित हैं। इनसे प्रकट होता है कि कांगड़ा में भी किसी समय किरात संस्कृति के छींटे पड़े हैं। बैजनाथ प्रशस्ति में भी जो कि एक ऐतिहासिक प्रलेख है, बैजनाथ का पुराना नाम 'किर ग्राम' लिखा गया है। इस बात का संकेत श्री राहुल भी अपनी पुस्तक ऋग्वैदिक आर्य के पृष्ठ ८४ पर करते हुए लिखते हैं, कि जिस गाँव में बैजनाथ का ऐतिहासिक मन्दिर स्थित है उस गाँव को दसवीं ग्यारहवीं शताब्दी के एक शिलालेख में किरग्राम लिखा गया था।

सभ्यता के उपर्युक्त प्रभाव उन किरातों के हैं, जिन के बारे में हमारा विचार है कि वे उत्तर पूर्व की ओर से इधर उधर आए होंगे। वास्तव में कुछ देशों पर जिन किरात लोगों का अधिक प्रभाव पड़ा, वे मंगोल जाति से सीधा सम्बन्ध रखते हैं। एक समय इतिहास में ऐसा भी आया है जब कोल लोगों का सारे तिब्बत, चीन, मंगोलिया तक प्रभाव फैला हुआ था। बौद्ध धर्म के तिब्बत में जाने से पूर्व वहाँ के लोग बोन या पोन धर्म को मानते थे, और कोलों की तरह प्रकृति की अच्छी या बुरी शक्तियों की पूजा करते थे। जादू-टोना, तंत्र-मंत्र, झाड़-फूंक तथा मनुष्य की बलि देना भी उन के उस धर्म में शामिल था। पशु-बलि देना, उन की टाँगें तोड़ना, अंतड़ियाँ निकालना, देवताओं को प्रसन्न करना आदि रिवाज बोन धर्म में थे। इसी प्रकार के रिवाज जैसे मेंढे को लिटा कर उस की छाती चीर कर दिल निकालना और उसे देवताओं की भेंट करना, फिर टाँगें काटना और इस तरह तड़पा तड़पा कर पशु को मारना आज भी कुल्लू के गाँव मलाणा, जाणा आदि में प्रचलित हैं। मनुष्य की बलि देने का त्योहार 'काहिका' भी कुल्लू भर में कभी होता था। अब भी होता है, परन्तु अब मनुष्य की बिजाए बकरे, भेडू आदि की बलि दी जाती है। कहा नहीं जा सकता कि इस प्रकार के यह रिवाज यहाँ से तिब्बत की ओर गए या तिब्बत की ओर से इधर आए। बहरहाल कोल और किरात सभ्यता को जुदा भी नहीं किया जा सकता और यह भी नहीं कहा जा सकता कि किस का किस पर कब प्रभाव पड़ा। हाँ, **मिस्टर चारलेस बेल** (Mr. Charles Bell) के अनुसार तिब्बत के

ऐतिहासिक अभिलेख इस बात की पुष्टि करते हैं कि ईसवी पूर्व तीसरी सदी से ले कर ईसवी सदी के चार सौ वर्ष बाद तक अर्थात् लग-भग सात सौ वर्ष तक तिब्बत के आरम्भ के शासकों ने बोन धर्म को बढ़ावा दिया। उन का कहना है कि—"As the first recorded King was an Indian, the fifth son of the king of Kosala, it may be that Brahmanical influence came in." **"चूंकि तिब्बत का प्रथम लिखित राजा एक भारती था जो कौशल के महाराज का पाँचवाँ लड़का था, इस लिए हो सकया है कि ब्राह्मण धर्म के कुछ प्रभाव वहाँ से आए हों।"** तिब्बत के इस ऐतिहासिक प्रलेख का हवाला **"जर्नल आफ दी एशियाटिक सोसाइटी आफ बंगाल"** १८८१, भाग तीन के पृष्ठ ३१५, ३१६, से मिलता है और इस महत्वपूर्ण खोज से यह तथ्य सामने आ जाता है कि प्राचीन बोन धर्म वास्तव में प्राचीन आर्य सभ्यता का ही एक रूप है। ईसवी सदी नवीं में **सर औरेल स्टेन** (Sir Aurel Stein) ने चीनी तुर्किस्तान में तिब्बत के कुछ ऐसे प्रलेख खोज निकाले थे जिन में बोन ढंग के स्वस्तिका निशान थे। इन प्रलेखों की पुष्टि **पादरी ए० ऐच० फ्रेंक** ने की थी (Bell, P–447)। इस से सिद्ध होता है कि बोन धर्म में स्वस्तिका का निशान मामूली अन्तर के साथ बिलकुल आर्यन सभ्यता की देन है। चीनी तुर्किस्तान में एक स्थान का नाम इकसु है, जैसे हमारे यहाँ धमसु, जालसु, भागसु आदि हैं। तिब्बत में शक्ति की पूजा भी होती है। पालदन ल्हामो (Palden-Lhamo) बौद्ध शक्ति का नाम है जब कि बोन धर्मानुसार जिस शक्ति की पूजा होती है उसे पालदन सीसुम ग्यामो (Palden Si-sum-Gye-Mo) कहते हैं जिस के अर्थ हैं तीन लोकों की सुंदरी अर्थात् त्रिपुरा सुंदरी। बोन धर्म में सूर्य की पूजा भी की जाती है। इन लोगों को ग्यंग डरुंग बोन (Gyang Drung Bon) अर्थात् स्वस्तिका बोन कहते हैं। इस तरह असंख्य रीति रिवाज, साँझी परम्पराएं, भाषा और शब्द, घटनाएं और दुर्घटनाएं ऐसी हैं जिन से हिमालय के उस पार तिब्बत और चीनी तुर्किस्तान के इलाके तक आर्यन सभ्यता के प्रभाव का पता चलता है। ठीक इसी तरह इन किरात लोगों का प्रभाव हमारे देश के पहाड़ी इलाकों पर भी स्पष्ट रूप से रहा है। तिब्बती भाषा में दर्रे को 'ला' कहते हैं। इस लिए कुल्लू भर में कितने ही ऐसे स्थान हैं, जिन के अन्त में "ला" आता है—जैसे नशाला, तोंदला, छूरला, राहला, सजला, हुरला, काँगड़ा में त्रंदला, और मण्डी हिमाचल में नारला, लाहुल में गुंधला आदि स्थान हैं। ये सब दर्रे तो

नहीं हैं, परन्तु पहाड़ के दामन में ऐसे स्थान हैं जहाँ से किसी नदी-नाले के साथ-साथ पहाड़ की दूसरी तरफ को रास्ता खुलता है। इसी प्रकार जिन शब्दों के अन्त में अंग, इंग, आँग और चा लगता है वे भी तिब्बती भाषा पर आधारित माने जाते हैं। ये स्थान कुल्लू में सोलंग, कुलिंग, शालंग, बाशग, सीलंग, कालंग, समालंग, हूरंग आदि हैं। मण्डी में दरंग और लाहुल में तेलग ठोलंग, गुमरग, मूलिंग, केलग आदि स्थान किरात संस्कृति के इन इलाकों में स्पष्ट प्रमाण हैं। इसी तरह करजाँ, गजाँ, नजाँ आदि शब्द वास्तव में करजाँग, गजाँग, और नजाँग हैं। इस तरह के नाम प्रायः हिमालय पर के किरात देशों में आज भी हैं। कुल्लू में पनगाँ और तिब्बत लद्दाख के बीच एक दर्रे का नाम भी पिनगाँग ला है। कड़िंगचा, भड़ींगचा, नाँगचा, धड़िंगचा, शलिंगचा आदि नाम भी ऐसे ही हैं, जैसे तिब्बत की एक पार्क का नाम कालंगचा है। उपर्युक्त नाम कुल्लू के विभिन्न स्थान तथा गाँव हैं और लाहुल में दारचा, बारालाच और कारचा आदि नाम भी इस सम्बन्ध में लिए जा सकते हैं। लद्दाख में एक स्थान का नाम खारुल है, और ऐसा ही नाम ऊभी नगर के पास ही एक गाँव का है जिसे खरोल कहते हैं। चजोगी भी छोजोग शब्द से बिगड़ कर बना है। छाकी और छीका शब्दों का आधार भी किराती भाषा है। जोकाँग ल्हासा का एक मन्दिर है, जो पब्लिक हैल्थ सेन्टर और हस्पताल का भी काम देता है। गाँव नगर के एक हिस्से का नाम आज भी जोक है जो सम्भवतः किरात लोगों के पूर्ण प्रभाव के समय इस केन्द्र का ऐसा ही मन्दिर होगा। ज़ोंग शब्द भी तिब्बती है जो ज़िला या इलाके के अधिकारी के लिए भी प्रयुक्त होता है, और ज़िला के लिए भी। इस प्रकार का शब्द कटराई के पास जोंग नाम का गाँव है। लग वैली में भी जोंग नाम का गाँव है। ये इसी सम्बन्ध की यादें प्रतीत होती हैं। कुल्लुई भाषा में एक शब्द है राला अर्थात् लम्बे बाल। तिब्बती भाषा में भी रालपा लम्बे बालों को कहते हैं। कुल्लू घाटी के गाँव मलाना की भाषा में अनगिनत शब्द तिब्बती भाषा के हैं—जैसे घी को 'मार', लकड़ी को 'शिंग', और पानी को 'ति' कहा जाता है। ग्लासरी आफ ट्राइवज़ एण्ड कास्टस् (Glossory of Tribes and Castes) के लेखक का विचार है कि लाहुल के आदि वासी लोगों को मोन या मोनपा कहा जाता था। जनरल कनिंघम ने भी इस की पुष्टि करते हुए लिखा है कि हिमालया के दामन में प्राचीन लोग मौन कहलाते थे। तिब्बती भाषा में **मोन** को **मोलान** कहते हैं, जिस से एक और वास्तविकता प्रकट होती है। गाँव

मलाना का नाम तिब्बती भाषा के शब्द **मोलान** से सम्बन्धित है। अतः मलाना तिब्बती नाम है जिस का अर्थ है मोन लोगों का गाँव। मोलान और मलाना शब्दों का तिब्बती भाषा से निकट सम्बन्ध एक और शब्द से भी प्रकट होता है। लाहुल, स्पिति, लद्दाख, जस्कर, तथा चम्बा पाडर में बिल्ली को पुशि कहते हैं, जबकि तिब्बत और मलाना में ज़िमि कहते हैं। हालाँकि पूर्वोक्त इलाके तिब्बत से हर अवस्था में निकट हैं, परन्तु बिल्ली के लिए ज़िमि का प्रयोग केवल तिब्बत और मलाना में समान होना इस बात की पुष्टि करता है कि मलाना के लोग मोन हैं, और तिब्बती मंगोल नसल की उस शाखा के सदस्य हैं जिन्हें आज के अनुसंधान कर्ता मोन खमीर कहते हैं। ये किरात हैं और श्री राहुल भी इस बात की पुष्टि करते हुए अपनी पुस्तक **ऋग्वैदिक आर्य** के पृष्ठ २४ पर लिखते हैं कि **'कुल्लू सब डिविज़न की मलाना घाटी में किरात बोली बोलने वाला मलाना एक बड़ा सा गाँव है। वह भाषा में ज़रूर किरात है। परन्तु आस-पास के खसों के समुद्र में एक छोटा सा टापु कैसे अलग-थलग रह सकता है। मलाना वाले मुख मुद्रा में खस होते हूए भी भाषा से मोन हैं।'** और एक जगह श्री राहुल लिखते हैं कि **"सातवीं सदी के अन्त में तिब्बती लोग मानसरोवर और अन्य विभिन्न भागों से हिमालय में आगे बढ़े। वे यहाँ के लोगों को मोन और उन के देश को 'मोन युल' कहते थे।"** तिब्बत के ये किरात लोग जब बारालाचा और रोहताँग होते हुए व्यास की ऊपर की घाटी में पहुंचे होंगे तो उन्होंने इस इलाके को भी 'मोनयुल' कहा होगा जो बाद में बिगड़ कर मनाली बन गया, क्योंकि मोनयुल से मनाली बनना भी तो ठीक सम्भाव्य है—मोनयुल-मनयुल—मनाली। इस से पहले हम मनाली को मन्वालय अर्थात् मनु का घर सिद्ध कर आए हैं। और यह भी हमारा विचार पक्का है कि शब्द मोन भी मनु से ही सम्बन्ध रखता है, तथा तिब्बती भाषा का शब्द 'युल' भी संस्कृति शब्द 'आलय' से मिलता जुलता है। अतः मनाली शब्द मन्वालय से भी बन सकता है और मोनयुल का अर्थ भी मनु का घर ही है। इस भाषाई अन्तर से हमारी ऐतिहासिक खोज में वृद्धि ज़रूर हो जाती है कि मोनयुल से मनाली मान लेने पर हमें कुलूत देश पर किरात संस्कृति के प्रभाव का पता चलता है। इतिहास के इसी दौर में मनाली में एक बहुत बड़े बौध विहार (Monestry) के होने का भी पता चलता है, जिस का वर्णन जी० सी० हौवल (G. C. Howel) सहायक कमिश्नर कुल्लू ने १९१० में **'जर्नल आफ दी पंजाब हिस्टारिकल सोसाइटी'**

के एक खण्ड में किया था। मिस्टर टाइसन ने अपनी पुस्तक "The Happy Valley" में मि० हौवल के ही शब्दों में उस घटना का उल्लेख इस प्रकार किया है :—

"बीस वर्ष से अधिक समय हुआ जब एक बोध भिक्षू ल्हासा से अपने परिचय और भेंट पत्रों के साथ एक पत्र लाहुल के ठाकुर हरिचन्द के नाम लाया। वह अपने साथ मनाली का एक पुराना नक्शा भी लाया था, जिस में उस बौध विहार का भी वर्णन था जो वहाँ कभी स्थित था। उस भिक्षु ने बताया कि लामाओं ने उस विहार को बहुत जलदी में छोड़ा था। परन्तु जाने से पहले वे इस पुस्तकालय को एक गुफा में या भूमि के अन्दर कमरों में बन्द कर गए थे, और दरवाज़े पर लकड़ी के शहतीर रख कर उन्हें मंत्रों से ऐसे गाड़ गए थे कि कुल्लू का कोई वीर या शक्ति वाला आदमी भी उन को हिला न सके। जब यह भिक्षु मनाली पहुंचा तो सीधा उस जगह गया जहां मन्दिर के पास दो लकड़ी के शहतीर रखे थे। परन्तु उन मंत्रों का ही प्रभाव था कि वह उन को हाथ न लगा सका, और वापिस चला गया। इस तरह यह रहस्य आज तक रहस्य ही बना हुआ है।"

उपर्युक्त घटना के सत्य होने में कोई शंका नहीं, क्योंकि चीनी यात्री ह्यू न साँग के यात्रा संस्मरण के अनुसार भी कुल्लू में बीस के लगभग बौध विहार थे जिन्हें संघारम भी कहत थे। इन में एक हज़ार के लग-भग भिक्षु महायान धर्म का पालन करते थे। इन्हीं विहारों में से एक मनाली में होगा। और वह सब से बड़ा केन्द्र होगा, जिस की बहुमूल्य पुस्तकों को सुरक्षित रखने के लिए लामाओं ने ऐसा किया होगा। अन्य ऐतिहासिक तथ्य भी इस बात की पुष्टि करते हैं कि कुलूत देश में प्राय: न केवल किरात संस्कृति की गहरी छाप पड़ी है, बल्कि लाहुल स्पिति की कुलूत के साथ लगती हुई सीमाओं पर ऊँची-ऊँची जगहें तो इस ऐतिहासिक दौर में इन्हीं किरात लोगों के कब्ज़ा में थीं। कुल्लू राजाओं की वंशावली के अनुसार कुल्लू के पहले राजा भंगमणिपाल का पहला टकराव ऊभी के गाँव जगतसुख में हुआ था, जब भनारा में स्थित पित्ती ठाकुर को मार कर उस ने अपना राज्य स्थापित किया था। तब इन पहाड़ी इलाकों पर स्पिति के किरात ठाकरों का राज्य था, और जगतसुख का नाम **'नास्त'** था। जूरा, भनारा और कोस्त तीन और गाँव भी यहाँ थे। सजला गाँव से दो मील पीछे बरनाड नामी जगह पर भी पित्ती ठाकुरों के गढ़ों और

मकानों के खण्डहर आज तक मौजूद हैं, जिन से असंख्य कहानियाँ और अनुश्रुतियाँ सम्बन्धित हैं। इन पित्ती ठाकुरों के वशज अब मर मिट गए हैं परन्तु उन से सम्बन्धित अनुश्रुतियाँ अभी जीवित हैं। कुछ विद्वानों का तो यहाँ तक मत है कि मनाली का झीणा राना भी अन्तिम तिब्बती शासक था, जिसे राजा सिद्ध सिंह ने साज़िश कर के शनाग गांव के मुछयाणी नामक डागी से मरवाया था। नगर तक भी पित्ति ठाकुरों का प्रभाव रहा है। उस समय उन की राजधानी रुमसु में थी जिसे इसी पाल वश के तेरहवें राजा विशुद्ध पाल ने विजय कर के नास्त की बजाए नग्गर को राजधानी बनाया और फिर इस के बाद चौदह सौ वर्ष तक नग्गर ही कुल्लू के राजाओं की राजथानी रहा।

ऐसा लगता है कि नवीं दसवीं सदी से ग्यारहवीं सदी के मध्य तक इन पहाड़ी प्रदेशों में समय समय पर किरात लोगों का प्रभाव कभी कम और कभी अधिक होता रहा है। ऊझी नग्गर भी उस दौर में किरात संस्कृति का केन्द्र रहा होगा, और इसी तरह दशाल और जगतसुख भी बौद्ध धर्म के केन्द्र रहे होंगे, क्योंकि शंकराचार्य जी ने बौद्ध धर्म को भारत से निकालने का जो आन्दोलन आठवीं सदी में आरम्भ किया था, उसे कुलूत पहुंचने तक काफी देर लगी, और जब यहां से बौद्ध धर्म की जड़ें उखाड़ दी गई, तब उसकी स्मृति में यहां इन स्थानों पर शिव मन्दिर बनाए गए, जिन की निर्माण-कला दक्षिणी भारत की ही निर्माण-कला का नमूना है। इन विशेष प्रकार के शिव मन्दिरों का नग्गर, छाकी, दशाल और जगतसुख में होना यह सिद्ध करता है कि इन स्थानों पर सम्भवत: पहले बुद्ध विहार और संघारम थे, जिन्हें शंकराचार्य के अनुयायों ने मलयामेट करके उनकी जगह ये शिव मन्दिर खड़े कर दिए, जिन की बनावट सम्भवत: नवीं दसवीं सदी बल्कि सम्भवत: इससे भी कुछ बाद की ही होगी। नग्गर के आस-पास उस समय के गांवों के नाम खरोगी, चरानंग, नशाला, खरोल आदि इस इलाके में न केवल किरात संस्कृति का पूर्ण प्रमाण हैं बल्कि इस केन्द्र के महत्वपूर्ण होने की ओर भी संकेत हैं। इसी प्रकार जगतसुख के आस पास भी तीन चार गांव थे इन में से ज़रा, भनारा अब भीमौजूद हैं। कोस्त उजड़ गया और नास्त का नाम जगतसुख रखा गया। **मिस्टर चारलस् बैल** (Sir Charles Bell) की पुस्तक के एक बहुत पुराने नक्शे को देखने से पता लगता है कि तिब्बत से पूर्वी भाग में गोलोक एक बड़ा इलाका है, जिस में जग-चुक भी एक महत्वपूर्ण स्थान है। अब यह विषय

विचारणीय है, और हो सकता है कि पित्ति ठाकुरों या तिब्बती प्रभाव के ऐतिहासिक दौर में नास्त का नाम मिटा कर तिब्बत आगंतुकों ने अपने उस गांव जग-चुक के नाम पर ही इस का नाम जग-चुक रखा हो, जो बाद में जगसुख कहा जाने लगा हो। आम लोग आज भी इसे जगसुख ही कहते हैं। केवल पढ़े लिखे लोगों ने बाद में जगतसुख कहना आरम्भ किया होगा, और इस नाम को कुल्लू राजाओं के वंश में हुए राजा जगत सिंह के नाम से सम्बन्धित करना आरम्भ कर दिया। राजा जगत सिंह १६४० में हुआ है, और इसके प्रशासन काल की बहुत सी घटनाएं काफी हद तक उपलब्ध हैं। इनमें कहीं वर्णन नहीं है कि उसने अपने नाम पर जगतसुख गांव का नामकरण किया हो। न ही ऐसी घटना हुई जिस के कारण ऐसा करने की आवश्यकता अनुभव हुई हो। इसलिए यह सम्भव है कि जगत-सुख का आधार जग-चुक ही हो, और यह नाम इसे पित्ति ठाकुरों या तिब्बती स्वामियों ने दिया हो, जिन का पूर्व सम्बन्ध सम्भवतः तिब्बत में गोलोक के जग-चुक से हो। प्रायः ऐसा होता भी है कि एक वंश किसी जगह से चल कर जब किसी दूरस्थ स्थान पर जा कर आबाद हो जाता है, तो वह अपनी पहली जन्म भूमि के नाम पर ही उस नये स्थान का नाम भी रख लेता है। हमारे पूर्वज पहले कभी लाहुल की पटन वैली में ब्राह्मण कोठी के स्थान पर रहते थे, और जब वे लाहुल को छोड़ कर कुल्लू में आबाद हुए तो नये स्थान का नाम भी ब्राह्मण कोठी ही रख दिया। और भी ऐसे सैंकड़ों उदाहरण हैं। ल्हासा के उत्तर-पूर्व में ही एक और जगह तिब्वत में है, जिसे नागचुक लिखा है। अब ये तीन शब्द गोलोक, जगचुक, और नागचुक जहां तिब्बत में भारतीय प्रभाव के प्रत्यक्ष प्रमाण हैं, वहां तिब्बती प्रभाव की दृष्टि नास्त और कोस्त को मिटा कर जगचुक नाम रखना भी कुलूत के इन इलाकों पर किरात संस्कृति के स्पष्ट प्रमाण हैं।

किरात संस्कृति के प्रभाव केवल कुलूत तक सीमित नहीं रहे, बल्कि कांगड़े तक भी पहुंचे हुएं प्रतीत होते हैं। पृथ्वी राज रासो में **"कांगुरा युद्ध"** के सिलसिले में एक घटना का वर्णन आया है, जिसे श्री राजेश्वर प्रसाद नारायण सिंह ने अपनी पुस्तक **"संसार चंद"** के पृष्ठ २४ पर इस तरह दर्ज किया है, **"कुछ दिनों के बाद जालन्धर देवी ने स्वप्न में राजा पृथ्वी राज से कहा कि मैं कांगड़ा दुर्ग अर्थात् किला की बेटी हूं। तुझ पर प्रसन्न हो कर वर देती हूं कि तू हाथ में तलवार ले कर पहले भोटी भान से और फिर वीर पल्हण पर विजय प्राप्त कर। इस लड़ाई में तेरा सहायक**

वीर हमीर शत्रुओं का नाश करेगा। फिर तू उसकी सुन्दर लड़की से विवाह करके घर लौटेगा"। इसके बाद पृथ्वी राज कांगड़े पर चढ़ाई करता है। हमीर की सहायता से भोटी भान और पल्हण को पराजित करके कांगड़ा का किला हमीर को सौंप कर स्वयं दिल्ली लौट आता है। इस घटना से यह तो पता चल गया कि इतिहास के उस दौर में कांगड़े के प्रसिद्ध दुर्ग पर भान नाम का कोई भोट राजा शासन करता था। परन्तु यह था कौन ? इस सम्बन्ध में लेखक का विचार है कि वह कोई किरात वंश का राजा था। किरातों में भोट या भोटिया नाम की उप-जाति तो आज भी है। और प्रायः तिब्बत, लद्दाख और लाहुल स्पिति तक के पुराने निवासियों को लोग भोट कहते थे। चूंकि बैजनाथ के निकट एक शिलालेख में बैजनाथ को भी किर ग्राम अर्थात् किरात गांव बताया गया है, इसलिए सम्भव है कि कोई भोट राजा कांगड़ा तक भी पहुंच गया हो, और उसने कांगड़े के दुर्ग पर भी कब्जा किया हो। तब पृथ्वी राज रासो के लेखक कवि चंद बरदाई ने भी उसे भोट लिखा। यह भोट राजा कौन हो सकता है ? इस के बारे में श्री राजेश्वर प्रसाद का विचार है कि पश्चिमी तिब्बत में एक इलाका है जिसे गूगे कहते हैं। यद्यपि आज यह इलाका सुकड़-सिमट कर सतलुज नदी से ऊपर के भाग तक, जो शिपकी आ कर समाप्त हो जाता है, सीमित है, परन्तु गूगे के कई राजों ने समय-समय पर दूर दूर तक के इलाके जीत कर के उन पर शासन किया है। दसवीं सदी के लगभग इस राज्य का जाना हुआ इतिहास आरम्भ होता है। इस के लग-भग बीस वर्ष पहले मध्य तिब्बत के एक वीर सरदार नेमागूं ने ल्हासा से आकर सारे पश्चिमी तिब्बत पर अधिकार जमा लिया था। उसने लद्दाख, स्पिति और लाहुल तक भी कदम बढ़ाए थे। मरने से पहले नेमागूं ने अपना सारा राज अपने तीन लड़कों में बांट दिया था। ग्यारहवीं सदी के उन्त में इस गूगे देश पर नेमागूं के दूसरे लड़के का पोता राज करता था। सम्भव है कि इसी गूगे के किसी राजा ने बढ़ते बढ़ते कांगड़े पर भी कब्ज़ा कर लिया हो। लद्दाख में पाए गए कुछ ऐतिहासिक प्रलेखों से पता चलता है कि तिब्बतियों ने तीन बार कुल्लू पर आक्रमण किये। पहला आक्रमण सम्भवतः ११२५ और ११५० सन् ईसवी के बीच हुआ। हो सकता है कि यह आक्रमण बढ़ कर कांगड़े तक हुआ हो। यद्यपि ऐतिहासिक तथ्य के रूप में इस के सम्बन्ध में कुछ निश्चय से नहीं कहा जा सकता, फिर भी अंदाज़े गलत हों या ठीक पृथ्वी राज रासो के उल्लेख में आया हुआ **भोटी भान** राजा निश्चय ही कांगड़े के किले पर काबिज़ था, जिसे पृथ्वी राज ने

पराजित किया। इससे इस पहाड़ी प्रदेश पर किराती प्रभाव तो सिद्ध हो ही जाता है, चाहे वह अस्थायी ही क्यों न हो। लद्दाख, लाहुल और स्पिति के इलाकों पर तो तिब्बती किरातों का प्रभाव अधिक ही रहा है। परन्तु लाहुल की पटन वेली में इनका ज़ोर कदरे कम रहा है यद्यपि मुखमुद्रा से स्पष्टतया किराती प्रभाव लक्षित होता है। जाति और धर्म के आधार पर भी यह लोग अधिकतः बौद्ध हैं। नेमागूँ के उपर्युक्त वर्णन से एक और महत्वपूर्ण परिणाम भी निकाला जा सकता है। कुलूत और हिमाचल प्रदेश के किन्नौर आदि पहाड़ी क्षेत्रों में इलाके के मुखिया को प्रायः **नेगी** कहा जाता है। यह शब्द **नेगी** वास्तव में इसी शब्द नेमागूँ का संक्षिप्त रूप है, या इसी की बिगड़ी हुई सूरत है। नेमागूँ का चूंकि इन सारे पहाड़ी क्षेत्रों पर प्रभाव रहा है, इसलिए जैसे किरात मुखिया पालम्बर के आधार से गांव के मुखिया का नाम लम्बर या लाम्बर पड़ गया, उसी तरह बाद में **नेमागूं** के आधार पर इलाके के मुखिया को **नेगी** कहा जाने लगा। आज भी इन पहाड़ी प्रदेशों में कुछ लोग तो वंशज रूप से नेगी कहलाते हैं। आसाम के गारु कबीले में भी मुखिया को **नोकमा** या **नोगमा** कहते हैं। **आंकिग** नोगमा भी कहा जाता है। शब्द नोगमा भी शब्द नेमागूँ और नेगी के समीप है, तथा विषय के सम्बन्ध से भी यह तीनों शब्द समान हैं। शब्द आंकिग से मिलता जुलता शब्द आकी है जिसे कुल्लू में बड़े आदमी के लिए प्रयुक्त किया जाता है। शब्द आकी भी आंकिग का ही संक्षिप्त रूप है। **आंकिग नोगमा** का कुल्लुई भाषा में अर्थ हुआ **"बड़ा आदमी,"** या **"बड़ा नेगी"**। कुल्लुई समाज और कुल्लुई प्रशासन में नेगी और लम्बर अपने इलाके और गांव में सब से अधिक महत्व और प्रभाव रखते हैं। इन का महत्व अंग्रेज़ी शासन काल तक निस्सन्देह जारी रहा है। किरात संस्कृति की यह अन्तिम निशानियां धीरे-धीरे खत्म हो रही हैं। लोकतंत्रात्मक तथा पंचायती राज में अब ये नाम केवल खानदानी उपाधियों के रूप में तो रहेंगे और इस प्रकार इन इलाकों पर किरात सस्कृति की याद सदैव जीवित रहेगी। **गलासरी आफ ट्राइबज़ एण्ड कास्टस् के** लेखक प्रथम खण्ड के पृष्ठ ६१-६२ पर तिब्बत के बोन धर्म का उल्लेख करते हुए भी इस वास्तविकता का स्पष्टीकरण करते हैं, **इन के विश्वास के अनुसार "कुन्तू-ज़ोंगपो (Kuntu Zongpo) अर्थात् ब्रह्मा और पलदन सी सुम ग्यामो (Pal-den-si-sum-Gye-mo) अर्थात् तीन लोकों की महारानी या त्रिपुरा सुन्दरी के बाद अठारह बड़े देवता और सत्तर हज़ार छोटे देवता इस सृष्टि के चक्कर को चलाने में व्यस्त और कार्यरत हैं"**। स्पष्ट है कि

चन्द्र भागा उपत्यका की युवतियां किन्नर किरात वेश भूषा में

कुलूत में माना जाने वाला आदि ब्रह्मा देवता बोन धर्म का कुन्तू ज़ोंगपो है, और पलदन सी सुम ग्यामो को कुल्लू में त्रिपुरा सुन्दरी के नाम से माना जाता है। **बोन धर्म के अठारह बड़े देवता ही कुलूत में ठारह करडू के नाम से न केवल मौजूद हैं, बल्कि कुलूत की सारी धार्मिक संस्कृति इनके ही गिर्द घूमती है।** किरात लोगों का प्राचीन धर्म कुलूत के प्राचीन रीति रिवाजों और परम्पराओं से कितनी समानता रखता है यह विषय मनोरंजक के साथ-साथ तथ्यों पर भी आधारित है, और कुलूत किरात की सांझी संस्कृति का भी स्पष्ट उदाहरण है। **श्री एन० एन० घोष** अपनी पुस्तक **अरली हिस्ट्री आफ इण्डिया** (Early History of India) के पृष्ठ २१-२२ पर तो यहां तक लिखते हैं कि —

"The earliest immigrants to India were the members of the Mongolian family through Tibet."

अर्थात् "भारत में आने वाले सब से पहले लोग मंगोल नसल से थे, जो तिब्बत से होकर आए थे"। श्री घोष के विचार में यह वही लोग थे जो उत्तर पश्चिमी सीमाओं और पंजाब में आकर बहुत समय तक रहे, जहां उन्होंने वेदों की रचना आरम्भ की। इस विचार से स्वामी दयानंद जी के उस सिद्धान्त की भी पुष्टि हो जाती है, जिस के अनुसार वे लिखते हैं कि आर्यन लोग तिब्बत से भारत वर्ष आए हैं। तब अवश्य ही ये लोग तिब्बती किरातों की संस्कृति भी अपने साथ लाए होंगे, जिस की झलक कुलूत-किरात सांझी संस्कृति के पूर्वोक्त उदाहरणों में देखी जा सकती है।

कुलूत देश में किरात लोगों की उपस्थिति और कुल्लुई संस्कृति पर उन की सभ्यता के प्रभाव का पता कुल्लू की एक और ऐतिहासिक परम्परा से भी चलता है। कुलूत पर राक्षस राज के उल्लेख में तांदी या टुण्डी राक्स का वर्णन हम कर चुके हैं। टुण्डी खेरा और टुण्डी खेल का भी वर्णन आया है। लाहुल में तांदी नाम की जगह पर चन्द्र और भागा नदियों का संगम भी है, और पास ही तांदी नाम का गांव भी है। यह व्यक्ति जिसे कुल्लू में टुण्डी राक्स कहते हैं अवश्य ही तांदी का किरात राजा होगा, और यदि कार्त वीर्य सहस्राजुर्न का जरनैल तुण्डी केरा हो तो केरा जाति से होगा, जो मंगोल नसल से सम्बन्धित है। दोनों स्थितियों में वह मंगोल या किरात ही था। इस का दब-दबा हिमालय की तराई में दूर-दूर तक था। तांदी की लड़की ने एक हिन्दु राजकुमार से विवाह किया था, और उनके दो लड़के मकड़ और भोट पैदा हुए थे। नौजवान हो कर भोट ने सुदंगी

नाम की एक तिब्बती स्त्री से विवाह कर लिया और गौ-मांस भी खा लिया, जिस पर मकड़ नाराज़ हो गया और उससे अलग हो गया, और तब उस ने अपने बाहुबल से अपने लिए परिस्थितियां अनुकूल बनाने का कार्य आरम्भ किया। हुरला गांव के नीचे व्यास नदी के बायें किनारे पर उसने अपने नाम से **मकड़स** अपनी राजधानी बनाई और यहीं से आगे पांव फैलाने आरम्भ किए। मकड़स के खण्डहर, जिसे **मकड़ाह** भी कहा जाता है, आज भी मौजूद हैं। ऐसा मालूम होता है कि मकड़ ने न केवल सारे कुल्लू पर अपना अधिकार जमाया, बल्कि उत्तर पश्चिम में मकड़ान की पहाड़ियों तक आक्रमण किए और अपना प्रभाव तथा अधिकार जमाया। मकड़ान के पहाड़ इसी मकड़ के नाम से सम्बन्धित किए जा सकते हैं। भोट सम्भवत: स्पिति की तरफ निकल गया, और सतलुज के ऊपर वाले इलाके में आगे गढ़वाल के अंदरूनी पहाड़ों तक अपना अधिकार क्षेत्र फैलाने में सफल हुआ। भोटिया आदिम जाति जो अब भी इन ऊंचे ऊंचे पहाड़ी क्षेत्रों में उत्तर प्रदेश के अलमोड़ जिला और उसके आगे तक मौजूद हैं, इसी भोट राजा की यादगार हैं। इस तरह एक हिन्दु राजकुमार और किरात लड़की के मेल-जोल से पैदा हुए दो नौजवानों ने मकड़ान की पहाड़ियों से लेकर गढ़वाल तक अपनी विजय और सफलता के झण्डे गाड़े। यह सफलता निस्सन्देह कुलूत और किरात की सांझी सस्कृति का परिणाम थी। मकड़सा बहुत समय तक इस वश की राजधानी रहा। कुल्लुई लोक गीत के निम्नलिखित टुकड़े से मकड़सा के महत्व का पता लगता है। कहा है—

कुलू मोंझै मकड़सा, मण्डी मोंझै टकोली।
फूल नीबरु फूलिया, डंढलू हेरिया रोली॥

'कुल्लू में मकड़सा और मण्डी में टकोली का उदाहरण खिले हुए फूलों की तरह है। अब फूल मुरझा चुका है डण्ठल देख कर रोना आता है।'

तिब्बती भाषा में कुल्लू का प्राचीन नाम **खाण्डोलिंग** है। खाण्डो या खंडो का अर्थ प्राय: डाइन, डाकिनी या राक्षसी से लिया जाता है और लिंग का अर्थ है देश। इस आधार पर खाँडोलिंग का अर्थ डाकिनियों का देश हुआ। कुल्लुई अनुश्रुतियों के अनुसार कुलूत देश में खण्डा नाम की राक्षसी का वर्णन आता है और विशेषतया जिस स्थान से उस के निवास को सम्बन्धित किया जाता है वह आज भी कुल्लू वादी में सिराज और सेंज के उत्तर पश्चिम में **खण्डाधार** के नाम से प्रसिद्ध है। खण्डा राक्षसी

श्रौर खण्डाधार में जादू टोने के प्रभाव का अब भी मौजूद होना, यह हम इस पुस्तक में पीछे वर्णन कर श्राए हैं ।

खश—

कुलूत देश में कोल श्रौर किरात जातियों के साथ-साथ खश नाम की वह जाति भी बढ़ती श्रौर पनपती रही है जिस के सम्बन्ध में जनरल कनिंघम ने श्रार्क्योलोजिकल सर्वे श्राफ इण्डिया रिपोर्ट खण्ड XV में वर्णन किया है कि किसी समय खश लोगों का प्रभुत्व काश्मीर से ले कर श्रासाम की पहाड़ियों तक रहा है । वास्तविकता यह है कि खश जाति का दौर कोलों श्रौर किरातों के बाद श्रारम्भ होता है । ऐतिहासिक तथ्यों के श्रनुसार खश जाति ने कोल श्रौर किरात जाति के लोगों पर प्रभुत्व स्थापित किया है श्रौर धीरे-धीरे उन्हें न केवल कमज़ोर किया, बल्कि कहीं उन्हें बिलकुल नष्ट कर दिया, श्रौर कहीं श्रछूत बना कर समाज से श्रलग कर दिया । यूं लगता है कि श्रार्य जाति की जो लहरें मध्य एशिया से उठ कर पश्चिम श्रौर पूर्व में फैलती रही हैं उन में खश भी एक जाति थी, जो श्रपने समय में मध्य एशिया के स्थान **काशगर** से उठी श्रौर श्रागे बढ़ती हुई काश्मीर, कुलूत होती हुई श्रासाम तक फैलती चली गई । **काशगर** वास्तव में '**खशगृह**' शब्द का रूपान्तर है श्रौर प्रतीत होता है कि शब्द काशमीर भी खशमीर से ही बना है । श्रासाम में खासी की पहाड़ियाँ भी यदि इसी नाम पर श्राधारित हों तो कोई श्रतिश्योक्ति नहीं ।

पौराणिक श्रनुश्रुतियों के श्रनुसार कश्यप ऋषि की सौ स्त्रियों में से एक का नाम खसा भी था, जिस से पैदा हुई संतान को खस कहा गया है । इस से सिद्ध होता है कि खश जाति का सम्बन्ध श्रवश्य श्रार्य जाति से ही है । जनरल कनिंघम का यह विचार कि खश जाति के लोग श्रार्यों के श्राने से पहले इस इलाके में श्राबाद थे, ठीक प्रतीत नहीं होता । प्रथम तो उक्त पौराणिक श्रनुश्रुति के श्रनुसार ये कश्यप ऋषि की संतान हैं । दूसरे कोल श्रौर किरात लोगों के बाद खश जाति के लोगों ने जिस सभ्यता श्रौर संस्कृति की श्राधारशिला इन पहाड़ों में रखी है, वह वास्तव में प्राचीन श्रार्यों की परम्परा ही स्वीकार की जा सकती है । स्पष्ट है कि खश जाति श्रार्यों की वह पहली लहर थी जो श्रपने स्थान से उठी, श्रौर जिस श्रोर भी बढ़ सकी वह श्रागे बढ़ी श्रौर लगातार श्रागे बढ़ते हुए कोलों श्रौर किरातों से लड़ते भिड़ते एक नई संस्कृति को जन्म देती गई । श्रार्य शब्द श्रारम्भ में उन लोगों के लिए प्रयुक्त हुश्रा जो भेड़ बकरियाँ पालते थे,

और उस के बाद आर्य शब्द की परिभाषा में वे लोग भी शामिल किए गए, जिन का पेशा खेती बाड़ी बन गया था। आर्य शब्द की यह दोनों परिभाषाएं खश लोगों पर बिलकुल ठीक उतरती हैं। कोल और किरात प्राय: जंगलों में रहते थे और जंगली शिकार, जगली कंदमूल तथा वृक्षों और घास की छाल और जड़ें प्रयोग में लाते थे। और इन के बाद जो लोग आए वे खश ही थे, जो आरम्भ में भेड़ बकरियाँ पालने का काम करते थे। संस्कृत भाषा में बकरी को **'अज'** और भेड़ को **'अवी'** कहते हैं। इस लिए जब यह खश लोग पश्चिम में अफगानिस्तान की ओर बढ़े तो वहाँ के आदिवासियों ने **अज** और **अवी** के आधार पर उन्हें **अजनबी** कहा, और इस तरह फारसी शब्द अजनबी सस्कृत के इन दो शब्दों से मिल कर बन गया जिस का भावार्थ है अनोखा, और सच मुच भेड़-बकरी के रेवड़ ले कर आए हुए लोग वहाँ के मूलनिवसियों को पहले पहले तो अनोखे ही प्रतीत हुए होंगे तथा यह शब्द उन लोगों के लिए प्रयुक्त किया गया जो भेड़ बकरियाँ ले कर पहले पहले गए और वहाँ आबाद हुए। यही लोग जब काश्मीर से पूर्व की ओर अर्थात् कुल्लू की ओर बढ़े तो स्वाभाविकतया उन्हें **'धौणी'** कहा गया, जिस का अर्थ है **'धण'** (धन) का स्वामी अर्थात् भेड़ बकरियों के रेवडों के मालिक। गद्दी लोग जो उस दौर के आर्य खशों की बची हुई निशानी हैं आज भी अपने रेवड़ को धण ही कहते हैं। आज तक कुल्लू भर में हर उस आदमी को जो स्वर्ण हिन्दु है बिना जात-पात के लिहाज़ के **'धौणी'** कहा जाता है। यद्यपि आज धौणी का अर्थ केवल स्वर्ण रह गया है, परन्तु यह स्पष्ट है कि जब भेड़ बकरियों वाले यह खश लोग पहले पहले इस इलाके में आ कर आबाद हुए, तो उस समय मानव वंश केवल दो श्रेणियों में बटा हुआ होगा। एक वह लोग जो **धौणी** या **'अन्दर के'** कहलाए, और दूसरे डागी जो **'बाहर के'** कहलाए। तब खश जाति के इन लोगों ने कोल और किरात लोगों की सहायता से धीरे-धीरे जंगलों को साफ कर के ज़मीन को खेती बाड़ी के योग्य बनाया होगा। प्रतीत होता है कि फारसी का शब्द **'काश्त'** वास्तव में 'खाश्त' या **'खश्त'** होगा और इसी तरह संस्कृत का शब्द **'क्षेत्र'** जिस का अर्थ **'खेत'** है, वास्तव में **'खशेत्र'** होगा, और इन दोनों शब्दों का आधार खश शब्द ही हो सकता है। इसी **'खशेत्र'** शब्द से बिगड़ कर शब्द **'खेत्र'** बना जो पहाड़ी इलाके में प्राय: बोला जाता है और फिर इसी से आगे शब्द **'खेत'** बना, जो आज भी प्राय: बोले जाने वाला शब्द है। फारसी का शब्द **'खिश्त'** भी खश के आधार पर बनने वाला शब्द प्रतीत होता है, जिस

का अर्थ है 'ईंट' और तब संस्कृति के इस पहले दौर में खश लोगों ने मिट्टी की कच्ची ईंटें बनानी आरम्भ की होंगी, जहाँ उन्हें घर या झोंपड़ियाँ बनाने के लिए पत्थर उपलब्ध न हुआ होगा। कुल्लू की स्थानीय भाषा में एक शब्द **खशरा** या **खशखशा** है जिस का अर्थ है चुभने वाला और सख्त। अवश्य ही जिन लोगों पर खश लोगों ने विजय प्राप्त की और जिन की भूमि पर वे आकर आबाद हुए वह लोग उन्हें चुभने वाले और सख्त तो महसूस हुए ही होंगे। इस लिए अब हर उस चीज को जो शरीर पर चुभने वाली या सख्त महसूस हो उसे **खशरा** या **खशखशा** कहा जाने लगा। विशेष कर मोटी ऊन का जो लिबास खश लोग पहनते होंगे उसे खश शब्द के आधार पर खशरा कहा जाने लगा अर्थात् खुरदुरा और चुभने वाला। इसी तरह कुल्लुई भाषा का शब्द **'खोशड़ा'** है जो जूते से मिलती जुलती पाँव की रक्षा के लिए बनाई गई वस्तु होगी, जो पहली बार खश लोगों के कारण देखने में आई होगी जिस तरह अंग्रेज़ों के आने पर जूतों के स्थान पर बूटों का प्रयोग हुआ। शब्द **'खेशड़ी'** अर्थात् लंगोटी भी खश शब्द के कारण ही प्रयोग में आया प्रतीत होता है। शब्द **'खसम'** भी आरम्भ में केवल पुरुष के लिए प्रयुक्त हुआ होगा, जो बाद में पति के लिए सीमित हो गया। यह शब्द वास्तव में **'खशम्'** होगा। आज भी कई इलाकों में स्त्री अपने पति को 'मेरा मरद' कह कर ही बोल चाल करती है। शब्द खच्चर भी सम्भवत: **'खश चर'** होगा, और हो सकता है कि यह पशु भी पहली बार खश लोग ही अपने साथ लाए होंगे। संस्कृत और हिन्दी भाषा में ऐसे और शब्द भी हैं जैसे 'गुप्तचर' अर्थात् जासूस, निशाचर अर्थात् रात को चलने वाले बनचर अर्थात् बनों में घूमने वाले या जलचर अर्थात् पानी में रहने वाले। इस प्रकार खशचर भी उस जानवर को कहा गया होगा जो खश लोगों के साथ घूमता होगा, अर्थात् उनके सामान ढोने का काम पालतू पशु के रूप में करता हो। और भी ऐसे बहुत से शब्द हैं, जिन का सीधा सम्बन्ध खशों और उनकी सभ्यता और संस्कृति से है, जिन्हें हम स्थानाभाव के कारण यहाँ पेश नहीं कर सकते।

उपर्युक्त स्पष्टीकरण से पता चलता है कि कोल और किरात संस्कृति की अपेक्षा खश लोगों की संस्कृति अधिक उत्तम थी। कुलूत देश और उसके आसपास पहाड़ी इलाकों में खश संस्कृति के प्रभाव न केवल आज तक मौजूद हैं बल्कि आज की संस्कृति का रंग रूप निखारने में यह संस्कृति आधार-शिला मानी जा सकती है। कुल्लू में इस शब्द

का उच्चारण 'खौश' है और खशिया भी कहा जाता है। लगभग हर गाँव में एक दो या इससे अधिक खौश जाति के घराने आज भी हिमालय के देहातों में काश्मीर से गढ़वाल तक पाए जाते हैं। खौश लोग इस पहाड़ी इलाके में वंशज राजपूतों के बाद अपना दर्जा समझते हैं, और इसी तरह प्रवर हैसीयत में अपने आप को समाज में पेश करते हैं। यद्यपि अब परिस्थितियां बदल गई हैं, और लोगों के विचारों में भी बड़ा अन्तर आ गया है, लेकिन यह निश्चय से कहा जा सकता है कि आज से पच्चास वर्ष पहले खौश लोग प्राय: और विशेषत: यज्ञोपवीत धारण करते थे जो आर्य संस्कृति का सबसे बड़ा प्रमाण माना जाता है। बहुत घराने अब भी जनेऊ पहनते हैं, और अपनी साथ की दूसरी जाति बिरादरी राव (राहू) तथा कनैत से समाज में अपना दर्जा ऊँचा समझते हैं। हिन्दु धर्म में जनेऊ पहनने वालों को द्विजों में गिना जाता है। इस आधार पर खशों की गिनती द्विजों में होती है, और यह इस बात का उपयुक्त प्रमाण है कि यह लोग प्राचीन आर्य जाति से ही सम्बन्ध रखते हैं। जो विद्वान इन्हें आर्य न मान कर किसी और जाति या भारत के आदिवासियों में सम्मिलित करते हैं वे भूल में हैं। इतनी बात ज़रूर है कि खश लोग और उस समय की उन की संस्कृति आर्य जाति और आर्य संस्कृति का प्राचीनतम रूप था। एक ऐसा चित्र था......एक ऐसी तस्वीर थी जिसके रंग निखरे हुए नहीं थे। खश संस्कृति को प्रारम्भिक काल की आर्य संस्कृति कहा जा सकता है। इन की भाषा का प्राचीन रूप भी वह प्राकृत भाषा थी जिसका संस्कार होने पर वह संस्कृत कहलाई। खरोष्टि लिपि जिसमें लिखे हुए प्राचीन ऐतिहासिक प्रलेख मिले हैं, सम्भवत: खश लोगों की देन है। भाषा विज्ञान के प्रसिद्ध विद्वान ग्रियर्सन (Mr. Grierson) का कहना है कि दूर पूर्व में बोली जाने वाली पूर्वी पहाड़ी भाषा का नाम खश कुर (Khush Kura) है, जिसे नेपाली भी कहते हैं। ग्रियर्सन इसे वह आर्य भाषा मानता है जो नेपाल में बोली जाती है। इससे सिद्ध होता है कि खश लोग प्राचीन आर्य संस्कृति से सम्बन्ध रखते हैं। खश लोगों के रीति-रिवाज, रहन सहन का तरीका, खान पान और पहनावा, धार्मिक विचार धाराएं और सामाजिक नीतियाँ सब ऐसी हैं जिनका वर्णन ऋग्वेद में आर्य लोगों के सम्बन्ध में आया है। अत: कोई कारण नहीं कि खश जाति को ऋग्वैदिक आर्यों की ही एक जाति क्यों न माना जाए। **हिन्दूज़ आफ हिमालयाज़** (Hindus of Himalayas) के लेखक

मिस्टर गिराल्ड डी० बर्मन (Gerald D. Berman) ने जो केलेफोर-नियाँ से आ कर काफी समय देहरादून और हिमालय के इलाकों में रिसर्च करता रहा है, इस सिद्धान्त की पूर्ण-रूपेण पुष्टि की है कि खश लोग इण्डो-आर्यन ग्रुप से सम्बन्ध रखते हैं और मध्य एशिया से चारों तरफ को फैले हैं। इसी पुस्तक के पृष्ठ १६-१७ पर वह लिखता है कि हिमालय के दामन का पहाड़ी इलाका खश जाति के आर्य लोगों से ही आबाद था, जो उसके विचार के अनुसार ईसवी सदी से एक सौ वर्ष से पन्द्रह सौ वर्ष पहले उत्तर पश्चिम से भारत वर्ष में आए। उसने इस बात का भी संकेत किया है कि छठी सातवी ईसवीं में भारत वर्ष पर गुर्जर जाति के लोगों ने आक्रमण किया और सपद्-लक्ष के उस इलाके पर कब्ज़ा किया जहाँ खश पहले ही आबाद थे। गूजर जाति के यह लोग भी आर्य भाषा बोलते थे, जिन्होंने खश लोगों से मिल कर फिर राजपुताना और गुजरात पर भी आक्रमण किया और उस इलाके पर कब्ज़ा किया। शब्द गुजरात सम्भवत: इसी गुर्जर (गूजर) जाति के लोगों के नाम से सम्बन्धित है। इसी पुस्तक में ग्रियर्सन के हवाले से यह लिखा गया है कि खश जाति की खोज करते हुए ज्यूं-ज्यूं हम प्राचीन समय की ओर बढ़ते हैं त्यूं-त्यूं हमें उत्तर पश्चिम की तरफ उनके निशान ज्यादा से ज्यादा मिलते हैं। (ग्रियर्सन १६१६ पृष्ठ २२)। इसी सम्बन्ध में आगे लिखते हुए इस बात की पुष्टि करता है कि खश लोग आर्य नसल के क्षत्री ही थे, जो संस्कृत से मिलती जुलती भाषा बोलते थे, जिन्हें किसी समय मलेच्छ समझा जाने लगा जब उन्होंने खाने पीने और रीति रिवाज के आर्यन सिद्धान्तों को छोड़ दिया, या उन्हें भूल गए। काशगर के खश लोगों के निवास स्थान होने की पुष्टि भी लेखक ने की है, और वह लिखता है—

"It is probable that they, once occupied an important position in Central Asia and Kashgar was named after them."

यह सम्भव है कि यह लोग मध्य एशिया में बड़ी सम्मानित और प्रभावशाली अवस्था में रहते थे और काशगर इनके नाम से ही प्रसिद्ध हुआ है। गियर्सन का कहना है कि यह लोग वही भाषा बोलते थे जो बलख के लोगों की भाषा थी, और वह इस भाषा को ले कर हिमालय की दक्षिणी तराइयों में नेपाल तक घुस गए थे और बारहवीं

सदी ईसवी तक इन लोगों ने हिमालय की पहाड़ियों में दक्षिण, दक्षिण पश्चिम, और दक्षिण पूर्वी काश्मीर तक अपनी अच्छी खासी शक्ति संगठित कर ली थी। लिखा है कि खश लोग एक लड़ाका किसम का कबीला था जो उस समय के साहित्यकारों और विद्वानों को मालूम था। मिस्टर पारजेटर ने पौराणिक अनुश्रुतियों का अध्ययन करते हुए लिखा है कि इस वंश के लोगों ने मध्य हिमालय से हो कर भारत वर्ष की ओर कदम बढ़ाए हैं और वे सम्भवत: तिब्बत होते हुए भारतवर्ष में आए हैं (पारजेटर १९२२ पृष्ठ २९९)। यदि इसी मार्ग से इस वंश से पहले आर्य खशों का आना भी मान लिया जाए तो यह विश्वसनीय होगा क्योंकि मिस्टर चारलस बेल्ल (Mr. Charles Bell) के अनुसार प्राचीन समय में हिमालय के पहाड़ी इलाकों में जो परम्पराएँ प्रचलित थीं उन का तिब्बत में भी रिवाज रहा है। तिब्बत का **बोन धर्म** और **शामान धर्म** (Shamanism) हिमालय में फैले हुए प्राचीन आर्य धर्म से पूर्णत: समानता रखे हुए था। स्वामी दयानन्द के अनुसार भी तो आर्यों का तिब्बत से आना बताया ही गया है। मिस्टर **एटकिन्सन** (Mr. Etkinson) एक दूसरे विद्वान का विचार है कि खश रीति रिवाजों से ब्राह्मण संस्कृति के प्रभाव भी झलकते हैं। यही लेखक दूसरी जगह इस विचार की पुष्टि करता हुआ लिखता है कि:—

"Khasas are looked upon more as members of the great Aryan family than as anything else."

अर्थात् **"खश जाति के लोगों को बजाए कुछ और मानने के महान आर्य कबीले की ही एक शाखा के रूप में अधिक स्वीकार किया जाता है"**। गढ़वाल के इलाके में तो खशिया ब्राह्मण और खशिया राजपूत भी खोज में आए हैं और यह विभेद और अन्तर किसी न किसी रूप में लगभग सभी पहाड़ी इलाकों में विद्यमान रहा है। कुल्लू और दूसरे पहाड़ी इलाकों में भी ग्रामीण और पहाड़ी ब्राह्मणों को **नुआलै** अर्थात् **ऊनी ब्राह्मण** कहा जाता है, और मैदानों से आए हुए ब्राह्मण अपने आप को **बाथरै** अर्थात् सूत पहनने वाले ब्राह्मण कहते हैं। प्राय: अपने हाथ से हल चला कर तथा खेती बाड़ी पर गुजारा करने वाले को खशिया ब्राह्मण कहते हैं। चाहे यह शब्द व्यंग के रूप में ही कहा जाता हो, परन्तु यह वास्तविकता है कि पेशे के आधार पर ब्राह्मण और खश में कोइ ज्यादा अन्तर नहीं है।

परम्परागत खश वेश भूषा "टोपा-चोला-लाच्छू"

यद्यपि आज हिमालय के दामन में बसे हुए इन खश लोगों की संख्या प्राय: कम रह गई है, क्योंकि ज़माने के साथ साथ आने वाले परिवर्तनों के प्रभाव के अधीन खश और राव (राहू) दोनों मिल कर एक नई बरादरी **कनैत** नाम से कहे जाने लगे हैं, परन्तु इस में सन्देह नहीं कि इस पर अनुसन्धान कर्ता सहमत हैं कि आरम्भ में खश जाति ही काश्मीर से आसाम की पहाड़ियों तक फैली हुई थी। **श्री आर० एन० सक्सेना** अपनी पुस्तक "Social Economy of a Polyandrous People" में लिखते हैं—

"Ethnologically the Khasas appear to be Aryans and they call themselves Rajputs."

रामायण काल में भी खशों का वर्णन आया है, जैसा कि इससे पहले किरातों के उल्लेख में तुलसीकृत रामायण की दो चौपाइयों से प्रकट है। महाभारत काल में भी मेरू और मंदराचल के इलाकों में तथा इन पहाड़ों में बहने वाली शैलोदा नदी के किनारों पर बसने वाली खश जाति का वर्णन आया है (महाभारत अध्याय ५२ श्लोक २-४)। मनुस्मृति में किरात और दरद जातियों के साथ खश जातियों का उल्लेख आया है। किरातों का वर्णन पहले विस्तार में आ चुका है। दरद जाति आज भी वल्तिस्तान गिलगित के इलाके के आस पास मौजूद है जिस इलाके को दरदिस्तान कहा जाता है। मनुस्मृति के लेखक ने यद्यपि खशों को वह दर्जा नहीं दिया जो उन्हें क्षत्रियों के साथ खड़ा कर सकता, परन्तु इस का कदापि यह मतलब नहीं कि वे आर्य नसल के नहीं थे। खशों को क्षत्रियों से कम दर्जा देने का अर्थ सम्भवत: यह होगा कि खश लोगों ने अपने सिद्धान्तों में ढील कर दी हो, या धर्म में गिरावट के चिन्ह अधिक स्पष्ट हो गये होंगे। और निस्सन्देह हुआ भी ऐसा, और जिन लोगों ने धर्म के सिद्धान्तों को बिलकुल छोड़ दिया वे कनैत कहलाए जाने लगे। प्रतीत होता है यह हवा इतनी तेज़ी से चली कि खशों की संख्या सारे पहाड़ी क्षेत्रों में कम होती चली गई और सब लोग एक नई जाति में शामिल होते गए जिसे आम बोल चाल में कनैत कहा गया और लगभग वही लोग काशमीर से गढ़वाल तक कनैत कहलाए, जिनका विस्तार से उल्लेख हम आगे करेंगे।

वृहत संहिता में जिसकी रचना पांचवी सदी ईसवी में हुई है, उत्तर पश्चिम में बसने वाली विभिन्न जातियों में खश जाति का भी

उल्लेख आता है, और साथ ही उत्तर पूर्व में बसने वाली खश जाति का वर्णन आता है (अध्याय १४, श्लोक २२ और ३०)। इससे स्पष्ट है कि पांचवीं सदी ईसवी में भी उत्तर पश्चिम से उत्तर पूर्व तक अर्थात् काश्मीर से गढ़वाल और आसाम तक खश जाति फैली हुई थी। कुलूत देश और आस पास के इलाकों में पाए जाने वाले रीति रिवाजों, देवी देवताओं की कहानियों, ऐतिहासिक घटनाओं तथा साधारण अनुश्रुतियों से पता चलता है कि राक्षसों को मारने और नागों को नष्ट करने में खश जाति के ही लोगों का सबसे बड़ा हाथ था। औटर-सिराज में निरमण्ड की दीवाली एक प्रसिद्ध धार्मिक मेला है जो कोलों और नागों पर खश लोगों की विजय के उपलक्ष्य में मनाया जाता है। इस दीवाली के अवसर पर खश नवयुवक ही मुकाबले की रस्मी कशमकश में शामिल होते हैं।

श्री राजशेखर अपने काव्य मीमांसा में एक मनोरंजक घटना का उल्लेख करते हैं। वे लिखते हैं कि राजा शर्मा गुप्ता और महाराज समुद्रगुप्त की बहुरानी ध्रुवा स्वामिनी ने खश जाति के शक राजा पर आक्रमण किया था जिसमें रानी ध्रुवा स्वामिनी ने खश राजा के सामने हथियार डाल दिए थे और परिणाम-स्वरूप शर्मा गुप्ता दिल तोड़ कर मायूस तथा निराश हो कर अपने देश को चला गया। यह घटना लगभग पांचवीं छठी सदी की होगी जब समुद्रगुप्त के लड़के रामगुप्त के बाद उसकी रानी ध्रुवा स्वामिनी ने राज्य की बागडोर अपने हाथ में ली। **श्री सकसेना** अपनी पुस्तक "Social Economy of a Polyandrous People" में इस घटना का वर्णन करते हुए लिखते हैं कि श्री राजशेखर के अनुसार यदि उपर्युक्त घटना ठीक है तो स्पष्ट है कि यह लड़ाई हिमालय में बसने वाली खश जाति के साथ हुई होगी, जिस पर कोई शक जाति का राजा शासन करता था और जिसकी राजधानी **कार्तिकेय नगर** हिमालय में थी। कहा नहीं जा सकता कि यह कार्तिकेय नगर कहाँ हो सकता है। परन्तु इस घटना से यह बात प्रमाणित हो जाती है कि हिमालय में एक बहुत शक्ति शाली खश जाति बसती थी जिस ने दक्षिण से आए हुए आक्रमणकारियों के पांव नहीं जमने दिये और उन्हें हथियार डालने पर मजबूर किया। इस घटना से जहां एक ओर खश जाति की वीरता का पता चलता है, वहाँ हिमालय के इतिहास का एक यह पहलू भी सामने आ जाता है, कि पाँचवीं छठी सदी में शक और हुन आक्रमणकारी हिमालय के अन्दरूनी भागों तक भी घुस आए थे और

सम्भव है कि कुछ देर वे हिमालय की इन वादियों में भी कदम जमाए रखने में सफल हुए होंगे। **राज तरंगणी** के अनुवादक श्री **आर० एस० पण्डित** लिखते हैं कि खश लोग काश्मीर में पीर पंजाल से दक्षिण पश्चिम की तरफ को काफी आगे तक फैले हुए थे। हमारे विचार में किश्तबाड़ के इलाका और इसके इर्द-गिर्द के क्षेत्र में निस्सन्देह खश लोग रहते थे, क्योंकि किश्तवाड़ शब्द खश्तबाड़ होगा, क्योंकि बाड़ या बाड़ा का प्रायः अर्थ सीमा से लिया जाता है जैसे विजय बाड़ा, अमाम बाड़ा, तेली बाड़ा आदि। अतः खश लोगों के इलाके को खशबाड़ा खशतबाड़ा, खिशतबाड़ और अन्ततः किश्तबाड़ लिखा गया है, और ऐसा भाषा विज्ञान के बिल्कुल अनुकूल है।

प्रसिद्ध रिसर्च स्कालर **श्री मजुमदार** ने खश लोगों की परिभाषा इन शब्दों में की है। वे लिखते हैं कि खश लोग प्रायः लम्बे, सुन्दर और गोरे रंग के लोग थे। उन के कद लम्बे, गोल सिर, पेशानी चौड़ी, नोकदार नाक, काली और कदरे नीली आँखें, कुण्डलदार बाल होते हैं और वे प्रसन्नचित्त के मालिक हैं। खश स्त्रियां भी कद की लम्बी, नाजुक, सुन्दर और सुडौल शरीर तथा उच्च चरित्र की होती हैं (मजुमदार १६४४, पृष्ठ ११०)। स्पष्ट है कि ये सब वे गुण हैं जो कि एक आर्य पुरुष और स्त्री के लिए ऋग्वेद में बताए गए हैं। अतः खश जाति का आर्य जाति का ही एक अंग होना उचित ही प्रमाणित होता है। जहाँ तक खश लोगों की वीरता और ईमानदारी का सम्बन्ध है वह तो श्री जोशी के अनुसार सर्वविदित ही है। श्री जोशी का कहना है कि खश लोगों की ईमानदारी का तो कोई जवाब नहीं है। चोरी चकारी का भी इन लोगों में नामो निशान नहीं मिलता था। एक बार जो बात ज़बानी निश्चित हो जाए उसे पत्थर की लकीर समझते थे। वचन से पीछे हटना तो इन्हें आता ही नहीं था। ये सरल व्यवहार मिलनसार, और एक दूसरे के सहायक और अच्छे स्वभाव के थे। ये लोग लड़ाके प्रसिद्ध थे। वर्तमान समय में भी इनकी वीरता के कारनामें रॉयल गढ़वाल राइफलज़ डोगरा रेजमेंट के रिकाडज़ से स्पष्ट है जो उनकी कार्यपारायणता की मुँह बोलती तस्वीर हैं। श्री जोशी आगे चल कर लिखते हैं कि महाभारत युग की घटनाएँ भी यह स्पष्ट करती हैं कि खश लोग बड़े साहसी और रण-भूमि में कभी न झुकने वाले लोग सिद्ध हुए हैं। खशों के बारे में उपर्युक्त तथ्य मालूम करने के बाद **मिस्टर जे० बी० फ्रेजर** इन लोगों का वर्णन करते हुए

इस तरह लिखते हैं, "**जब मैं इन लोगों के घरेलू जीवन और इनके विवाह से सम्बन्धित वर्तमान रिवाजों को देखता हूं जिसमें एक स्त्री बहुत भाइयों की पत्नी होती है, या एक पुरुष बहुत पत्नियां रखता है, तो मुझे इस प्रकार के चरित्र से शर्म आती है। परन्तु जब मैं इन की सजीव, सुदृढ़ संस्कृति, इन की नेकी, सरलता और मिलनसारी को देखता हूं तो महसूस करता हूं कि ये लोग उन जातियों से बहुत आगे हैं जो वर्तमान समय में अपने आप को बड़ी विकसित और सुलझी हुई मानती हैं, और जो चरित्र में अपने आप को बहुत ऊँची समझती हैं।** ये लोग अपने ढंग से काफी प्रसन्न चित, सभ्य और बात चीत में बड़े चतुर हैं। इनके घरों की बनावट और सामान्य सफाई स्काट लैंड के पर्वत निवासियों के मुकाबले में उत्तम है।" (Frazer १८२०, पृष्ठ २०६)।

जहाँ तक आसाम में खासी की पहाड़ियों में बसने वाले लोगों का सम्बन्ध है, विश्वास से नहीं कहा जा सकता कि वहां के आज के लोग कुलूत देश की तरह उस बड़ी खश जाति के ही सदस्य हैं। यद्यपि कुछ रीति-रिवाज, कुछ रहन-सहन के तरीके और कुछ अनुश्रुतियाँ भी खासी लोगों की, या उसमें बसने वाले दूसरे आदिवासियों की खश लोगों से मिलती हैं। परन्तु केवल इन बातों पर जो प्रायः मेल जोल से भी बन जाती हैं, ठीक अंदाज़े लगाना कठिन है। यह और अन्य बहुत सी बातें अभी अनुसन्धान चाहती हैं। परन्तु एक बात लगभग स्पष्ट है कि काश्मीर से लेकर कमाऊं की पहाड़ियों तक जो खश लोग आज भी आबाद हैं, वे निस्संदेह आरम्भ की आर्य जाति के ही सदस्य हैं और मूल आर्य संस्कृति के यही लोग प्रतिनिधि हैं। प्राचीन संस्कृति की झलक आज भी हिमालय की घाटियों और वादियों में दिखाई देती है, उसकी पृष्ठभूमि में यही लोग थे और वह झलक इन के बाद आने वाली दूसरी बरादरियों और दूसरे लोगों में भी इन से सम्पर्क के कारण ही आई है। चूंकि ये खश लोग जो पहले भेड़ बकरियाँ पालने वाले '**धौणी**' और फिर खेती बाड़ी करने वाले **खश्त-कार** या **काश्तकार** धीरे-धीरे विजेता बन कर आगे बढ़े, इसलिए जरूरी तौर पर इन्हें उन पराजित लोगों के रीति रिवाजों और परम्पराओं से समझौता करना पड़ा और इस तरह आर्य संस्कृति का रूप धीरे-धीरे बदलता रहा और इस में विजेता और पराजित की सांझी संस्कृति एक नए अन्दाज़ में उभरती रही। इसके बाद जब

खश युवती की सुन्दरता, सादगी और बनाओ संगार।

मनु जी का वर्णाश्रम धर्म स्थापित हुआ और समाज चार वर्णों में विभक्त हो गया तब ये लोग बाकी बिरादरियों के साथ ही केवल काश्तकार बन कर रह गए। ब्राह्मण पुरोहित बन गए और लड़ने वाले राजपूत कहलाए। तथा अन्य कामों के विभाजन ने समाज को और दो छोटी छोटी श्रेणियों में विभक्त कर दिया। चूंकि खश लोग, जैसा कि मैंने ऊपर लिखा है, केवल काश्तकार या भूमिदार बन गए, इस लिए आम बोल चाल में ये अपने को ज़मींदार कहने लग गए। समाज के इस परिवर्तन ने उन सभी लोगों को एक लाइन में खड़ा कर दिया जिन का सम्बन्ध ज़मीन से था, और जिन का दारोमदार भूमि और भूमि की उपज पर था। हम-पेशा होना विचारधारा को समान बनाने का बहुत बड़ा कारण होता है। अतः वर्णाश्रम धर्म स्थापित हो जाने पर उन लोगों को छोड़ कर जिन का दर्जा समाज में बहुत नीचा समझा गया। शेष सभी लोग एक मंच पर आने आरम्भ हो गये, चाहे वे किरात थे, खश थे या कनैत थे। समान पेशा होने के नाते वे प्रथम तो अपने आप को ज़मींदार कहने लगे और साथ ही कनैत बरादरी एक साँझे-मोर्चे की हैसीयत से उभरी और उसमें सभी समविचार और समव्यवहार के लोग शामिल होते गए। हमें ज्ञात है कि कई ऐसे ब्राह्मण खानदान जिन्होंने अपने धर्मकर्म को छोड़ दिया, तीसरी चौथी पीढ़ी में कनैत बरादरी के बड़े समुद्र में शामिल हो कर उसी में विलीन हो गए। इसी तरह खशों के जो वंश अपने अलग अस्तित्व को स्थापित न कर सके वे भी इस लहर में बह गए और लगभग अन्य सभी बरादरियों का भी यही हाल रहा है। बहुत लोग जो शकों, हुनों, तुर्कों, मुगलों तथा अन्य आक्रमणकारियों के डर से भाग कर या शान्ति की खोज में मैदानों को छोड़ कर हिमालय की गोद में आए और जो अपना अस्तित्व स्थापित न रख सके वे कनैत बरादरी के विशाल समुद्र में डूब कर तद्रूप हो गए। परन्तु यह क्रियाप्रणाली सदा सन्तोष जनक रही कि प्राचीन आर्य खशों ने और महात्माओं ने प्राचीन आर्य संस्कृति की जो बागडोर सम्भाले रखी वह खशों और रावों से मिली जुली कनैत बरादरी के लोगों ने आज तक पूरे शांति और संतोष एवं प्रयत्नों से थाम रखी है, और इसी लिए आज हिमालय का यह पहाड़ी प्रदेश गर्व से सिर ऊँचा करके कह सकता है कि यदि प्राचीन आर्य

संस्कृति की झलक कहीं अपने वास्तविक रूप यौवन में विद्यमान है वह अशलूत देकुगुर काश्मीर से कुमाऊं की पहाड़ियों तक हिमालय का वह दामन है, जहां कि पर्वत श्रृंखलाएँ, नदी नाले, गांव और मंदिर, तीर्थ स्थान और ऋषि आश्रम यहां तक कि यहाँ का एक-एक पत्ता और एक-एक कण ऋग्वैदिक संस्कृति की मुँह बोलती तस्वीर है, और इसी लिए हम कहते हैं—

तहज़ीब[1] को परवान[2] चढ़ाया है हमीं ने।
तारीख को हर दर्स[3] पढ़ाया है हमीं ने॥
सय्यारों[4] की गरदिश[5] को बढ़ाया है हमीं ने।
अब शम्सो[6] कमर[7] अपने इशारों पे चलेंगे॥
हम जिंदा थे, हम जिंदा हैं, हम जिंदा रहेंगे।
वीरान[8] को जीशान[9] बनाया है हमीं ने।
धरती को परिस्तान[10] बनाया है हमीं ने॥
इनसान को इनसान बनाया है हमीं ने।
क्या क्या न किया शौक में क्या क्या न करेंगे।
हम जिंदा थे, हम जिंदा हैं, हम जिंदा रहेंगे॥

---

१. संस्कृति २. उन्नत ३. पाठ ४. तारामंडल ५. चक्कर ६. सूर्य ७. चांद ८. उजाड़ ९. शानदार १०. परियों का देश।

दसवां अध्याय

मंजिल के आस पास

बरके तपां ने जोर लगाया बहुत मगर ।
हर शाख पर बनाया हमने आशियां नया ।।
हर मुश्किल अपनी आप ही आसान हमने की ।
हर इक कदम पे हमने दिया इमतिहां नया ।।

जातियों के जिस काफिलें का हम ने पिछले अध्याय में वर्णन किया, वह अब एक ऐसी मंज़िल पर आ पहुंचा है, जहां से हमारी कहानी की असल शकल और सूरत बनती है। जातियों के इस काफिले में आने जाने वालों का क्रम बाँधना अधिक आसान नहीं है, क्योंकि एक के बाद दूसरे लोग जब आए तो थोड़े ही समय में वे सब आपस में घुल-मिल जाते रहे, और तब प्राय : एक दूसरे को अलग करना, और हर एक के बारे में अलग पृष्ठभूमि स्थापित करना काफी कठिन प्रश्न बनता है। फिर भी जिस अंदाज़े से इस समय तक हम ने कुलूत देश तथा इर्द-गिर्द के पहाड़ी इलाकों में विभिन्न लोगों, कबीलों और बरादरियों के फैलने और पनपने का वर्णन किया है, उसके ठोस प्रमाण भी प्रस्तुत किए गए हैं, और जिन लोगों ने इस सिलसिले में इससे पहले खोज की है उनके युक्ति-युक्त विचारों ने भी हमारे नियत तथा निर्धारित सिद्धाँतों की पुष्टि की है। यक्ष, किन्नर, गन्धर्व, राक्षस, कोल, नाग, किरात और खश जैसी परि-स्थितियों में और जब भी कुलूत देश और इस सारे पहाड़ी प्रान्त में आबाद रहे हैं, और जिस तरह उनके बारे में उल्लेख हमने पिछले पृष्ठों में किया है, इस बात को प्रमाणित करने में पर्याप्त आधार सिद्ध हुए हैं। कि जहाँ इन सब प्रकार के सदस्यों ने एकजाती के तौर पर अपनी अलग-अलग स्थिति को किसी न किसी रुप में स्थापित रखने का प्रयत्न किया है, वहाँ वहुत सी परि-स्थितियों में एक दूसरे की संस्कृति काफी हद तक आपस में घुल मिल भी गई है, और यह कहना कि फला रिवाज को केवल एक कबीले या एक

बरादरी से ही विशेष रुप से सम्बन्धित किया जाए, गलत होगा। हालत यह है कि आज किसी भी नसल, किसी कबीले या किसी बरादरी के सदस्य की रगों में पूर्णतः असली खून के होने का वर्णन करते हुए भी संकोच होने लगता है। कोई कबीला, कोई जाति या कोई बरादरी अपने आप को एक दूसरे के प्रभावों से बचे रहने का दावा नहीं कर सकती। ऋग्वेदिक काल में ही महामुनि वसिष्ठ और ऋषि विश्वामित्र का यही तो झगड़ा आरम्भ हुआ था। वसिष्ठ का कहना था कि आर्य जाति को दस्यु लोगों से इतना घुलना-मिलना नहीं चाहिए, जिससे आर्य लोग नसली रुप में स्थानीय दस्यु लोगों से खिल्त मिल्त हो जाएं, और इस तरह आर्य रगों में दौड़ता हुआ खून शुद्ध न रहने पाए। और दूसरी ओर विश्वामित्र इस बात पर दृढ़ मत अपनाए हुए थे कि पराजित लोगों के साथ पारस्परिक सम्बन्ध जोड़ने में कोई आपत्ति नहीं बशर्ते कि दस्यु लोगों के खून में आर्य संस्कृति को इस प्रकार भर दिया जाए कि संस्कारों के ज़ोर से वे शनै-२ आर्य ही बन जाएं। इतिहास साक्षी है कि वसिष्ठ की बात कुछ देर तो चली परन्तु अन्ततः विश्वामित्र विजयी हुए। उनकी विचारधारा ही साधारणतः समाज में प्रचलित हुई। आर्य ऋषियों ने तथा दूसरे आर्य लोगों ने नाग, कोल और किरात स्त्रियों से विवाह किये, खश लोगों ने भी, जो मूल रूप में आर्य थे, कोल और किरात स्त्रियों से विवाह किये। विभिन्न कबीले और जातियां यथा सम्भव प्रयत्न करती रही हैं कि वे अपने कबीले और अपनी ही जाति बरादरी में विवाह करें, फिर भी यह न तो पूर्णतया सम्भव था और न क्रियात्मक रूप में सम्भव हो सका। पौराणिक कथाओं में असंख्य ऐसी घटनाएं प्रमाणित हैं। उदाहरणार्थ कश्यप ऋषि की ही सौ पत्नियां विभिन्न कबीलों और जातियों से थीं, जिनसे विभिन्न जातियों और बरादरियों का एक ही गोत्र से सम्बन्धित होना भी इस बात का पूर्ण प्रमाण है। भारत वर्ष में जातियों का यह पारस्परिक सम्बन्ध जो ऋग्वेदिक काल से आरम्भ हुआ, आज तक प्रचलित है। परन्तु यही आर्य लोग जो पश्चिमी देशों में फैले, वहां कई देशों में इन्होंने अपनी नसली पृथकता को स्थायी रखने के प्रयत्न किए और उसमें सफल हुए। कई पश्चिमी देशों में वहां की प्राचीन स्थानीय आबादियों का आज नामो-निशान भी बाकी नहीं है, और जहां है भी वहां उन्हें नष्ट करने के लिए यत्न होते रहे हैं। जर्मनी में हिटलर ने जिस तरह जर्मन राष्ट्र के खून को साफ करने के लिए यहूदियों का सफाया किया है

वह अपने आप में एक-मिसाल है। अफरीका के विभिन्न भागों में नसली विभेद की नीति भी इस सिलसिले की कड़ी स्वीकार करनी चाहिए। रामायण काल में भी लंका पर चढ़ाई को आर्यों की दक्षिण भारत पर विजय और इस भू भाग में आर्य संस्कृति के फैलाव से सम्बन्धित किया जाता है। रामायण युग में ही ऋषि विश्वामित्र ने दस्यु राज शम्भर की कन्या उग्रा से सम्बन्ध स्थापित किया था जिसके परिणाम स्वरूप शुनः शेप पैदा हुआ, जो देव व्रत (देवरथ) के नाम से ऋषि विश्वामित्र का उत्तराधिकारी बना। महाभारत में महर्षि व्यास के डेका नामी स्थानीय स्त्री से विवाह करने का वर्णन आया है, जिसके पेट से मुनि शुकदेव पैदा हुए, जिन्हें मां के पेट में ही ज्ञान प्राप्त होने का सौभाग्य प्राप्त हुआ था। राजा शांतनु का एक माहीगीर की लड़की से विवाह करना, भीमसेन का एक निसाद लड़की हिडिम्बा से शादी करना और इस तरह घटोत्कक्ष जैसे वीर का पैदा होना, नाग कन्या के पेट से बभ्रू वाहन जैसा वीर अर्जुन का पुत्र पैदा होना, तथा गन्धर्व कन्या उलूपी से अर्जुन का विवाह रचना आदि कई उदाहरण हैं जिनसे नसली मेल-मिलाप और पारस्परिक सम्बन्ध के प्रमाण मिलते हैं। महाभारत के अन्त में यदुवंशियों का आपस में कट मरना, और फिर अर्जुन का हज़ारों यदुवंशी स्त्रियों को लेकर कुरुक्षेत्र (पंजाब) की ओर आना, तथा अहीरों का अर्जुन की रक्षा से इन स्त्रियों का छीन कर ले जाना और अपने घरों में आबाद करना ऐसी ऐतिहासिक घटनाएं हैं, जिनसे विभिन्न जातियों और बरादरियों के पारस्परिक सम्बन्धों के प्रभाव के परिणाम निकाले जा सकते हैं। इस बात से भी इन्कार नहीं किया जा सकता कि महाभारत के महान युद्ध में जब अधिकतः वीर मारे गए और लाखों स्त्रियां विधवा हो गईं तब अवश्यमेव वर्णसंकर सन्तान पैदा हुई होगी। बौद्ध काल में जब वर्णाश्रम धर्म की अपेक्षा की गई तब नसली शुद्धता और जाति-बरादरी की सफाई कहां स्थायी रह पाई होगी। चन्द्रगुप्त मौर्य ने यूनानी सेनापति सिल्यूकस की लड़की हेलन से विवाह किया दो तीन सौ वर्ष तक उत्तरी पंजाब में यूनानियों का प्रशासन रहा। शक, पार्थिन, गूजर और हुन जातियों के आक्रमणों ने तबाही मचाई। तुर्कों और मुग़लों ने न केवल आक्रमण किए, बल्कि कई सौ वर्षों तक यहां शासन किया। लाखों हिन्दू, मुसलमान बने, ईसाई हुए और फिर आर्य समाज ने शुद्धि का चक्कर चलाया। इन सब घटनाओं तथा परिस्थितियों से एक ही परिणाम निकाला जा सकता है कि नसली विभिन्नता, वंशज पवित्रता, तथा खून की शुद्धता का दावा करना

असंगत और मिथ्या विचार बनकर रह गया है।

उपर्युक्त तथ्यों की रोशनी में जब कुलूत देश और हिमालय के दामन में बसे हुए सारे पहाड़ी लोग इतिहास के इन परिवर्तनों के प्रभाव से बच न सके होंगे, तो यह विश्वास ही करना पड़ता है कि कोल, किरात, खश आदि विभिन्न जातियों में भी इस पारस्परिक सम्बन्ध का पूर्ण प्रभाव हुआ है। जहां स्थानीय रूप में इन सभी जातियों का आपस में निकटतम पारस्परिक सम्बन्ध स्थापित हुआ, वहां मैदानों से आए हुए लोग भी न केवल प्रभावित हुए हैं, बल्कि ऐसे घुल-मिल गए हैं कि दो-चार सौ वर्षों की अवधि में ही वहां की मूल आबादी के सदस्य बन गए। अच्छे-भले ब्राह्मण कुछ देर के बाद राठी बन गए, और कई वंश तो एक समय के बाद यह भूल ही गए कि वे कब और कहाँ से आए थे और क्या थे। कई राजपूत वंश मुसलमानी आक्रमणों और एक सर्वव्यापी अफरा-तफरी के दौरान इन पहाड़ों में आकर बसे और फिर यहीं के हो रहे। वे यह भी भूल गए कि वे राजपूत थे भी या नहीं। धौलाधार में बसे हुए गद्दियों में कितने ही खानदान खतरियों के हैं, जो किसी समय युग के महान उथल-पुथल में और समय के चक्कर से घबराए हुए चम्बा और धौलाधार के दामन में आबाद हुए हैं। अब वे केवल गद्दी कहलाते हैं, और दूसरे गद्दियों की तरह ही जिनमें ब्राह्मण, राजपूत, सुनार, कनैत, खश आदि शामिल हैं, जीवन व्यतीत करते हैं। कुल्लू के इतिहास में सम्भवतः राजा टेढ़ी सिंह के शासन काल में वैरागियों की जो टोली तीर्थ यात्रा करती हुई कुल्लू में आई थी वे लगभग सभी लोग राजा टेढ़ीसिंह की सेना में शामिल हो गए थे। उनको वहाँ ज़मीनें दी गईं, माफियाँ दी गईं, और फिर उनमें से बहुत से स्थानीय स्त्रियों से विवाह शादियाँ करके वहीं के हो रहे। झीणा राणा और राजा भोसल की सन्तान को आज यह भी याद नहीं कि उनके वंशज कभी राणा तथा राजा थे। कुलूत देश के ऊँचे-ऊँचे पहाड़ी इलाकों में जहां कभी पित्ती ठाकुरों का राज्य था, जिन्हें हम किरात कह सकते हैं, उनकी सन्तान भी तो आज खिल्त-मिलत हो ही गई है, और उस बड़ी आबादी का भाग बन गई है जैसे विभिन्न छोटे नदी-नाले एक बड़ी नदी में मिलने के बाद अपना अस्तित्व खो बैठते हैं। कुल्लू के राजाओं के महलों में बीसियों स्थानीय लड़कियाँ गोली, खवासी, रखैल और नौकरानियों के रूप में रहा करती थीं। उनसे पैदा हुई जाइज़ और नाजाइज़ सन्तान भी, जिसके बारे में इतिहास खामोश

है, आज उस बड़ी आबादी का भाग बन चुकी हैं। जैसा कि पिछले अध्याय में वर्णन आ चुका है, प्राचीन खश लोग जब हिमालय के दामन में आबाद हुए और जब तक वर्णाश्रम धर्म का उन पर प्रभाव न हुआ, अथवा जब तक वे लोग कोल, किरात और खश के रूप में पारस्परिक मेल-मिलाप से आगे बढ़ते रहे, तब तक उन्हें केवल धौणी कहा जाता था। परन्तु वर्णाश्रम धर्म के प्रभाव जब इस कदर दूरस्थ भूखण्ड पर भी पड़े और जब जीवन के काम-धन्धों की सीमाएं नियत की जाने लगीं, तब एक ऐसा परिवर्तन आया कि खेती-बाड़ी पर गुज़ारा करने वाले सारे लोग एक पंक्ति में खड़े होने आरंभ हुए। डागी या कोली तो बहरहाल समाज में नीचे दर्जे पर रखे गए और ऋषियों-मुनियों का अपना ऊँचा स्थान था ही। अतः किरात और खश तथा वे लोग जो मैदानों से आए इस आबादी में खिल्त-मिल्त हो कर उस बड़ी बरादरी का रूप धारण कर गए जिसे बहुत देर बाद कनैत कहा जाने लगा। आज तो बहरहाल कनैत लोग वर्णाश्रम धर्म के अनुसार राजपूत कहलाए जाने लगे हैं, परन्तु पचास वर्ष पहले हिमालय के दामन में काश्मीर से गढ़वाल और नेपाल तक आबादी की एक बहुत बड़ी संख्या कनैत कहलाती थी। यहाँ तक कि लाहुल और स्पिति तथा किन्नौर के लोग भी कनैत कहे जाते थे। आज भी बहुसंख्यक आबादी न केवल कुल्लू में बल्कि सारे पहाड़ी इलाकों में इन्हीं लोगों की है, भले ही आज वे राजपूत कहलाते हैं। अतः इनका इतिहास ही इस इलाके का इतिहास माना जाना चाहिए। इसलिए यह बहुत जरूरी है कि सबसे पहले शब्द कनैत की छान-बीन की जाए, तथा इस बरादरी के आरम्भ और विकास की ऐतिहासिक खोज को तर्क-बितर्क की कसौटी पर उतारकर पाठकों को पेश किया जाए।

कनैत—

कनैत शब्द की जब से व्युत्पत्ति हुई है सम्भवतः तभी से यह दिलचस्पी, शंका और उलझन का मज़मून बना रहा है। आरम्भ में तो लोग इसके प्रयोजन और अभिप्राय से ज़रूर परिचित होंगे, परन्तु बाद में शब्दों का स्वयं बिगड़ जाना या उनके उच्चारण में बिगाड़ पैदा होना साधारण-सी बात है। भाषा का आरम्भ तथा विकास केवल सिद्धान्तों का पाबन्द नहीं होता, बल्कि इसका अधिकतः आधार लोगों की बोल चाल और

उच्चारण है। बोली, भाषा तथा उच्चारण तो हर दस मील पर भी बदल सकते हैं, और समय के अनुसार तो शब्दों में फेर-बदल होता ही रहता है, इसलिए शब्द कनैत के अर्थ के बारे में भी बहुत गलत फहमियाँ हैं। तीस वर्ष के समय से तो हम भी इस मग़ज़ पच्ची में लगे हुए हैं कि वास्तव में यह शब्द है क्या ? इसी बरादरी के कई लोगों से इस बारे में विचार-विमर्श हुआ, जिनमें से बहुत अच्छे पढ़-लिखे, समाज-सेवक, नेता, राज-नीतिज्ञ और विद्वान शामिल हैं। इस सम्बन्ध में विभिन्न लोगों के अपने-अपने दृष्टिकोण हैं। जो लोग इस बरादरी से सम्बन्ध नहीं रखते वे तो अनजाने में ही इस शब्द को कुनीत कह देते हैं, जिसके अर्थ होते हैं, 'जिसकी अच्छी नीयत नहीं,' इस प्रकार के लोग वास्तव में शब्द नीत या 'नीयत' को मूल मानकर इसमें 'कु' उपसर्ग लगाकर कुनीयत या कुनीत बनाते हैं जो ठीक प्रतीत नहीं होता। पंजाब जनगणना रिपोर्ट १९११, खण्ड १४ के पृष्ठ ४६१ में भी यही विचार इस प्रकार प्रकट किया गया है।

"Then again Kanet may be derived from Kuniet-meaning transgressing the rules and may be an epithet used originally for the off springs of irregular marriage (including widow marriage)."

अर्थात् "**सम्भव है कि कनैत शब्द कुनीत-से निकला हो जिसके अर्थ हैं सिद्धान्तों या असूलों से गिरा हुआ और हो सकता है वे लोग भी इसी व्याख्या में शामिल कर दिए गए हों जो अनियमित विवाहों की संतान हों जिनमें विधवा विवाह भी शामिल है।**" स्थानीय रूप में कहीं-कहीं तो यह व्याख्या सम्भवतः ठीक मानी जा सकती होगी, परन्तु काश्मीर से कुमाऊं तक और खासकर लाहुल स्पिति और किन्नौर जैसे इलाकों में जहाँ नीयत या नीत शब्द उनकी भाषा में ही शामिल नहीं है, इसको आधार नहीं माना जा सकता। इसलिए केवल 'कु' लगाकर इसके अर्थों को बदल करके शब्द कनैत के अर्थ को बदला नहीं जा सकता। उन लोगों का, जो इस शब्द को कुनीत कहकर इसकी व्याख्या करते हैं, कहना है कि कुनीत वे लोग हैं जो अपने धार्मिक और सामाजिक असूलों से गिर गऐ हैं अर्थात् जिनकी नीयत में अन्तर आ गया है। और इनमें वे उन सब लोगों को शामिल करते हैं जो वर्णाश्रम धर्म को छोड़कर इस बड़ी बरादरी में शामिल हुए। परन्तु इस दृष्टिकोण का जो उत्तर हमने ऊपर दिया है इसके आगे वे स्वयं भी खामोश

कनैत युवतियों के बालों की सुन्दर सजावट—सादा वस्त्र, सादा गहने ।

हैं, और वास्तविकता यह है कि नीयत में फर्क आने वाले और असूलों से गिरने वालों की संख्या तो कहीं-कहीं और थोड़ी-थोड़ी हो सकती है। समूचे रूप में लाखों आदमियों के लिए काश्मीर से गढ़वाल की पहाड़ियों तक यह कहना कि उनकी नीत (नीयत) खराब हो गई थी एक अत्यन्त अनुचित और अनुपयुक्त बात है। बरादरी के एक बड़े समुद्र को जो विभिन्न इलाकों और विभिन्न परिस्थितियों में सैकड़ों हजारों मीलों में फैला हुआ हो एक गलत और अनुचित व्याख्या से बेअसूल सिद्ध नहीं किया जा सकता। अतः जिन लोगों के मन में इस प्रकार का मामूली विचार भी हो वह उन्हें इन दलीलों की रोशनी में अपने मन से निकाल देना चाहिए।

कुछ लोग इस व्याख्या को भी लेकर सामने आए हैं कि **कनैत** शब्द वास्तव में **कन्याहत** से बिगड़कर बना है। **कन्याहत** एक संस्कृत शब्द है जिसका अर्थ है कन्या को मारना। ऐसे लोगों का कहना है कि कनैत उन राजपूतों की सन्तान हैं जिनके यहाँ लड़कियाँ पैदा होते ही मार दी जाती थीं। ऐसा रिवाज सम्भव है किसी समय कुछ राजपूत घरानों में रहा हो, क्योंकि किसी समय जाति या वंश की बुराई और कमज़ोरी के कारण लड़कियों के लिए घर ढूंढ़ने कठिन होते होंगे, और इसलिए भी कि सम्भवतः उस लड़ाई झगड़े के युग में बहुत बच्चों की और बिशेषतः लड़-कियों की रक्षा करना कठिन हो जाता होगा, इसलिए ऐसा रिवाज यदि कभी राजपूतों के कुछ बड़े वंशों में रहा भी हो तो भी उँगली पर गिने जाने वाले ऐसे वंशों की सन्तान काश्मीर से कुमाऊँ तक लाखों की संख्या में नहीं हो सकती और फिर इन असंख्य वंशों को कहाँ डालें जो राजपूतों के अति-रिक्त दूसरी जात-बरादरी से इसमें शामिल हुए हैं या जो मैदानों से आकर पहाड़ों में आबाद हुए हैं। यह सब तो **कन्याहत** अर्थात् कन्या मारने वाले वंशों से सम्बन्ध नहीं रख सकते। इसलिए शब्द कनैत की यह व्याख्या भी चण्डूखाने की गप से अधिक महत्त्व नहीं रखती। कुछ और लोगों से बात-चीत करने पर एक और मनोरंजक व्याख्या भी सुनने में आई। वे कहते हैं कि कनैत उन बीरों की सन्तान हैं जो कान तक धनुष को खैंचकर तीर चलाते थे, इसलिए यह शब्द **कर्ण आयत** से बिगड़कर **कनैत** बना है। जहाँ तक किरात, खश और दूसरे लोगों की वीरता का सम्बन्ध है, उस पर तो सम्भवतः किसी को शंका नहीं, परन्तु संसार के इतिहास में विशेष रूप से ऐसे राजपूतों का वर्णन तो कहीं सुनने में नहीं आया, जो केवल कान तक

कमान खैंचने के लिए प्रसिद्ध हुए हों। चिल्ला चढ़ाने के बाद कान तक तो धनुष खैंचा ही जाता है, अन्यथा वह तीर तीर न रह कर एक खेल बन सकता है। तीर कमान से लड़ाई करने वाले वे कौन से लोग होंगे जो कान तक या अपने कन्धे के बराबर कमान को नहीं खैंचते होंगे। और यदि धनुष विद्या के असूलों के अनुसार कान तक कमान का खैंचना ज़रूरी है तो फिर यह विशेषता केवल उन राजपूतों को कैसे दी जा सकती है जिनकी सन्तान कनैत कहलाती है। शाब्दिक रूप में भी कर्ण और आयत दोनों शब्दों के अलग-अलग अर्थ करते हुए कर्ण का अर्थ कान तो ठीक है परन्तु आयत का अर्थ ठीक नहीं उतरता। आयत शब्द किसी हद तक कुल्लुई भाषा का कोई बिगड़ा हुआ शब्द तो हो सकता है और कान को भी कुल्लुई बोली में कौन तो कहा जाता है, परन्तु दोनों को मिलाने पर तब भी यह शब्द कौन-आयत बन सकता है, और इससे बिगड़कर कनैत शब्द बनना कुछ समझ में आने वाली बात नहीं है। अतः यह व्याख्या भी बड़ी विचित्र प्रतीत होती है। कुछ और उर्दु के विद्वानों ने कनैत का फारसी शब्द **'कनाअत'** से सबंध जोड़ा है। उनका कहना है कि यह शब्द उस समय प्रचलित हुआ है जब मुसलमानों का शासन काल उत्तरी पंजाब में रहा है, और यह उन्हीं की देन हैं, क्योंकि उन्होंने ही पहाड़ी लोगों को शान्ति प्रिय होने के कारण संतोष और सबर से रहने वाले लोग कहा है, और फारसी शब्द 'क़ना-अत' का अर्थ ही सबर और सन्तोष है। क़नाअत करने वाले लोग अर्थात् सबर और सन्तोष से रहने वाले शान्तिप्रिय लोगों को उन्होंने क़नाअत शब्द के आधार पर कनैत कहा है। यदि उन्होंने यह नहीं भी कहा हो तो क़नाअत शब्द बिगड़कर कनैत बना होगा, यह व्याख्या भी विशेष महत्त्व की नहीं है। केवल किसी के कहने से सबर और सन्तोष की विशेषता से किसी जाति का नाम कैसे बन जाता, और फिर इस तरह एक बरादरी की बुनियाद पड़ना भी सम्भव जान नहीं पड़ता। पहाड़ी इलाकों में तो कितनी ही छोटी-छोटी रियासतें अभी बीस वर्ष पहले तक स्थापित थीं, जहाँ लोगों की अपनी बोली भाषा और अपनी संस्कृति जीवित रही है। इसलिए यह भी ज़रूरी नहीं कि फारसी का शब्द क़नाअत काश्मीर से नैपाल तक यूं ही प्रचलित हो गया हो। अतः इस व्याख्या को भी स्वीकार नहीं किया जा सकता। तब यह शब्द मूल रूप में क्या है और इसकी व्युत्पत्ति कैसे हुई है, इसके उत्तर के लिए उपर्युक्त व्याख्याओं की दृष्टि में आगे विचार अनिवार्य है। यहाँ तक तो यह बात ठीक है कि उपर्युक्त व्याख्याओं के जादू से

निकल जाने के बाद यह शब्द जन-साधारण का शब्द रह जाता है **'कनैत'**, और यह इसी उच्चारण से सारे इलाके में प्रचलित भी रहा है। अब इस शब्द का असली अर्थ निकालने के लिए इस शब्द की भी छान-बीन करनी होगी। हमें यह जानना होगा कि ऐतिहासिक, साहित्यक या धार्मिक पुस्तकों में या सरकारी रिकार्ड में यह शब्द पहले-पहल कब प्रयुक्त हुआ और कैसी परिस्थितियों में प्रचलित हुआ। ऋग्वेदिक काल में न तो आर्य गणों में इस प्रकार के किसी गण का नाम आया है और न ही दस्यु लोगों की कोई बरादरी या उपजाति इस नाम की ऋग्वेद या उसके बाद लिखे जाने वाले साहित्य में मिलती है। रामायण में भी कनैत नाम के किसी कबीले या बरादरी का वर्णन नहीं आया है, हालाँकि गोस्वामी तुलसीदास जी ने बड़ी छान-बीन करके बेशुमार छोटी-छोटी जातियों का भी रामायण में वर्णन किया है। तुलसीकृत रामायण में कनैत नाम की जाति का कहीं उल्लेख आया नहीं है, हालाँकि रामायण में कोल, किरात और खश का वर्णन मिलता है। कुलूत का भी उल्लेख कनैत शब्द के साथ नहीं आया है जब कि उसमें किरात, खश, त्रिगर्त, कुलिद, कुनिद और कुलूत आदि शब्द आए हैं। पाण्डवों ने कई वर्ष हिमालय की घाटियों और वादियों में गुज़ारे हैं जिसका उल्लेख विस्तारपूर्वक महाभारत में आया है। उन लोगों के नाम भी आए हैं जो इन पहाड़ों में रहते थे। परन्तु कनैत नाम का कहीं वर्णन नहीं आता। बौद्ध जातकों में भी जो उस युग की प्रमाणित ऐतिहासिक पुस्तकें मानी जाती हैं, कनैत नाम का कहीं बर्णन नहीं आता। मसीह से तीसरी शताब्दी पूर्व जब यूनानियों का आक्रमण भारत पर हुआ, कुलूत देश की सेनाओं का यूनानियों के मुकाबले में सिन्ध नदी पर जाना और चन्द्रगुप्त मौर्य के राज-तिलक समारोह में पाटलीपुत्र में शामिल होने का वर्णन तो आया है परन्तु कनैत नाम से किसी जाति का वर्णन नहीं है। यूनानी आक्रमण के समय उत्तरी भारत छोटे-छोटे राज्यों में विभक्त था, इन राज्यों के नाम वहाँ के रहने वाले कबीलों के नाम पर ही प्रसिद्ध थे, परन्तु कुलूत देश का उल्लेख महर्षि चाणक्य के अर्थशास्त्र में केवल गणराज्य के रूप में आया है।

अब हम ईसवी सदी पांचवीं के दौर में प्रवेश करते हैं जिस समय के बारे में वराह मिहर ने वृहत संहिता नाम की पुस्तक लिखी है। इस संहिता के कूर्म विभाग अध्याय १४ के पृष्ठ १६४ और १६५ पर लेखक ने भारत के उत्तर पश्चिम और उत्तर पूर्व में बसने वाली असंख्य जातियों का वर्णन

किया है। इस में राज्यों का वर्णन तो है ही जैसा कि इसी पुस्तक के किसी पिछले अध्याय में लिखा जा चुका है, परन्तु उत्तर पूर्व में बसने वाली जातियों का वर्णन करते हुए संहिता के श्लोक सं० ३० में एक 'कुनट' जाति का भी वर्णन आया है।* इस श्लोक में वराह मिहिर ने कुनट जाति को जटासुर, खस, घोष और कुचक जातियों के साथ बताया है। इसी श्लोक में ब्रह्मपुर (भरमौर), दरद, डामर, किरात, चीन, कुनिंद आदि जातियों का भी वर्णन है। इन में से बहुत सी जातियाँ ऐसी हैं जिन का वर्णन और भी कई ऐतिहासिक पुस्तकों में आया है। श्लोक की उपयुक्त व्याख्या से एक बात तो बिलकुल स्पष्ट हो जाती है कि केवल इसी श्लोक में ब्रह्मपुर अर्थात भरमौर चम्बा से ले कर बंगाल की घोष जाति तक का वर्णन है इसलिए कुनट नाम की जाति भी हिमालय के दामन में इन के साथ साथ रही होगी कुनट शब्द से कनैत शब्द बनना यद्यपि असम्भव ठहराया नहीं जा सकता, परन्तु यह कहना कि कुनट जाति ही वर्तमान काल के कनैत हैं इतना आसान नहीं, क्योंकि इस बात को प्रर्याप्त अनुसंधान और छान-बीन के बाद ही स्वीकार किया जाना चाहिए। कुनट का शब्द अर्थ भद्दा नाचने वाला हो सकता है। तब यह नाम इस जाति को क्यों मिला इसे भी अनुसंधान की कसौटी पर परखना होगा। इस का एक ही कारण हो सकता है कि इस इलाके में जहाँ गन्धर्व लोग भी रहते थे और प्राचीन आर्य खश भी आबाद थे, इन दोनों के मुकाबले में कुनट जाति के लोग उतना अच्छा नहीं नाच सकते होंगे, इसलिए उन्हें कुनट कहा गया। प्रश्न पैदा होता है कि कुलूत और अन्य पहाड़ी इलाकों में क्या सचमुच ही कोई ऐसे लोग थे जो अच्छा न नाचते थे, या जिनके नाच को अच्छा नाच नहीं कहा जाता था। कुलूत देश की कुछेक परम्पराएं, जिन्हें धार्मिक रंग भी दिया गया है, इस बात की साक्षी हैं कि इस पहाड़ी इलाके में फागली गनेड़ और सदियाले जैसे मेले थे और अब भी हैं, जिन में न केवल प्राचीन आदिवासियों जैसा नाच पेश किया जाता है बल्कि निर्लज्ज गीत भी गाए जाते हैं, और ऐसे प्रदर्शन किए जाते हैं जिन के देखने और सुनने से उन लोगों की घटिया संस्कृति का अंदाज़ा लगता है, जिन्होंने ये परम्पराएं आरम्भ कीं। इसमें शक नहीं कि इन का हर कदम निःसंदेह राक्षसों की दुनियाँ का नज़ारा

---

* ब्रह्मपुरदार्व डामर वनराज्य किरातू चीन कौणिदः।
भल्ला पटोल जटासुर कुनट खस घोश कुचिकाख्या ॥३०॥
एक चरणानुविद्धः..........

पेश करता है अपर कुल्लू में गनेड़ और रूपी वादी के सदियाले भी इसी प्रकार मेले होते हैं, यद्यपि अब प्रायः लोगों ने अश्लील शब्दों और दुर्व्यवहार के इन प्रदर्शनों को बन्द करने या कम करने के प्रयत्न किए हैं, फिर भी इस बात से इन्कार नहीं किया जा सकता कि इस तरह के गंदे नाच इस पहाड़ी इलाके में प्रचलित न थे। यदि आर्य खशों और मैदान से आने वाले लोगों ने इन राक्षसी परम्पराओं को प्रचलित रखने वाले लोगों को कुनट कहा हो तो असम्भव नहीं। आरम्भ में ये स्थानीय आदिवासी लोग होंगे जो कोल किरात के पारस्परिक मेल मिलाप से अस्तित्व में आए होंगे, और जिन्होंने प्राचीनतम कबाइली परम्पराओं को इस प्रकार के गंदे नाच के रूप में प्रचलित रखा होगा। परन्तु बाद में दूसरे लोग भी परम्परानुसार इन में शामिल होते रहे हैं, यहाँ तक कि स्थानीय देवताओं को और कुछ धार्मिक रीति-रिवाजों को भी इन में शामिल कर लिया गया। अतः सम्भव है कि जो कुनट शब्द आरम्भ में एक विशेष कबीले के लिए प्रयोग किया गया हो, वह कुछ देर के बाद वहां की समूची आबादी से भी सम्बन्धित कर दिया गया हो। खश लोग तो अपनी उत्कृष्ट संस्कृति के कारण अवश्य अच्छे नाचने वाले होंगे, क्योंकि कुल्लू का असल नाच जिसे नाटी कहते हैं, उच्च कोटि के नाचों में गिना जाता है। इसलिए इन के मुकाबले में दूसरे नाच नाचने वाले लोगों को, जिन का ऊपर उल्लेख किया गया है, जरूर कुनट कहा गया होगा, क्योंकि तब तक वर्णाश्रम धर्म के अधीन बरादरियों का विभाजन नहीं हुआ था, बल्कि एक दूसरे के अलग नाचने के अन्तर से ही एक को दूसरे से अलग समझा गया। यह एक सामाजिक अन्तर था, परन्तु जब वर्णाश्रम धर्म के प्रभाव प्रकट होने आरम्भ हुए और खश लोग, जो अधिकतः भेड़ बकरियां पालने का काम करते थे, खेती बाड़ी की ओर आकर्षित हुए और उनसे पहले आए कुनट लोगों के रीति रिवाज में घुल-मिल गए और कुछ अपनी सामाजिक सीमा से इधर-उधर फैले तभी सम्भवतः उस बड़ी बरादरी का आरम्भ हुआ जो कुनट से बिगड़ कर कुनैत या कनैत कहलाई कबीलों और बरादरियों के बनने और बिगड़ने के इतिहास का अध्ययन किया जाए, तो यह बात ठीक सिद्ध होती है क्योंकि हम देखते हैं कि राजपूतों में ही जम्मू से आए हुए जमवाल, जसवां से सम्बन्ध रखने वाले जसवाल, पटियाले से सम्बन्ध रखने वाले पटियाल, गुलेरिए राजपूत कहलाए हैं। इसी तरह ब्राह्मणों में नगरकोट से आए हुए नगरकोटिए, ज्वालामुखी के भोजकी, आयोध्या से आए हुए अयोध्यावासी सरस्वती के

किनारे बसने वाले सारस्वत ब्राह्मण कहलाए पेशे के आधार पर भी पण्डित, पुरोहित, आचार्य, बोटी, राठी, हलबाह आदि ब्राह्मण हुए हैं। अतः कुनट जाति भी तभी तक अलग नाम से सम्बोधित रही है जबतक केवल नाचने की विशेषता पर यह अन्तर और भेद प्रचलित था। जब अन्य सामाजिक परम्पराएँ परस्पर घुल मिल कर एक रूप धारण करती गईं, तब सभी लोग इस बड़ी बरादरी में शामिल हो गए होंगे, जिसे कुनट के आधार पर कनैत कहा जाने लगा, और तब ये नाचने के अन्तर और भेद से नहीं बल्कि पेशे के आधार पर खेती बाड़ी पर आश्रित सभी लोगों की एक बरादरी बन गई होगी। चूंकि कुनट आबादी ज्यादा होगी, इसलिए सामाजिक नियमों के अनुसार कम संख्या के लोग सर्वदा बहु संख्या के लोगों में सम्मिलित हो जाते हैं, और बड़ी बरादरी में शेष बादरियां प्रायः घुल मिल जाती हैं। जिस तरह आरम्भ में आर्य का अर्थ भेड़-बकरियां पालने वाला था, बाद में खेती बाड़ी करने वाला बना, और अन्त में आर्य विजेता और शासक कहा जाने लगा। उसी तरह कुनट शब्द किसी समय अच्छा न नाचने वाले को कहा जाता होगा, और जब अच्छे नाचने वाले और अन्य लोग इस में शामिल होते गए तब परम्पराओं और पेशों के आधार पर न केवल शब्द कुनट कनैत में बदल गया बल्कि उसका सम्बन्ध उस श्रेणी से जोड़ा गया जिस की सांझी संस्कृति और सामूहिक सभ्यता जीवन का स्रोत बनती चली गई।

कुल्लू के राजाओं के इतिहास में जो ईसवी सदी पहली से आरम्भ होता है, कनैत शब्द की व्याख्या प्रायः मिलती नहीं है, परन्तु अनुश्रुति है कि जिस तरह ठकराई में रहने वाले लोगों को ठरैत या टकरैत कहा जाता है, उसी तरह कुलूत के लोगों को भी बाहर के लोग ने कुलैत कहा। कुल्लू के लोगों को कोले तो अब भी कहते हैं। परन्तु जब कुलू का नाम कुलूत था, तब सम्भवतः कुलूत वालों को कुलैत ज़रूर कहा जाता होगा, और फिर उच्चारण के बिगड़ने पर यह शब्द यदि कुनैत या कनैत बन गया हो तो असम्भव बात नहीं। पमन्तु फिर वही प्रश्न पैदा होता है कि यह शब्द कुलूत देश की सीमाओं तक तो माना जा सकता था काश्मीर से नैपाल तक की एक बड़ी संख्या की आबादी को कनैत क्यों कर कहा जा सकता था। इस में तो संदेह नहीं कि बहुत पुराने समय में कुलूत देश की गिनती मुद्राराक्षस नाटक के अनुसार उत्तर और उत्तर पश्चिम के पांच बड़े राज्यों में होती था, जैसा कि हम इस पुस्तक के चौथे अध्याय में वर्णन कर आए

हैं। जिन पांच बड़े राज्यों में कुलूत देश का राज्य शामिल था उन में काश्मीर, सिन्ध और यूनान जैसे बड़े राज्य भी थे। इसलिए सम्भव है कि कुलूत का बड़ा राज्य काश्मीर से गढ़वाल तक फैला हुआ हो, और तब इस में बसने वाले सब लोगों को कुलैत कहा गया हो। इससे पहले महाभारत में भी काश्मीर से गढ़वाल तक हिडिम्बा की कोख से पैदा हुए भीमसैन के पुत्र घटोत-कच्छ का राज्य था, और इस पहाड़ी प्रदेश से घटोत कच्छ का ही पांडवों की ओर से महाभारत की लड़ाई में शामिल होने का वर्णन आया है जब कि त्रिगर्त अर्थात् कांगड़े के राजा सुसर्मा को कोरवों का साथी और सहायक बताया गया है। चूंकि महाभारत काल में कुलूत देश के अतिरिक्त और भी असंख्य छोटे-छोटे पहाड़ी राज्यों का वर्णन अर्जुन की विजयों और युधिष्टर के राजसूय यज्ञ में उनके सहयोग के सिलसिले में आया है (भीष्म पर्व अध्याय ६ श्लोक ३ से ५७ तक, तथा अध्याय ५२ श्लोक २ से ४ और आदि पर्व अध्याय १५५, सभा पर्व अध्याय २६,२७) परन्तु हो सकता है कि इन छोटी-छोटी रियास्तों के होते हुए भी कुलूत देश की बड़ाई स्वीकार की गई हो और इस बिना पर इस सारे पहाड़ी प्रदेश को कुलूत और इसमें रहने वालों को कुलैत या कनैत कहा जाने लगा हो। बहरहाल यह एक विचार है जिस पर आगे छानबीन की आवश्यकता है।

चीनी यात्री **ह्यून साँग** के यात्रा संस्मरण में भी जालन्धर, कुलूत, शतद्रु, लद्दाख आदि का वर्णन तो आया है, परन्तु कनैत का उल्लेख कहीं है नहीं हालांकि जो लोग वहां उस समय उसके देखने में आए उनका चित्रण उसने पूरी तरह किया है। वह लिखता है कि '**कुलूत के लोग साधारण रूप रंग वाले और कठोर हैं, जिनमें भारी संख्या में गले में गिल्हड़ या सूजन वाले देखे गए हैं। वे प्रकृति से कठोर और भयानक हैं।**' स्पष्ट है कि कठोर और भयानक लोग बहुत अच्छे नाचने वाले नहीं हो सकते, और अच्छे नाचने वाले सुन्दर लोगों से इस चीनी यात्री का वास्ता नहीं पड़ा होगा। इसके बाद का अधिकतः ऐतिहासिक अभिलेख इस सम्बन्ध में खामोश है। पन्दरहवीं, सोलहवीं सदी ईसवीं में जब भारतवर्ष पर मुसलमानों का राज्य था तब खेती बाड़ी करने वाले लोगों को **जमींदार** कहा जाने लगा। यहां तक कि मुगल बादशाहों ने राजाओं को भी अपने शाही फरमानों में **'जमींदार कुल्लू'** लिखकर सम्बोधित किया है। जमींदार शब्द ही उर्दू भाषा का है, जो उस समय प्रचलित था। कहावत है कि '**जिसका राज उसका तेज**' और इसी के अनुसार मुसलमानी लिबास और भाषा का भी प्रभाव दूर-दूर

तक फैला। इससे पहले ज़मीन के मालिक को सम्भवतः (भूमिए)', कहा जाता था। कुल्लू के एक बहुत पुराने लोक गीत में 'भूमियां सांई' का वर्णन आया है। सम्भवतः उसी मुसलमानी दौर के समय से कुल्लू की अधिकतः आबादी जो मूल रूपसे कनैत थे अपने आप को ज़मींदार कहने लगे, और बहुत अब भी कहते हैं। ज़मींदार और कनैत पारस्परिक एक बन गए। कई लोग तो अपनी जात भी ज़मींदार बताते, ज़मींदार का अर्थ होता था कनैत और कनैत का भावार्थ ज़मींदार। सोलहवीं सतारहवीं सदी तक यही बात रही। पंजाब पर सिक्खों के शासन में तो अधिकतः अफरा-तफरी ही रही, हां १८४६ में जब ट्रांस सतलुज पैक्ट के तहत यह इलाका अंग्रेजों के पास गया और उसके बाद जो पहला बंदोबस्त हुआ उसमें सरकारी तौर पर माल के रिकार्ड में शब्द कनैत को ज़ात के खाने में दर्ज किया गया। जम्मू किश्तवाड़ के इलाके से लेकर गढ़वाल तक की साठ प्रतिशत आबादी ये कनैत लोग ही थे।

पंजाब जनगणना रिपोर्ट १९११ खण्ड १४ भाग पहला, पृष्ठ ४६१ में शब्द कनैत को संस्कृत के शब्द कनिष्ठ से बिगड़ा हुआ बताया गया है, जिसका अर्थ है छोटा, और इसकी व्याख्या निम्नलिखित शब्दों में की है :—

Kanets might be corruption of Kanishtha meaning younger, a term which would have been used to designate the sons of inferior status.

जिससे यह सिद्ध होता है कि यह व्याख्या उन लोगों के बारे में की गई है जिन्हें बरादरी में छोटे दरजे के समझा गया, और उन्हें उन राजपूतों की संतान बताया गया जिन्होंने स्थानीय तौर पर कई विवाह किए, जैसा कि कुल्लू के राजाओं के बारे में ऊपर उल्लेख किया जा चुका है और इस विचार के गलत होने का उत्तर भी साथ ही दिया गया है। जहां तक शब्द कनिष्ठ से कनैत बनने का सम्बन्ध है, इसमें शक नहीं कि शाब्दिक रूप में दोनों शब्द आपस में काफी निकट आते हैं, यद्यपि जो व्याख्या उक्त पंजाब जनगणना रिपोर्ट में की गई है वह सर्वदा दरुस्त नहीं मानी जा सकती। यदि शब्द की बनावट से ही कनैत शब्द का आधार ढूंढना हो तो कनैत शब्द को कनिष्ठ से बिगड़ा हुआ भी माना जा सकता है। शक संवत के प्रवर्तक राजा कनिष्क की राज्य सीमा पहली सदी ईस्वी में काशगर यारकंद से लेकर अफगानिस्तान, कश्मीर, पंजाब, बनारस तक फैली हुई थी। इस

"जाचा वै जाणा तेरे सोह्"

युग बदला तो गहने बदले, परन्तु सिर पर बालों का स्तूप और माथे पर काली बिंदी किस युग की याद दिलाते हैं ?

प्रकार हिमालय के सारे इलाके में भी कनिष्क का राज्य रहा है। हो सकता है कि कनिष्क की इस पहाड़ी जनता का नाम, जिसमें कुशान आक्रमणकारी भी शामिल होंगे, कनिष्क शब्द के आधार पर कनिषेत कहा गया हो, जिससे बिगड़ कर शब्द कनैत बना हो। इस विचार को आधार मान कर भी खोज आगे बढ़ाई जा सकती है। पंजाब में जनगणना की इसी रिपोर्ट के पृष्ठ २५ में कनैत आबादी का विस्तार ज़िला अम्बाला, शिमला, कांगड़ा, होशियारपुर, नाहन, मण्डी, सुकेत, पटियाला और शिमला रियासतों तथा शिमला की छोटी बड़ी रियासतों में बताया गया है। पुरातत्व विभाग की सर्वे रिपोर्ट खण्ड १५ पृष्ठ १४६ में जनरल कनिंघम ने कनैत बरादरी का कुलिंद या कुनिंद जाति के लोगों से सम्बन्ध बताया है। इसमें संदेह नहीं कि बृहत संहिता के जिस श्लोक स० ३० का हमने पीछे उल्लेख किया है उसमें कुनट, खश और घोष जातियों के साथ कुनिंद जाति का भी वर्णन है, और जनरल कनिंघम का भी इशारा इसी ओर है जिसे वह कुनिंद या कनैत जाति को भी उसी बड़ी खश जाति का ही भाग मानता है। ऐसा प्रतीत होता है कि हिमालय की तराई में अर्ध पहाड़ी क्षेत्रों में जो कुनिंद या कुलिंद लोग रहते थे, और जो सांस्कृतिक रूप में कुछ आगे बढ़े हुए थे, लगभग उसी तरह के लोग ऊँचे पहाड़ी भागों में कनैत कहलाए जो सांस्कृतिक रूप में कुलिंदों से किसी कदर घटिया होंगे। यह बात भी विश्वसनीय है कि होशियारपुर और कांगड़ा जिलों में जिन्हें बाहती और चाहंग कहा जाता है, उसी प्रकार की बरादरी को कुल्लू और ऊपर के सारे पहाड़ी इलाकों में कनैत कहा गया। यद्यपि कई विद्वानों ने कुल्लू को कुलिंद से बिगड़ा हुआ कहा है, परन्तु जनरल कनिंघम की रिपोर्ट से साफ स्पष्ट होता है कि चीनी यात्री ह्यूनू सांग के अनुसार कुलिंदस या कुनिंदस एक बहुत बड़ा राज्य था जिसका विस्तार एक हजार मील था--पूर्व में गंगा, उत्तर में पहाड़ और यमुना इसके बीच में बहती थी। बहुत सारा कनैत आबादी का इलाका इसमें आता था, जिससे सिद्ध होता है कि गंगा और यमुना के दामन में मैदानों तक कनैत लोग बहुसंख्या में आबाद थे। इसी कुलिंदस के इलाके में ही अमोघभूति राजना कुलिंदसा के बेशुमार सिक्के मिले हैं। एटकिंसन ने अपनी पुस्तक "The Himalayan Districrs 1882", खण्ड दो पृष्ठ ३५५ में यूनानी इतिहासकारों के हवाले से भी यह सिद्ध किया है कि कुलिंद जाति के लोग व्यास, सतलज, यमुना और गंगा के इलाकों में आबाद थे और ये वैसे ही लोग थे जैसे कि कनैत थे। महाभारत के सभा

पर्व में भी कुलिंदों पर अर्जुन की विजय का उल्लेख आया है। इसी तरह विष्णु पुराण में कुलिद घाटी का भी वर्णन आया है, जिसे उसने त्रिगर्त अर्थात् काँगड़े के पडोस में बताया है। इन सब बातों से स्पष्ट होता है कि कुलिदस या कुनिदस एक बहुत बड़ा राज्य जरूर था और उसमें कनैत जाति शामिल थी। परन्तु शब्द कनैत कुनिद या कुलिंद से बना हो, इसके लिए कोई उचित कारण बनता नहीं, वल्कि कनैत एक अलग शब्द रहता है जिसके अनुसंधान के लिए सम्भव है अभी बहुत परिश्रम करना पड़े।

श्री एम० एस रंधावा अपनी पुस्तक 'फार्मरज आफ इण्डिया' खण्ड एक पृष्ठ १४८ पर कनैत का वर्णन करते हुए लिखते हैं कि **"ये लोग खेती बाड़ी करने वाली एक बड़ी बरादरी है जो इतिहास में बड़ा महत्व रखती है। ये कौन लोग हैं इसके बारे में कई भिन्न मत हैं। कुछेक का विचार है कि ये उन प्राचीन आर्य आक्रमण कर्ताओं की सन्तान हैं जो हिन्दुकुश की ओर से आए। कुछ और लोगों का कहना है कि इनकी वंशावली बहुत पुराने समय में हिमालय में आकर आबाद हुए राजपूतों से मिलती है। तीसरे विचार के अनुसार ये लोग उन राजपूतों की सन्तान हैं जिन्होंने मैदानों में आकर पहाड़ों की स्थानीय स्त्रियों से विवाह किया और एक विचार यह भी है कि कनैत जो किसी समय राजपूत थे, अपने भाइयों की विधवा पत्नियों से विवाह करने और परम्पराओं को तोड़ने के कारण कुनीत कहलाए, और फिर ऐसे लोगों की एक बरादरी बनती गई जिसे कनैत कहा गया"। श्री रन्धावा के अनुसार "इस कनैत बरादरी में खश और राहू दोनों शामिल हैं, यद्यपि खश और राहू की अलग परम्पराएं अब धीरे-धीरे समाप्त हो रही हैं"। कनैत लोगों के चरित्र के बारे में डा० रंधावा लिखते हैं कि प्रायः यह लोग ईमानदार, शान्तिप्रिय और विधि का पालन करने वाले हैं।**

मि० हैमिलटन अपनी पुस्तक **'नैपाल'** के पृष्ट ३५ (Hamiltans' Nepal P· 35) में लिखते हैं **'कि शिमला हिल्ज में रहने वाले आधे से ज्यादा लोग कनैत हैं जो खश और खशिया से सम्बन्धित हैं'**। उसने आगे चलकर लिखा है कि जब राठौर पहले-पहल सिरमौर में आए तब खसों की दो बरादरियाँ भोट और कुनैत वहां आबाद थीं। यदि कनैतों को पूर्व में खसिया या खासी बरादरी से और उत्तर पश्चिम में खसों या खशों से मिला दिया जाए तो प्रतीत होता है कि इस सारे पहाड़ी प्रदेश में सिन्ध से

ब्रह्मपुत्र तक आबाद ये लोग यहां के असल निवासी हैं और यह बहुत पहले से इन घाटियों और वादियों के मालिक रहे हैं । **मिस्टर हौजस** (Mr. Hodgs) ने नेपाल की सैनिक कबाइली बरादरियों का वर्णन करते हुए इस तरह लिखा है :—

"The Khasas and Kanets are clearly of mixed breed, aboriginal Tatars on the mother-side but Aryans by father."

अर्थात् "**खश और कनैत स्पष्ट रूप में उस मिश्रित नसल से हैं जो आदिवासी तातार मां और आर्य बाप से पैदा हुए हैं**" (The language, literature and religion of Nepal–Part-II–page 37) और फिर लिखा है कि मुस्लमानों के आक्रमणों के कारण ब्राह्मण लोग नेपाल की ओर गए, जहां उन्होंने पैर जमाए तथा स्थानीय रूप में विवाह किए। जो अच्छे खश और कनैत थे उन्हें संस्कारों के द्वारा राजपूत बना दिया गया। खश स्त्री और ब्राह्मण की संतान को भी क्षत्री घोषित किया गया। यह उन्होंने नेपाल के सिलसिले में लिखा है, परन्तु यह भी प्रमाणित बात है कि मुस्लमानी आक्रमणों के दौरान तो मैदानों से लोग पहाड़ों में सब ओर घुस गए थे। हो सकता है कि इस तरफ का थोड़ा बहुत प्रभाव हिमालय की दूसरी वादियों में भी हुआ हो। परन्तु जो कुछ हौजस ने लिखा है वह ज़रूरी तौर पर विश्वसनीय भी तो नहीं हो सकता। यदि इस सिद्धान्त को मान लिया जाए तो कनैत शब्द किरात से भी काफी निकट आ जाता है, और कहा जा सकता है कि कनैत शब्द किरात से बिगड़ कर बना है। परन्तु वृहत संहिता ने किरात और खस जातियों के साथ-साथ ही कुनट जाति का वर्णन करके किरात से कनैत बनने की गुंजाइश भी कम कर दी है, क्योंकि देखा जाए तो शब्द कनैत शब्द कुनट से अधिक निकट है, जिसकी व्याख्या पहले की जा चुकी है।

जनरल कनिंघम ने कनैत जाति की उप-जातियों की भी खोज की है, और उस खोज का सम्बन्ध गढ़वाल में पाई जाने वाली निम्नलिखत कनैत उप-जातियों से बताया गया है :—

(१) पद्माइक अर्थात् पद्म से
(२) अनाइक अनूं से

(३) कदाइक कद्रू या कद्रू से
(४) भजाइक भजू से

उपर्युक्त शब्द पद्म, अनू, कद्रू और भजू में से अनू और कद्रू जनपदों का वर्णन ऋग्वेद में मिलता है, जिन में से अनू जनपद को तो अवश्यमेव कोलार्यन नसल से स्वीकार किया गया है। कद्रू जनपद भी कोलार्यन नसल से ही प्रतीत होता है। पद्म और भजू के बारे में कुछ नहीं कहा जा सकता, और यदि ये भी छोटे-छोटे जनपद किसी समय हों तो असम्भव नहीं। यदि अनू और कद्रू जनपदों के आधार पर अनाइक और कदाइक कनैत उप-जातियाँ अस्तित्व में आईं, तो हैमिलटन और हौजसन के कथनों की किसी हद तक पुष्टि हो जाती है कि कनैत जाति कोल और आर्यन या किरात और आर्यन नसल के लोगों के पारस्परिक सम्बन्ध से पैदा हुई है। परन्तु स्थानीय भाषा की छान बीन करने से इस बात की पुष्टि नहीं होती क्योंकि कोल या मुँदा भाषा के बहुत कम शब्द साधारण लोक भाषा में मिलते हैं, यद्यपि रीति रिवाज और परम्पराएं काफी समानता रखती हैं, जैसा कि पिछले कोल और किरात के उल्लेख में आ चुका है। शिमला हिल्ज़ और गढ़वाल के इलाके में मंगल चौहान और राव भी कनैत जातियाँ है। राव और रावत एक ही उप-जाति के नाम हैं, जिन्हें कुल्लू में लोग अनजाने से राहू कहते हैं और एक सामान्य विचार के अनुसार राहू और खश को ही मूल बरादरियाँ माना जाता रहा है। हमारी खोज के अनुसार राहू लोगों से अभिप्राय उन लोगों से है जिन्हें मैदानी इलाकों में और खास कर हरियाणा में राव कहा जाता है, और गढ़वाल और शिमला हिलज़ में रावत कहा जाता है। परन्तु ऐतिहासिक अनुसंधान के सिलसिले में जितनी भी खोज आज तक हो सकी है इस में इन छोटी छोटी उप-जातियों को यह महत्व नहीं दिया गया है और साधारणत: कोल, किरात और खश का ही वर्णन आया है, और १८७१ में जब पहली जनगणना हुई तब कनैत शब्द सरकारी रिकॉड में जाति के रुप में दर्ज किया गया। स्पष्ट है कि खश और राहू के नाम से ज़ात या बरादरी का होना सम्भवत: बहुत पहले से समाप्त होना आरम्भ हुआ था, और ये दोनों शब्द न जाने अतीत के धुँधले में कब लुप्त हो गए, और तब सब के मेल जोल से एक साँझी बरादरी अस्तित्व में आई जिस का नाम कनैत पड़ा, और जिस में सभी जात-बरादरियों के लोग धीरे-धीरे शामिल होते गए और इस तरह एक बड़ी बरादरी काँशमीर से गढ़वाल तक बढ़ती, फैलती और पनपती

रही। १८७१ की जनगणना के अनुसार कुल्लू में ५८.५, लाहुल में ७६.५ और स्पिति में ६५.१ प्रतिशत आबादी केवल कनैतों की थी। १८९१ की जनगणना के अनुसार कुल्लू की कुल जनसंख्या १०७४३६ थी, जिस में ६१३६५ कनैत लिखे गए थे। युग-परिवर्तन का सब से बड़ा प्रभाव देखिए कि जो खश जाति किसी समय बाकी सब जातियों से समाज में कदरे श्रेष्ठ स्थान रखती थी और जो द्विज कहलाती थी, आज वह उस बड़ी कनैत बरादरी के साथ एक उप-जाति बन कर रह गई है। यहाँ तक कि कुछ विद्वानों ने तो राहू या राव के साथ साथ खश जाति को पूर्णतः कनैत जाति की उप-जाति स्वीकार कर लिया है। खैर, उपर्युक्त व्याख्या और वर्णन में कितना भी भेद क्यों न हो, भले ही खश और राहू पहले थे या कनैत पहले थे, एक बात पर तो लग-भग सभी विद्वान सहमत हैं कि कोल, किरात और खशों के साथ साथ या उन के थोड़ी देर बाद, जैसी भी परिस्थितियां हुई हों, कनैत नाम की यह बरादरी अस्तित्व में आई जो एक साँझी सस्कृति की द्योतक थी, और इस बात पर तो पूर्ण सहमति है कि कनैत खेती बाड़ी पर आश्रय रखने वाली एक काश्तकार श्रेणी (Cultivating Class) है, क्योंकि जिस प्रकार के लोगों को कुलिंद या कुनिंद, राव, रावत, बाहती, घिरथ, चाहंग, राहू, खश, मंगल, चौहान आदि कहा गया, उसी तरह के लोगों को कनैत कहा गया है। यह सब लोग जमींदार और काश्तकार हैं। इसी लिए हम इस अन्तिम निर्णय पर पहुंचते हैं कि ज़मीन खोदने के पेशे या धंधे के आधार पर कनैत शब्द खणैत या खनैत शब्द का बिगड़ा हुआ रुप है। प्राकृत में 'खोदने' के लिए 'खनन' शब्द प्रयुक्त होता है, और कुल्लूई भाषा में भी 'खौणना' ही कहते हैं। इसी आधार पर काश्तकारों या ज़मीन खोदने बालों को खणैत या खनैत कहा जाना नितान्त उचित है, और फिर खनैत से कनैत शब्द का प्रयोग में आना और प्रयुक्त होना भाषा विज्ञान की दृष्टि से बिलकुल ठीक प्रतीत होता है। खनन शब्द क्रिया वाचक है जिस से शब्द खनैत बनना बड़ा उचित है। यदि ठकराइयों में रहने वालों को ठकरैत कहा जा सकता है, तो खनन करने वालों अर्थात खोदने वालों को खनैत कहना क्योंकर स्वीकार्य नहीं हो सकता। जिस युग की कहानी हम लिख रहे हैं उस की हलकी सी कल्पना भी हम करें, तो हमें ज्ञात होगा कि उस समय मनुष्य का गुज़ारा और जीवन का सारा आधार या शिकार पर होता था या फिर सभ्यता के एक चरण आगे बढ़ने पर पूर्ण आश्रय केवल खेती बाड़ी पर ही था। आबादी कम थी, और भूमि अनन्त। जहाँ जिस का जी चाहा

उस ने ज़ंगल साफ किए, पत्थरों और चिट्टानों को तोड़ा और ज़मीन खोद कर उस से अन्न पैदा कर के आजीविका का साधन बना लिया। उस समय पेट भरने और शरीर को ढ़ाँपने के अतिरिक्त दूसरी कोई बात मनुष्य के मन और मस्तिष्क में थी नहीं। इस लिए ज़मीन खोद कर काश्त करने का काम ही सम्भवत: सब से अच्छा आजीविका का साधन था, तथा अधिकत: मनुष्य जिन में खश, राहू, कोल, किरात सभी शामिल थे, ज़मीन खोदने में लग गए और इस तरह खोदने वालों की एक बरादरी अर्थात खनैत अस्तित्व में आई। आबादी बढ़ने के साथ साथ ये लोग आगे ,पीछे, दायें बायें बढ़ते गए, और जहाँ भी जिस कबीले को अच्छी जगह दिखाई दी, वहीं उसे खोद कर आबाद करना आरम्भ किया, और इस तरह यह बरादरी काश्मीर से आसाम तक और सप्त सिन्धु के मैदानों में आगे बढ़ती गई और इन के नामों में भी भेद आता गया। उदाहरणार्थ यह बरादरी जब त्रिगर्त (वर्तमान काँगड़ा) में आबाद हुई तो उन्हें बाद में गर्तीय कहा जाने लगा जिस से बिगड़ कर शब्द घिर्थ बना है। यह असल काश्तकार बरादरी है जिन्हों ने सब से पहले उन तराई की ज़मीनों को आबाद कियाँ। आगे चल कर इन्हीं को बाहती कहा गया, क्योंकि अब खेती बाड़ी का काम खोद्ने की मंज़िल से कुछ आगे बढ़ कर बाहने की मंज़िल तक पहुंच गईथीं। स्थानीय भाषा के अनुसार बाहने का अर्थ हल चलाना या हल चला कर खेती को तैयार करना है। इसी आधार पर जो ब्राह्मण और राजपूत हल और बैल से खेती चलाने लगे, उन्हें हल-बाह कहा जाने लगा। स्पष्ट है कि खेती बाड़ी का काम आरम्भ में ज़मीन खोदने से शुरु हुआ है। तब न हल थे न बैल थे, और यदि बैल थे भी तो उन से खेती का काम नहीं लिया जाता था, क्योंकि आरम्भ में काम तो जंगल काटने, पत्थरों और झाड़ियों को खोद कर ज़मीन साफ करने का ही था। पुराणों में भी वर्णन आया है कि सब से पहले राजा पृथू ने, जिस के नाम पर इस संसार को पृथ्वी कहा जाता है, इस सारी ज़मीन को खोद कर बराबर किया, और फिर इसे खेती बाड़ी और रहन सहन के योग्य बनाया। इस से भी सिद्ध होता है कि आरम्भ में खेती बाड़ी खोदने के कार्य से हुई है, और तब जिन लोगों ने इस पेशे को अपनाया उन्हें अवश्य ही खनैत कहा जाने लगा। हो सकता है कुछ लोगों ने बाद में अपने हाथ से ज़मीन न खोद कर दूसरों से काम करवाना आरम्भ किया हो और इस तरह समाज में कुछ लोग अपने आप को उच्च स्तर में रख कर शेष अधिकत: आवादी को ही खनैत कहने लग पड़े हों। कुछ भी हो, ज़मीन खोदने वाले

ये खनैत लोग, प्राचीन युग के वे परिश्रमी लोग थे, जिन्होंने हिमालय की ऊंचाइयों से ले कर सप्त सिन्धु की तराइयों तक के भू-खण्ड को न केवल आबाद किया बल्कि उसे हरा-भरा कर के सुन्दर, मनोहर और आजीविका के लिए उचित साधन बनाया तथा तभी सम्भवत: इस लोकोक्ति ने जन्म लिया कि '**उत्तम खेती मध्यम व्यापार, निखिद चाकरी भीख नदान**'। हिमालय की ऊंचाइयों से ले कर पंजाब और हरियाणा के मैदानों तक हरे-भरे लहलहाते हुए खेत प्राचीन युग के उन खनैत लोगों के परिश्रम, साहस और प्रयत्नों के परिणाम हैं। चूंकि आरम्भ में भाषा प्राकृत थी, इस लिए प्राकृत का शब्द **खनन और** उस से बना हुआ शब्द खनैत हिमालय की ऊँचाइयों में तो वैसे ही प्रचलित रहा, यद्यपि इस में थोड़ा सा परिवर्तन यह ज़रुर हुआ कि खनैत से कनैत शब्द आम प्रचलित हुआ और अब तक लोगों की याद में बाकी है। उपर्युक्त व्याख्या की रोशनी में शब्द कनैत निस्सन्देह कोई जाति नहीं बनती, बल्कि मनू के वर्णाश्रम धर्म के प्रभाव में आने से पहले, बहुत पहले, जब संस्कृति का पहला दौर आरम्भ हुआ, और जब मानव ने भूमि से अन्न उगा कर पेट पालना आरम्भ किया, उस समय की उस खोदने वाली श्रेणी को जिन्हें बाद में काश्तकार और ज़मींदार कहा गया या संस्कृत के शब्द कृषक से किसान कहा गया, कनैत नाम दिया गया था। यदि मज़दूर, काश्तकार, किसान, खेत-मज़दूर, लेबर (Labour) और मुज़ारा कोई जाति नहीं है तो अवश्य ही प्राचीनतम युग के ज़मीन खोदने वाले खनैत या कनैत लोगों की यह जाति नहीं हो सकती, बल्कि कनैत शब्द किसी धन्धे, पेशे या कारोबार से सम्बन्ध रखता है, भले ही किसी समय माल के कागज़ों में शब्द कनैत को जाति के खाने में दर्ज किया गया हो, और भले ही यह शब्द परम्परानुसार लोगों में एक बरादरी के रुप में अपना लिया गया हो। सच्चाई यह है कि शब्द कनैत की जो व्याख्या ऊपर की गई है, वही सामान्यता स्वीकार्य, उचित और स्पष्ट प्रतीत होती है।

ग्यारहवाँ अध्याय

दीप से दीप जले

कितनी लम्बी कहानी जातियों के उस कारवाँ की हम ने पाठकों को पेश की है, जिन की सभ्यता और सस्कृति का प्रभाव कुलूत और उस के आस पास के पहाड़ी क्षेत्रों पर पड़ा है। आर्य लोग मध्य एशिया से आए हों या डेन्यूब की वादी से। वे उत्तरी टुण्डरा के मैदानों से उतरे हों या तिब्बत से। कश्यप ऋषि के नाम पर चाहे काश्मीर का नाम चला हो या कैस्पियन सागर का। भले ही अफगानिस्तान को आर्याना कहा जाता हो और ईरान का बादशाह आर्या मिहिर[1] कहलाता हो। जर्मन के लोग अपने आप को आर्यन नसल से सम्बन्धित बताते हों और पारस के प्राचीन लोग अग्नि की पूजा करने वाले रहे हों। इस वास्तविकता पर संसार भर के विद्वान, अनुसंधान-करता और इतिहासकार इस बात पर पूर्णतः सहमत हैं कि जब भी आर्य लोग विभिन्न भागों में फैले हैं, तब वे हिमालय की घाटियों और वादियों में भी उतने ही प्राचीन समय से ले कर आबाद रहे हैं। **प्रोफैसर राइस डेविडज़** (Rhyes Davids) के शब्दों में **"हिमालय का काश्मीर और उस से पूर्व का क्षेत्र वह भू-भाग है जहां आर्यों ने सब से पहले घर बसाया था।"** इस बात की पुष्टि **प्रोफैसर मैक्समूलर, मिस्टर रेगेजिन, श्री मजुमदार, श्री अविनाश चन्द्र दास, श्री के०एम० पानीकर, मिस्टर हावल** और कितने ही अन्य विद्वानों ने की है। कहानी की कितनी ही पिछली कड़ियों में बार बार उन ऐतिहासिक घटनाओं का वर्णन आया है. और उन के विभिन्न पहलुओं पर विभिन्न दृष्टिकोणों से प्रकाश डाला गया है। पाठक क्षमा करें कई जगह हमें परिस्थितियों की विवशता के कारण घटनाओं को दोहराना भी पड़ा है। परन्तु यह सब केवल इस सच्चाई को अधिक से अधिक सामने लाने के लिए है जिस की पृष्ठभूमि में हमारी परम्पराओं और हमारे विश्वासों की वह ऐतिहासिक डोर है जिस का एक सिरा ऋग्वेदिक काल से और दूसरा वर्तमान युग से जुड़ा हुआ है. और यही सच्चाई हम पाठकों के सामने पेश कर रहे हैं कि ऋग्वैदिक आर्यों की सस्कृति और आर्य सभ्यता की झलक अपने सीमित रुप में और न्यूनाधिक परिस्थितियों में यदि कहीं प्रचलित रही है तो वह

---

1. **सूर्य**

यही भू-खण्ड है, जिस में काश्मीर, हिमाचल प्रदेश तथा उत्तर प्रदेश और नेपाल आसाम तक के पहाड़ी इलाके शामिल हैं। परन्तु कहानी तो हम कुलूत देश की लिख रहे हैं, इस लिए सभी परम्पराओं, अनुश्रुतियों, दृष्टिकोणों और बिश्वासों का केन्द्र विशेषतः कुलूत देश और साधारणतः हिमाचल प्रदेश रहेगा। इस केन्द्र के आधार पर भी सामान्य परिस्थितियाँ वही हैं जो कुलूत और हिमाचल प्रदेश में हैं। हिमालय की इन्हीं घाटियों और वादियों में आदि भृगु ने पहली बार अग्नि देवता को साक्षात रुप में आकाश से पृथ्वी पर उतारा। यहीं मनु से मानव का जन्म हुआ और मानव सृष्टि चारों ओर फैली। सप्त ऋषियों ने इसी हिमालय के दामन में तप किया। इन्हीं वादियों से सप्त सिन्धु की अनेक नदियों ने जन्म लिया। सत्युग के अन्त में पैदा हुए ऋषि जमदग्नि, उन के लड़के श्री परशु राम और माँ रेणुका के वर्णनों से यह दामन भरा पड़ा है। महा मुनि वसिष्ठ को पूर्ण आत्मशान्ति यहीं प्राप्त हुई। महर्षि श्रृंगी का सीधा सम्बन्ध इसी कुलूत देश से है, जिन के कारण भगवान राम का जन्म राजा दशरथ के घर हुआ। यदि श्रृंगी न होते तो सम्भवतः राम भी पैदा न होते, और तब रामायण के लिखे जाने का प्रश्न ही पैदा न होता। पाण्डवों का न केवल जन्म हिमालय में हुआ है, बल्कि जीवन में कितनी यात्राएं उन्हों ने हिमालय की कीं और अंत में हिमाचल की ही तपोभूमि में आ कर अपने प्राण त्याग दिए। इसी लिए तो हम कहते हैं कि आर्य संस्कृति की जो छाप आरम्भ से ले कर इधर पड़ी है वह इतनी कमज़ोर नहीं जिसे इतिहास के बगूले उड़ा ले जा सकें, और जिसे युग के थपेड़े मिटा सकें। आर्य सभ्यता और आर्य संस्कृति का रंग लाखों वर्ष बीत जाने पर भी यहाँ मिट नहीं सका है, भले ही कुछ फीका पड़ गया हो। यूं तो चारों वेद आर्य संस्कृति के प्रतीक आदि स्रोत हैं, परन्तु इन में भी विशेषतः ऋग्वेद को ही प्राचीन संस्कृति का आधार माना जाता है। ऋग्वेद की ऋचाओं से ही आर्य लोगों के मौलिक दृष्टिकोणों और आध्यात्मिक विचारधारओं का पता चलता है। और जब उन्हीं को सामने रख कर हम इस पहाड़ी प्रदेश के लोगों की परम्पराओं, सामाजिक जीवन और धार्मिक विचारों का अध्ययन करते हैं तो हम मंज़िल पर पहुंच जाते हैं। हमें ऋग्वेदिक काल का एक स्वप्न सा दिखाई देने लगता है और अनुभव होने लगता है कि इस प्रदेश के लोगों ने कितने परिश्रम और प्रेम से इन विचारों और विश्वासों को युग युग से अपने अन्तः करण की गहराइयों में सुरक्षित रखा है। ऐसा प्रतीत होता है कि लाखों वर्ष पहले आर्य

संस्कृति का जो एक महान् दीप जला था और फिर छोटे छोटे लाखों दीप उस से प्रज्वलित हुए थे उन्होंने और अधिक लाखों दीप आगे जलाए। दीप से दीप जलते गए। हज़ारों लाखों वर्ष बीत गए और हैरानी है कि अब तक उन दीपों से प्रकाश प्राप्त किए हुए और दीप आज तक टिमटिमा रहे हैं। इन की झिलमिलाती रोशनी आज भी उस महान आदि दीप का प्रकाश दिखाने की कोशिश कर रही है।

ऋग्वैदिक मानव के सामने जीवन के दो पहलु बिलकुल स्पष्ट थे। शारीरिक तौर पर उस ने सैंकड़ों हज़ारों वर्ष तक जीवन के इस पहलु को संवारने और सुन्दर बनाने के लिए कठिनाइयों का सामना किया था। साहस, उत्साह और वीरता से वह जीवन भी व्यतीत करता था और शत्रुओं से लड़ता भी था। उस ने नई परम्पराओं को जन्म दिया। अपने कबीलों और वंशों को कुछ विशेष रीति रिवाजों में ढाला। उस का रहन सहन और भोजन आदि अपनी विशेष परिस्थितियों के अनुसार था। एकाकी सदस्य से वह कबीला शाही में दाखिल हुआ, और फिर उस ने वंश परम्परा और गोत्र की नींव डाली। उस से आगे चला तो उस ने गणतन्त्र को जन्म दिया। सुख दुःख, जीवन मृत्यु के सम्बन्ध में कुछ तथ्य खोज निकाले। जन और समाज हेतु कुछ असूल स्थापित किए और कुछ दृष्टिकोण अपनाए। खेत खलयान, हल बैल, पशुपालन की ओर भी उस ने ध्यान दिया। वह जीवन को मनोरंजक बनाने के लिए खाने पीने नाचने गाने में भी पूरी पूरी रुचि लेने लगा। धार्मिक और आध्यात्मिक विश्वासों के सम्बन्ध में भी उस का अपना मनन चिन्तन रहा। प्रकृति की शक्तियों को समझने के उस ने प्रयत्न किए। उन से सहायता भी लेता था, और उन से डरता भी रहता था, अतः उन्हें प्रसन्न करने के लिए जो भी वह उचित समझता था, करता था। इन्हीं आर्य लोगों के बारे में मिस्टर ई० वी० हावल (E. V. Hawal) अपनी पुस्तक "History of Aryan Rule in India." के पृष्ठ ५ पर लिखता है—

"They represent the culture of a race of wariors, poets and philosophers who despised the art of agri-culture and lived on agriculture with one hand on the sword and the other on the plough."

अर्थात् **"आर्य लोग एक ऐसी जाति का प्रतिनिधित्व करते थे जिन में सैनिक कवि भी थे और दार्शनिक भी, जिन्होंने कृषि कला को उन्नति दी और जो कृषि पर ही गुज़ारा करते थे। उन का एक हाथ तलवार पर रहता था और दूसरा हल पर।"**

आइये अब हम देखें कि प्राचीन आर्यों की परम्पराओं और विश्वासों की कितनी एक झलक आज के नाम-लेवाओं में बाकी है, और यह पहाड़ी प्रदेश किस हद तक अब भी उनसे प्रभावित है एवं किन सीमाओं तक उस सम्पदा को सम्भाले हुए है।

प्रो० रेगोजिन (Prof : Ragozin). अपनी पुस्तक "वेदिक इण्डिया" (Vedic India) के पृष्ठ ५७ पर लिखते हैं :—

"Where history throws down the webb, philosophy takes it up and places in our hands the threads which connects us with that immeasurable part....the threads are our languages."

अर्थात् **"जहां इतिहास धुँधला हो जाता है वहां दर्शन उसका स्थान लेता है और ऐसे तार हमारे हाथों में थमा देता है जो हमें अपने प्राचीन, अतीत से मिला देता है। ये धागे हैं हमारी बोलियां-हमारी भाषाएं।"**

अत: हम भी इस तार से अपने वर्तमान को अतीत से मिलाने का प्रयत्न करते हैं। बोली या भाषा शब्दों का समूह है। इन शब्दों द्वारा मनुष्य अपने विचारों और अपनी भावनाओं की अभिव्यक्ति करता है, और इन्हीं के द्वारा अपने मन की बात दूसरे मनुष्य को समझाता है। इस लिए शब्द विचार का दर्पण है। एक विचार का चित्र शब्दों के ज़रिये दूसरे मनुष्य पर डाला जा सकता है, अपनी भावनाओं को दूसरों पर प्रकट किया जाता है। इसलिए एक-एक शब्द विचार और भावना का चित्र होता है। परिणाम स्वरूप कई शब्द ऐसे हैं जो आधार और अर्थ के अनुसार तब भी ऐसे ही थे और आज भी वैसे ही हैं, और कुछेक के आधार पर उनके भावों की गुप्त कहानी का पता चलता है। विभिन्न समय में चाहे उनके अर्थ बदलते रहे हों परन्तु वे अपने मूलाधार के इर्द-गिर्द ही

घूमते रहे और दूर नहीं जा सके। उदाहरणार्थ संस्कृत का मूल शब्द **'आर्'** लीजिए, जिस का साधारण और असल अर्थ 'हल' है। जैसा कि हमने पहले उल्लेख किया है, आर्य शब्द पहले पहल खेती बाड़ी करने वालों के लिए प्रयुक्त होता था, तो इसका यही कारण था कि 'आर्' का अर्थ हल था। इस लिए जिन लोगों ने खेती बाड़ी को अपनाया उन्हें इस **'आर्' शब्द के आधार पर आर्य** कहा गया। इसी आर शब्द से लातीनी, इतालवी, रूसी, यूनानी, बोहीमियन और अंग्रेजी-जर्मनी भाषा के कई शब्द निर्मित हुए हैं, जिन का अर्थ हल, हल चलाना, ज़मीन, हल चलाने के योग्य भूमि और हल चलाई हुई भूमि के इर्द-गिर्द घूमता है, और यह विचित्र संयोग है कि कुल्लूई भाषा में यही शब्द 'आर्' उस बारीक लाठी के लिए प्रयुक्त होता है जिससे हल चुकाने वाले बैलों को हांका जाता है। यह विशेष प्रकार की लकड़ी होती है जिसके आगे का सिरा तेज और चुभने वाला बनाया जाता है। एक और शब्द **'आर्न'** है जो उस जगह के लिए प्रयुक्त होता है जहां धान लगाने की भूमि में कूल्ह का पानी सबसे पहले आता है। यह जमीन का छोटा सा टुकड़ा होता है जहां कूल्ह की रेत आदि पहले आ कर जमा होती है, और जहां से फिर धान की जमीनों में पानी आगे जाता है। इस शब्द का सम्बन्ध जहां स्वयं भूमि से है वहां अंग्रेजी में **अरेना** (Arena) एक ऐसे परिसर को कहते हैं, जहां पशु बांधे जाते हैं, या जहां बैलों की लड़ाइयां होती हैं। बाद में इसी शब्द आर्य का अर्थ विजेता हुआ और फिर इसकी महानता और विशेषता इतनी बढ़ी कि बड़े बड़े राजा और महाराजा को भी आर्य कहा जाने लगा। यहां तक कि आज ईरान के बादशाह ने अपने लिए **आर्य मिहर*** की पद्वी स्वयं ग्रहण की है, और पश्चिम की कई जातियाँ गर्व से यह कहने लगी हैं कि उनके बाप-दादा आर्य थे। हमारे यहां शब्द आर्य के आधार **'आर्'** से उपर्युत दो शब्दों का प्रचलित रहना इस बात को सिद्ध करता है कि जब **'आर्'** का अर्थ हल था उस समय से ले कर अब तक यह शब्द खेती बाड़ी या बैल से सम्बन्धित किसी न किसी रूप में हमारे यहाँ अब तक मौजूद है।

भाषा का शब्दार्थ आज तक बोली (language) लिया जाता है। कुल्लुई में इस से विभिन्न अर्थ वाले विभिन्न शब्द बने हैं—उदाहरणार्थ गाए, बैल, भेड़, बकरियों की आवाज को प्रायः **बाशणा** कहते हैं। ऋग्वेद में **वाशी** शब्द ही बोलने के लिए प्रयुक्त हुआ है। यहाँ तक कि जलती

* आर्यों का सूर्य

हुई लकड़ी की जलती ज्वाला की तेज सरसराहट को भी **'भौषणा'** कहते हैं। मनुष्य की ऐसी ध्वनि को भी जो मुंह के अन्दर बोली जाए और बाहर न सुनाई दे **'भौषणा'** कहते हैं। इसी तरह एक और शब्द है **'भाख'** (भाष) जिस का अर्थ है गाने के स्वर। देवताओं के लिए किसी वस्तु की भेंट करने के विचार को **'भाषणा'** या **भाठ** कहते हैं। दवता अपने गुर द्वारा जो शब्द कहता है उसे **'वाक'** कहते हैं। देहरादून के पहाड़ी इलाके में गुर को **'वाकी'** कहा जाता है अर्थात् वाक देने वाला। ये दोनों शब्द वाक और वाकी ऋग्वेद के शब्द 'वाच' से निकले हैं, जिस का अर्थ प्रायः आवाज या शब्द के हैं। ऋग्वेद में एक शब्द **'द्याउस'** आता है, जिस का अर्थ प्रायः 'दिन' होता है। दिनके देवता को भी **'द्याउस'** कहा गया है। कुल्लुई भाषा में **'दिउसी'** ठीक इसी अर्थ में प्रयुक्त होता है। ऋग्वेदिक काल में उत्तर में रहने वालों को **'उदिच्य'** कहा जाता था। यही शब्द थोड़े से उच्चारण भेद से कुल्लू के उत्तर में व्यास की ऊपर की वादी को आज भी **'उझी'** कहा जाता है। इसी तरह **'वाल्हीक'** शब्द से बिगड़ कर **'बाल्ह'** बना है, जिस का अर्थ तराई की जगह, और उसके रहने वालों को **बाल्हड़े** कहा जाता है। जहां ऋग्वैदिक आर्यों के लिबास का वर्णन आता है वहां उस कपड़े को जो दायें हाथ के नीचे से बायें हाथ के ऊपर कन्धे पर डाला जाता है उसे **'वास'** कहा जाता है, जबकि कुल्लू की स्त्रियाँ शरीर को कपड़े से लपेटने के बाद कन्धे पर ला कर निचले भाग से टांकती हैं, उसे **बास** कहा जाता है, और इसी तरह पट्टू के किनारों पर निकली हुई झालरों को जिन्हें कुल्लुई में **'दौशी'** कहते हैं, ऋग्वेद में उन्हें **'दशा'** कहा गया है। कुल्लुई भाषा में माता को **याजी** कहा जाता है। यह शब्द ऋग्वेद के शब्द **यज्ञ** से बना है, जिससे फिर **याज्ञी** शब्द बनता है। याज्ञी उसे कहा जा सकता है जो उस यज्ञ की पृष्टभूमि मानी गई है, जहां से संतान पैदा होती है। **यज्ञ-शाला** को अब भी कुल्लुई में **जगशाल** कहते हैं। **आदित्य** या **अदिति** जिनका अर्थ सूर्य और प्रातः काल ही होता है. के आधार पर कुल्लुई में **दोती** या **दोत** कहा जाता है, जिस का अर्थ प्रातः काल ही होता है। ऋग्वेद में एक शब्द **चरू** आता है जिसका अर्थ प्रायः पकाया हुआ अन्न होता है। कुल्लुई भाषा में **चरूआ** उस पके हुए अन्न को कहते हैं जो देवता के मन्दिर में पकता है और प्रसाद के रूप में मन्दिर में आऐ हुए लोगों को खिलाया जाता है। ऋग्वेद में **मूशना** शब्द चुराने के लिए आया है, कुल्लुई में भी **मुशणा** ही कहते हैं। **भूमि को भूईं, ऊर्ण को ऊन,** क्षय को **छय, क्षेत्र को छेत, शृंगी को शिंगी, कूल्य को कूल्ह, शिला को शिल्ह,**

सुरा को सूर, पाश को पाशी, स्तूप को थूप, शरण को शौरण, शीघ्र को शीगरे या शीगरा, धाना को धाणा, शूर्प को शूप कहा जाता है । इसी सम्बन्ध में अन्य शब्दों की विस्तार सूची पुस्तक के अन्त में देखी जा सकती है, जिस में असंख्य शब्द ऐसे हैं जो ऋग्वेद के शब्दों में मामूली अन्तर से कुल्लुई भाषा में ज्यूं के त्युं आज तक बोले जाते हैं।*

उपर्युक्त शब्द यह सिद्ध करने के लिए काफी हैं कि लाखों वर्ष गुज़र जाने के बावजूद और हज़ारों क्रान्तियों से दो-चार होने के बाद भी कुल्लूई भाषा का सम्बन्ध और सम्पर्क ऋग्वैदिक भाषा से विद्यमान है, यद्यपि हम समझते हैं कि पहाड़ों की सभी बोलियाँ और भाषाएं बाहर के आक्रमणों से न्यूनाधिक प्रभावित हुई हैं। हो सकता है कि जो भाषा आज हम बोलते हैं और उस में जितने नये शब्द हम प्रयोग करते हैं, वे दो सौ वर्ष पहले नहीं होंगे, और तब कितने ही ऐसे शब्द कुल्लुई में होंगे जो ऋग्वैदिक संस्कृत से मिलते जुलते होंगे। वर्तमान विद्यार्थियों के लिए तो उपर्युक्त सूची में भी कई पुराने कुल्लुई शब्द ऐसे मिलेंगे जो उन्होंने कभी सुने नहीं और प्रयोग में नहीं लाए। बहरहाल हमें संतोष है कि इतने शब्दों का हमारी भाषा में होना कम गर्व की बात नहीं है। अब हम अनुश्रुतियों की रोशनी में कुछ और छान बीन का प्रयत्न करते हैं। बोली भाषा के बाद भोजन और वस्त्र ऐसी ज़रूरी वस्तुएं हैं जिन के लिए मनुष्य जन्म से ही निर्भर रहता है। ऋग्वैदिक आर्य जौ अधिक प्रयोग में लाते थे, जिसे वे सत्तू बना कर खाते होंगे, क्योंकि जौ और सत्तु का वर्णन बार बार आया है। दूध, दही, मक्खन के खाने का भी रिवाज था। कुछ कहा नहीं जा सकता कि कौन से और अनाज उस समय होते होंगे। तीस वर्ष पहले तक तो हम ने भी देखा है कि लाहुल स्पिति और कुल्लू में जौ को विषेश महत्व प्राप्त था। जौ ही इन पहाड़ी क्षेत्रों की वास्तविक उपज थी। जौ और कोदा ही विषेश रुप से खाद्यान्न माने जाते थे और आम तौर पर प्रयोग में लाए जाते थे। जौ के सत्तू लोगों के आम भोजन का अंग थे। हवन यज्ञ में तो आज भी जौ हीं जरुरी सामग्री में सर्वप्रथम होता है। घरों में शुद्धि के लिए शुद्ध घी के साथ केवल जौ जलाना काफी समझा जाता है। जौ के आटे से ही जड़ी बूटियाँ मिला कर ढेली तैयार की जाती है जिस से सुरा तैयार होता है। इस से सिद्ध होता है कि ऋग्वैदिक काल से जौ को जो महत्व प्राप्त था, वह महत्व पहाड़ी इलाकों

---

*परिशिष्ट पृष्ट

में पच्चास सौ वर्ष पहले तक बना हुआ था और कई परिस्थितियों में अब तक भी बना हुआ है। ऋग्वेद में रोटी को अपूप लिखा गया है। कुल्लुई भाषा में रोटी को पापा भी कहा जाता है। यद्यपि यह शब्द अब केवल बच्चों को रोटी का अर्थ समझाने के लिए प्रयोग किया जाता है, तो भी माना जाना चाहिए कि शब्द पापा निस्सन्देह अपूप शब्द से ही बिगड़ कर बना है। सलयारा और कोदा या कोदरा भी प्राचीन समय के अन्न में शामिल थे। ऋग्वेद में इन का वर्णन होते हुए भी सम्भवतः हम समझ न सके हों परन्तु जिन परिस्थितियों में उन का प्रयोग बहुत पुराने समय से पहाड़ों में रहा है, उस से पता चलता है कि ये लोगों के प्रतिदिन के भोजन में शामिल थे। जो विशेषताएं इन दोनों अनाजों में पाई जाती हैं उन को दृष्टि में रखते हुए यह विश्वास करना पड़ता है कि ये अनाज प्रकृति ने ऐसी परिस्थितियों में पैदा किए होंगे जब इन्हें पच्चासों वर्षों तक सुरक्षित रखने की आवश्यकता होगी। कहते हैं कि ये दोनों अनाज सौ वर्ष तक रखे रखे खराब नहीं होते और इन में कीड़ा नहीं लगता। कोदरे में लोहे का अंश काफी मात्रा में पाया जाता है, इस लिए जहां यह देर से हज़म होता है, वहां शक्ति दायक भी बहुत है। सरयारा या सल्यारा वह अनाज है जिसे आज लोग व्रतों के अवसर पर प्रयोग में लाते हैं। इस के पकवान बना कर भगवान को भोग लगाते हैं। इस से पता चलता है कि जहाँ इस में सौ वर्ष तक खराब न होने की विशेषता है वहाँ इस में और भी खूबियाँ होंगी। यही बात इस सम्बन्ध में महत्वपूर्ण है कि जिस अनाज में अपने आप को सौ वर्षों तक ठीक हालत में रखने की शक्ति है, उस के नियमतः प्रयोग से मनुष्य अपने आप को हमेशा ठीक अवस्था में रखने के क्यों योग्य न होगा। बल्कि यूं कहना चाहिए कि इसे अनाज न समझ कर फलाहार समझा गया है, और इसी लिए यह व्रतों में प्रयोग में लाया जाता है। चूंकि सल्यारे को कीड़ा नहीं लगता, इस लिए इस के खाने वालों को पेट के कृमि रोग भी नहीं हो सकते। पेट और आँतों में कृमि और वर्म उस भोजन सेपैदा होते हैं जिन का कुछ भाग आँतों में लिपट जाता हैं और आंतों में उस की तह जमनी आरम्भ हो जाती है। सल्यारा चूंकि लेसदार है और इसे पकाने के लिए बारीक पीसने की अवश्यक्ता नहीं होती इस लिए उस का कोई भी भाग आंत या छोटी अंतड़ियों की दीवारों से लिपट नहीं सकता, और यदि कुछ लिपट भी जाए तो उस की अपनी विशेषता के कारण उस में कृमि या वर्म पैदा नहीं हो सकते। वैसे भी लेसदार होने के कारण यह कब्ज़-कुशा है, इस लिए आँतों में ठहरता नहीं। जब तक पहाड़ों के

लोग आम भोजन के रुप में इस का प्रयोग करते रहे, पेट की बीमारियाँ विशेषत: कृमि या वर्म का कभी नाम नहीं सुना गया, और जब से इसे छोड़ कर चावल और दूसरे अनाज खाने पहाड़ी लोगों ने आरम्भ किये, हर बच्चा, बूढ़ा, पुरुष और स्त्री पेट की बीमारियों का शिकार हो रहा है। इस अच्छे भले अनाज को पहाड़ के लोगों ने केवल अनभिज्ञता और बाहर से आए हुए कुछ तथाकथित सुसभ्यलोगों की नफरत के कारण छोड़ दिया है, अन्यथा आर्यवर्त का हर ऋषि और हिमालय का रहने वाला हर मनुष्य प्रति दिन इस का प्रयोग किसी न किसी रुप में करता था। चूंकि यह केवल पहाड़ों की उपज है, इस लिए यूं लगता है कि पहाड़ों से उतर कर आर्य ऋषि जब मैदानों की ओर जाते थे, तो इस की थोड़ी बहुत मात्रा जो उठाई जा सकती थी, वे उसे साथ ले जाते थे और उस को केवल ब्रतादि के विशेष दिनों में प्रयोग में लाते थे। इसी लिए मैदान के लोगों ने इसे इतना पवित्र और सम्भवत: सहज से हज़म होने वाला समझा कि इस को केवल ब्रतों में प्रयुक्त किया जाने लगा। आर्य ऋषियों के भोजन का सल्यारा एक मुख्य भाग था, जो अब तक हमारे पहाडों में पैदा किया जाता है, और थोड़ा बहुत प्रयोग भी किया जाता है, हालांकि बीस तीस वर्ष पहले कुल्लू के देहातों में लग-भग हर घर में बनाया जाता था जिसे **फेम्बड़ा** कहते हैं। कुछ बाहर के लोगों ने सरयारा इस्तेमाल करने वाले लोगों को **फेम्बड़मार** कह कर इसे घृणित साबित करने का कुप्रयत्न किया और उन के आत्म सम्मान को ठेस पहुंचाने की कोशिश की। सरयारे के महत्व को भी इस से नुकसान पहुंचा है और तभी से लोगों ने सल्यारा और इस के बने पर्दार्थ फेम्बड़े को एक तुच्छ भोजन समझना आरम्भ किया। यही हमारा दुर्भाग्य है कि आर्य ऋषियों का यह भोजन जिस की बड़ी भारी महानता थी और जिस में कई विशेषताए थीं, उसे हम ने तुच्छ समझ कर छोड़ना आरम्भ किया, अन्यथा जौ, कोदरा, सरयारा तीनों अनाज अपनी अपनी जगह पर एक विशेष महत्व रखते हैं। जब तक इन पहाड़ों में सरयारा पैदा होता रहेगा, आर्य लोगों की सभ्यता न केवल याद रहेगी बल्कि धीरे धीरे इस के महत्व को समझ कर अपनी गलती का सुधार भी शायद आने वाले समय में हम कर पाएंगे। श्री राहुल साँकृत्यायन ने अपनी पुस्तक 'ऋग्वैदिक आर्य' में लिखा है कि ऋग्वैदिक काल में लोग माँस खाते थे। यहाँ तक कि घोड़े और बैलों के मांस पकाने तक का वर्णन उन्होंने किया है। पशु बलि का रिवाज आम था, और उसे काटने से पहले देवता को भेंट चढ़ाया जाता था। यह रिवाज कुल्लू और आस

पास के पहाड़ी इलाकों में कदाचित उसी रुप में आज तक चलता आ रहा है। लोग प्राय: माँस खाते हैं तथा साधारणतया और विशेषतया काटने से पहले उसे किसी न किसी देवता को भेंट चढ़ाया जाता है, जिसे **"पौची पाणा"** कहते हैं। कहीं कहीं तो ज़िन्दा भेड्डू का दिल निकाल कर देवता को चढ़ाया जाता है जो रिवाज कि तिब्बत के शमान धर्म से मिलता है। विवाह शादियों में बकरे काटे जाते हैं। आज से पच्चास वर्ष पहले तक तो किसी घर में मौत हो जाने के बाद की शुद्धि भी बकरा काटे बिना या मांस खाए बिना नहीं होती थी। बहुत लोग अब भी ऐसा करते हैं। देवता के नाम पर जो बकरे काटते हैं या बलि दी जाती है, उसमें गूर, कारदार, पुजारी तथा अन्य लोगों के लिए विशेष भाग देने की भी व्यवस्था होती है।

ऋग्वैदिक काल में नरमेध यज्ञ का भी वर्णन आता है। एक ऐसे ही नरमेध यज्ञ में ऋषि विश्वामित्र के शम्बर कन्या उग्रा के पेट से पैदा हुए लड़के शुन: शेप को भी बली के लिए पकड़े जाने का वर्णन आया है। ऐसा पता लगता है कि भगवान परशु राम ने औटर सिराज में निरमण्ड के स्थान पर नरमेध यज्ञ किया था, जो रसम हर बारह वर्ष के बाद अदा की जाती रही है। सम्भवत: पचास वर्ष पहले नरमण्ड में जो नरमेध यज्ञ हुआ जिसे भूण्डा कहा जाता है उस में अवश्य ही आदमी को उस रस्से पर चढ़ाया गया था, जो उस के लिए विशेष रुप से तैयार किया जाता था, और जो चोटी से ढलान की ओर को दो स्तम्भों के बीच बांधा जाता था। चोटी से ढलान की तरफ को जब यह आदमी रस्से पर बन्धा हुआ तेज़ी से फिसलता हुआ आता था तो नीचे आने तक प्राय: बलिदान हो जाता था। कुछ बच भी जाते थे, और जो बच जाता था उसे हर आदमी से मुँह मांगा इनाम मिलता था। जिस वस्तु को वह हाथ लगाता वह उसे देनी पड़ती थी। कहते हैं पच्चास वर्ष पहले जो आदमी इस बली वेदी पर चढ़ाया गया था वह बच गया था। इस से स्पष्ट है कि ऋग्वेदिक काल की यह परम्परा आज से पच्चास वर्ष तक तो बिलकुल उसी रुप में कुलूत में प्रचलित रही है। पहाड़ी इलाकों में यह रिवाज **"काहिके"** के नाम से बहुत जगह पर बराबर चला आता है, यद्यपि उन में मनुष्य की बजाए बीसियों बकरे और भेड्डू बली दिए जाते हैं। इन में शिरढ़ काहिका सब से ज्यादा प्रसिद्ध है, जो हर तीसरे वर्ष नियमितता से मनाया जाता है।

ऋग्वेदिक आर्यों का जहाँ माँस खाने का वर्णन आया है, वहाँ ऋग्वेद में सोम और सुरा का भी खूब उल्लेख मिलता है। आर्य लोग शत्रुओं का मुकाबला करने के लिए सोम और सुरा का प्रयोग करके लड़ाई में जाते थे। वे अपने देवता इन्द्र को सोम पान के लिए बुलाते थे। सोम के बनाने का तरीका और उस में प्रयोग होने वाले सामान का भी ऋग्वेद में वर्णन आया है। कुछ विद्वानों का मत है कि सोम रस वास्तव में सोम बूटी का रस है। कुछ दूसरे लोगों का कहना है कि सोम और सुरा एक ही चीज़ के दो नाम हैं। राहुल साँस्कृत्यायन का विचार है कि सोम भाँग को कहते हैं और आर्य लोग उसे ही घोट छान कर या उस में जड़ी बूटियां मिला कर पीते थे और उस नशे के जोश में शत्रुओं पर भी टूट पड़ते थे। खैर, सोम कुछ भी हो, यह नशे वाली चीज़ पीने की वस्तु ज़रुर थी जो लड़ने भिड़ने के लिए जोश दिलाती थी। परन्तु ज़हां तक सुरा का सम्बन्ध है यह तो सूर नाम से आज तक कुल्लू में बनती है, और खास खास अवसरों पर देवताओं को भी इस का भोग लगाया जाता है। यह भोग उन देवताओं को आज भी लगता है जिन का सम्बन्ध वैष्णव मत से नहीं है, और जो वैष्णवमत के यहां आने से पहले माने जाते थे। सूर बनाने के लिए जो बाइस जड़ी बूटियां इकट्ठी की जाती हैं, उन्हें लाने के लिए विशेष दिन नियत होता है। तब एक और नियत दिन में उन्हें कूट कर जौ के आटे में मिला कर एक मोटी सी रोटी तैयार की जाती है जिसे स्थानीय भाषा में 'ढेली' कहते हैं। एक विशेष मुहूर्त पर देवता के कुठार में कोदरे की रोटियों को एक बड़े घड़े में डाल कर और उस में पानी और ढेली मिला कर उस घड़े को बन्द कर दिया जाता है। यह सुरा घटक सरदियों में लग-भग इक्कीस दिन में और गरमियों में आठ दस दिन के बाद तैयार हो जाता है और तब एक विशेष दिन जो प्राय: बिरशु या फागली कहलाता है, देवता की रसम अदा होती है। अहारी और मुज़ारे इकठ्ठे होते हैं। देवते को तैयार की हुई इस सुरा का भोग लगाया जाता है और सब उपस्थित जन उस का प्रसाद लेते हैं। देवताओं की इन रसमों के अतिरिक्त भी कहीं-कहीं लोग प्रायः साधारणतया सूर का प्रयोग करते हैं, परन्तु अब इस की जगह चावल से तैयार की हुई चाकटी, लुगड़ी या शराब ने ले ली है। जहां तक सूर का सम्बन्ध है यह अवश्य ही ऋग्वैदिक काल की सूरा ही है, और जिस तरह प्राचीन समय से ले कर आज तक हमारी धार्मिक रसमों में यह शामिल रही है, इस से आर्य संस्कृति की पूरी

झलक आज भी इस पहाड़ी इलाके में नजर आती है। धौलागिरि के लोग जिन में छोटा और बड़ा भंगाल शामिल हैं, इसी तरह की सूर को धरुबली कहते हैं, और आज भी उस का आम प्रयोग करते हैं। देवी भागवत पुराण में जब भगवती चण्डी का वर्णन आता हैं, तो लिखा है कि महिशासुर को मारने से पहले उन्होंने सुरापान किया था। इस पौराणिक कथा में इस इशारे का यह भी अर्थ हो सकता है कि सुरापान करने से मनुष्य की सोई हुई शक्ति जागती है और वह किसी भी प्रकार की परिस्थितियों का मुकाबला करने और अपने उद्देश्य को प्राप्त करने के लिए तन्मयता से जुट जाता है। शक्ति के मन्दिरों में सुरा का भोग अब भी लगता है। ऋग्वेद की कई ऋचाओं में इन्द्र से यह प्रार्थना की गई है कि मैं सौ सदियां जीवित रहूं। इस से स्पष्ट है कि आर्य लोग आरम्भ में ऐसे पहाड़ों में रहते थे, जहां उन के लिए सरदी की ऋतु ही सब से अधिक महत्वपूर्ण थी। इस लिए स्वभाविक रुप से ऋग्वेद में आर्यों की ऊनी पोशाक का वर्णन आता है। वे पशुओं की खाल भी पहनते थे क्योंकि वे ठडे इलाकों में रहते थे और भेड़ बकरियां भी आम तौर पर पालते थे। इसलिए प्राय: सिर से पांव तक ऊनी कपड़े पहनते थे। ऊंची-ऊंची जगहों में रहने वाले लोग कुल्लू में, काशमीर से गढ़वाल आसाम तक प्राय: ऊनी कपड़े पहनते हैं। स्त्रीयां हर हालत में ऊनी पटटू पहनती हैं, और उन के पटटू पहनने का ढंग भी काफी मनोरंजक और ध्यान आकर्षक है। जब इन पहाड़ी इलाकों में सूती कपड़े को कोइ जानता भी न था तब पुरुष ऊनी टोपी और स्त्रीयां **गूघली** पहनते थे, जो ऊनी कपड़े से बनी टोपी की एक किसम होती थी। स्त्रियों में पाजामे का रिवाज नहीं था बल्कि पांऊं से ऊपर घुटने तक ऊनी पौंचे पहने जाते थे। टोपा, चोला, खूंटी, गाची, डोरा सभी ऊन के बने वस्त्र प्रयोग में लाए जाते थे। कुल्लू के लोगों के प्राचीन लिबास में काले रग का ऊनी टोपा और घुटनों तक कलीदार ऊनी चोला या खूंटी, चबगला विशेष वस्त्र थे। सरदियों में तंग सा ऊनी पाजामा पहन लेते थे। आदमी अपने हाथों से कातते थे, बुनते थे और अपने कपड़े स्वयं सीते थे। मैंने हंगरी, यूनान. ईरान के प्राचीन लोगों के लिबास के चित्र देखे हैं। उन के वस्त्रों को लग-भग इस लिबास से मिलते जुलते मैंने पाया, जिस का वर्णन मैंने ऊपर किया है, यही गोलाईदार.टोपी और घुटनों तक का चोला। डाक्टर एम०एस० रन्धावा ने अपनी पुस्तक **'फार्मरज़ आफ इण्डिया'** (Farmers of India) में दरदिस्तान के दरद लोगों का जो लिबास लिखा है, वह बिलकुल यही है, जो कुल्लू के प्राचीन लोगों का था। लाहुल

और स्पिति में भी लोग टोपा और चोला पहनते हैं, इसी किसम का चोला आज भी जम्मू में किश्तवाड़ के इलाके से ले कर महासू और सिरमौर तक के लोग इस्तेमाल करते हैं। यह लिबास भी निस्सन्देह प्राचीन आर्यों का लिबास था, जिसे हम लोगों ने आज तक सुरक्षित रखा है। यद्यपि कुल्लू और सिराज में अब यह लिबास शान के साथ केवल नाचने का लिबास रह गया है, परन्तु आर्य सभ्यता की एक झलक तो इस में भी बाकी है। मुझे याद है अभी चालीस पचास वर्ष पहले तक कुल्लू सिराज के भद्र पुरुष नम्बरदार तथा नेगी प्रायः चोला और टोपा पहनते थे। चोले के ऊपर ऊनी पट्टू भी टांका जाता था, जिसे **लाछू** कहते थे। ऋग्वेद में जहाँ स्त्रियों के वस्त्रों का वर्णन आया है वहां लिखा है कि स्त्रियां प्रायः बालों का स्तूप बनाया करती थीं और उसे फूलों से सजाती थीं। कुल्लू में आज भी ऐसी स्त्रियां मिलेंगी जो टोपी और गुघली पहनने की बजाए बालों का स्तूप (मीनार नुमा उभार) बना कर रखती हैं। आज से एक शताबदी पहले तो स्त्रियां प्रायः स्तूप ही बनाती थीं, और नाच मेलों में उसे फूलों से सजाती थीं। ऋग्वेद में आर्यों को फूलों का शौकीन बताया है। कुल्लू के लोगों का यह शौक सम्भवतः ऋग्वैदिक काल से ही चला आता है। किसी मेले में जाने का अवसर प्राप्त हो तो देखें स्त्रियां और पुरुष फूलों से सुसज्जित मिलेंगे—टोपी में फूल, गले में फूल, कानों में फूल, बालों में फूल। दुःख और चिन्ता से दूर जीवन के मनोरंजन का पूरा पूरा लाभ उठाते हैं। ये लोग ज़रुरत पड़े तो लड़ाई झगड़े और दंगे फसाद के लिए भी तय्यार, अन्यथा साधारणतया शान्ति और एकांत प्रिय, संसार की पेचीदगियों से बेखबर अपने काम धंधों में व्यस्त रहते हैं, ऋग्वेदिक आर्यों की प्राचीनतम संस्कृति के प्रतीक ये पहाड़ी लोग।

कुल्लू के लोग जहाँ फूलों के शौकीन हैं वहाँ नाचने गाने में भी प्राचीन आर्यों की भाँती खूब रुचि रखते हैं। ऋग्वेद में लिखा है कि मेलों में मर्द नाचते हैं और स्त्रियां मुग्ध हो कर नाच देखती हैं। बहुत जगह अब भी स्त्री और पुरुष इकट्ठे नाचते हैं। जैसा कि ऊपर वर्णन आया है, ऋग्वैदिक काल में मर्द का एक हाथ तलवार पर होता था और दूसरा हल पर। इस से भी अधिक मनोरंजक बात यह है कि कुल्लू के पचास वर्षीय पुराने नाच में ढाल नाचने वालों की पीठ पर थी और तलवार हाथ में। वह नाचता भी था और अपने हथियारों से लेस हर प्रकार की परिस्थिति का मुकाबला करने के लिए भी तय्यार रहता था। उन में यह

आदत और ऐसे रिवाज उस समय से प्रचलित होंगे जब ऋग्वेदिक काल में आर्य लोग दस्यु लोगों के साथ टकराव के लिए हर समय तैयार रहते थे। कुल्लू का नाच जिसे प्राय: नाटी कहते हैं, आर्यों का वह प्राचीन नाच है जो हिमालय के दामन में आगे बढ़ता हुआ आसाम, मनीपुर में जा कर न केवल पूरे निखार पर आया बल्कि उस का प्रखरित रुप **मनीपुरी** नृत्य के नाम से संसार में प्रसिद्ध हुआ। वर्तमान परिस्थितियों में भी कुल्लू का नाच जिस में स्वर और ताल का पूरा पूरा समन्वय है, भारत नाट्यम पद्धति के अनुसार आरम्भ में धीरे धीरे और फिर क्रमश: तेज़ लय में बढ़ता जाता है। कुल्लू की ढीली नाटी ही वास्तव में नाच का सर्वोत्तम नमूना माना जाता है। प्रात: से सायं तक और सायं से प्रात: तक कई कई घंटे तक नाच का जारी रहना एक साधारण बात होती है। जम्मू में भद्रवाह की अंदरुनी घाटियों में जो भंगड़ा नाच होता है, वह भी धीमी चाल और लय का अत्यत मनोरंजक प्राचीन आर्यों का नाच है, जो आज पंजाबी भगड़े से निताँत भिन्न है। नाच और गाने की विशेषता केवल कुल्लू में ही नहीं, बल्कि सारे हिमाचल के ऊपर के क्षेत्रों में जौनसार बराबर तक बहुत सी समानता लिए हुए है। ये सब नाच, ये गीत, ये लामण, झूरी और भौंरु हमें वेदिक काल के कलात्मक जीवन से विरसे में मिले हैं, और हम ने उन्हें आज तक सुरक्षित रखा है।

प्राचीन आर्यों के सामाजिक प्रबन्ध के बारे में भी ऋग्वेद मौन नहीं है। गाँव का प्रबन्ध करने के लिए गाँव की सभा होती थी जिसे **विश:** कहा जाता था, और जो उस का मुखिया होता था उसे कहा जाता था **विश:इष्ट**। यह सभा गाँव के सामाजिक प्रबन्ध के सम्बन्ध में हर बात को सोचती थी और करती थी। इसी से अन्तत: पंचायती शासन की बुनियाद पड़ी। वर्तमान पंचायती राज से पहले भी हमारे देहातों में पचायती प्रशासन स्थापित था। गाँव की हर भलाई और सुधार के लिए पंचायतें प्रबन्ध करती थी। पंचायती बरतन और सामान होते थे, जो शादी गमी में प्रयोग में लाए जाते थे। गाँव के फैसले जिन्हें गांव के सियाने इकट्ठे हो कर निष्पादित करते थे, और जिन्हें हर आदमी शिरोधार्य करता था, गणतंत्र के सुंदर आदर्श थे। यद्यपि अब उन की जगह सरकारी पंचायतों ने ले ली है, परन्तु अब भी कहीं-कहीं सरकारी पंचायतों के साथ पुरानी किसम की पंचायते चल रही हैं, और गाँव के काम-धन्धों को बड़ी सफलता से चलाती हैं। ऋग्वेदिक काल की **विश:**

अर्थात् सभा और उस के मुखिया **विश:इष्ट** की एक यादगार अभी कुछ वंश बाकी हैं, जिन्हें लोक-भाषा में बिष्ट कहा जाता है। शब्द बिष्ट **विश:इष्ट** का संक्षिप्त रुप है। राजाओं के शासन तक **बिष्ट** वंश के कई लोग अच्छी पदवियों पर नियुक्त रहे हैं। ये वंश मेरे विचार के अनुसार इन पहाड़ी इलाकों में हैं जिस से हम दावा कर सकते हैं कि ऋग्वेदिक काल के **विश:इष्ट** की एक यादगार हमारे हां अब भी बाकी है, जिस से सिद्ध होता है कि ऋग्वैदिक काल की संस्कृति किसी न किसी रुप में यहाँ अब भी प्रचलित है।

गणतन्त्र का प्राचीनतम एक विशिष्ट उदाहरण जो सम्भवत: भारत वर्ष में तो क्या संसार भर में कहीं नहीं होगा, इसी कुलूत देश के **मलाणा** गांव में आज भी प्रचलित है, जिसे देखने और समझने के लिए अमेरिका और इंगलैंड से शोध कर्ता आए हैं। और जिन्होंने इस पर अपने-२ विचार प्रकट किए हैं।

हमें मालूम नहीं कि उन्होंने इस के सम्बन्ध में अपने क्या विचार प्रकट किए है, क्योंकि उनकी लिखी हुई थीसिज़ (Thesis) भारत में सम्भवत: छपी नहीं, परन्तु हमें इस बात का गर्व है कि महर्षि जमदग्नि का गणत्तन्त्र जो ऋग्वेदिक काल के ऋषि माने गऐ हैं, आज तक बिलकुल उसी रूप में स्थापित और प्रचलित चला आ रहा है। यद्यपि ऋग्वेद में और भी बेशुमार गणतंत्रों का वर्णन आया है, जिन्हें जन पद कहा जाता था। और जिन का वर्णन पिछले किसी अध्याय मैं हमने दाश राज्ञ के सम्बन्ध में किया है। परन्तु वे तो सब मिट गए। उनमें से पख्त जनपद की यादगार वह पख्तून हैं जो खान-अब्दुल-गफार-खाँ के नेतृत्व में आज भी आजादी के संघर्ष में लगे हुए हैं। **मलाणा** जनपद तो सम्भवत: इसलिए सुरक्षित रह पाया है, क्योंकि यह गाँव हिमालय की ऐसी घाटियों में आबाद है, जहाँ पहुंचना आसान नहीं। इस अकेले गाँव की भाषा जिसे **कणाशी** कहते हैं, इतनी भिन्न है कि संसार की किसी भाषा से इसका मेल मालूम नहीं होता, यद्यपि कोई कोई शब्द इसमें तिब्बती, बुशहरी और मुण्डा भाषा के जान पड़ते हैं। शायद उंगलियों पर गिने जाने वाले प्राकृत के भी हों, और एक दो शब्द अंग्रेजी से भी मिलते जुलते हों, पर इसके अतिरिक्त इस भाषा का रंग रूप अपना ही है जिसे कोई दूसरा समझ नहीं सकता। कुल्लू
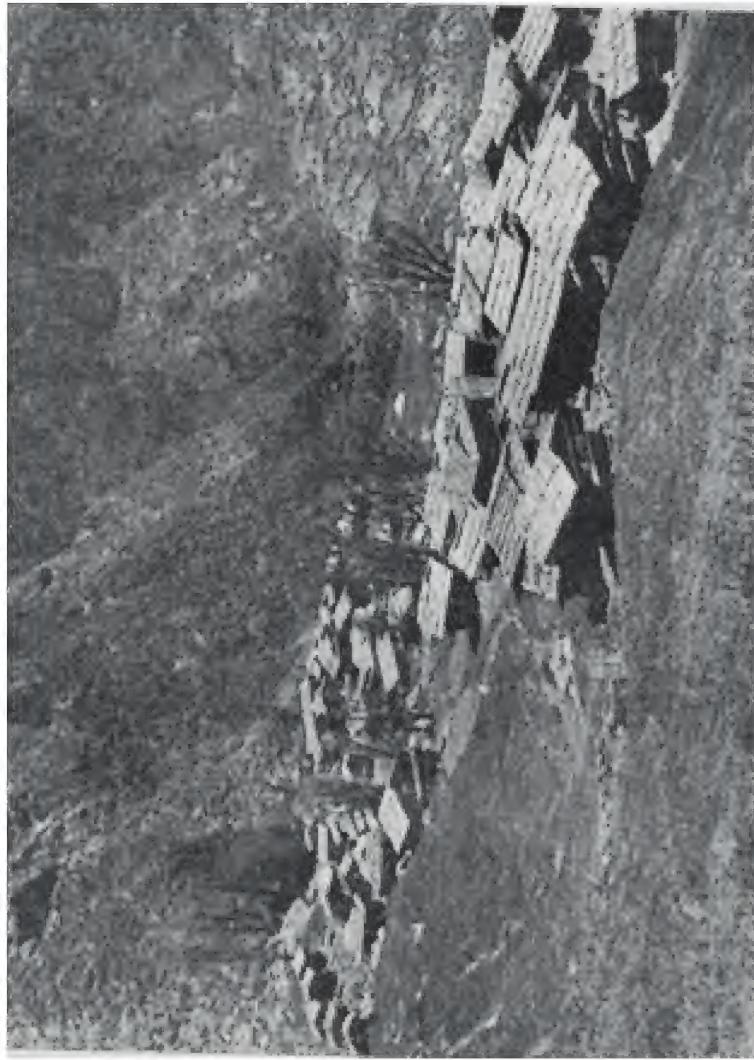
मलाना जनपद के गांव का एक दृश्य ।

भर में लोग इसे देवताओं की भाषा कहते हैं। यहाँ तक सुना गया है कि जो बाज़ा नबाज़ और हरिजन इसी गाँव में पैदा हुए, और जो वहीं रहते हैं वे इस भाषा को समझ तो सकते हैं, परन्तु बोल नहीं सकते। मलाणा के जनपद का जहाँ तक सम्बन्ध है, वह एक नमूने का गणतंत्रात्मक शासन है। एक बड़ा गाँव है जिसमें पाँच सौ घर हैं जो दो भागों (Blocks) में विभक्त हैं, जिसमें चार चुघ अर्थात चार वार्ड (Wards) बने हैं। इनसे नियमत: प्रतिनिधि चुने जाते हैं, परन्तु निर्वाचन बहुमत से नहीं, एक मत से होता है। दो बड़े हल्के **सौरा बेढ़** और **धारा बेढ़** कहे जाते हैं, और चार चुघ **थम्याणी,** नगवाणी, दुराणी और पलचाणी कहलाते हैं। इस जनपद का सारा काम स्वयं देवता जमलू के अध्यात्मिक मार्गदर्शन में चलता है। इस जनपद को देवता जमलू का ही राज्य माना जाता है। सारा गाँव और उसकी जमीन देवता के नाम है और हर एक निवासी देवता के मुज़ारे के रूप में रहना चाहता है जबकि सारी ज़मीन का मालिक देवता है और अन्य निवासी मुज़ारे के रुप में काश्त करते हैं और देवता की सेवा करते हैं। कानून मुज़ारा बन जाने के बाद भी लोगों ने स्वामित्व अधिकार लेने की कोशिश नहीं की। इस जनपद में नियमित रुप से अपर और लोअर दो सदन हैं। अपर हाउस अर्थात् कौंसिल को **ज्येष्ठाँग** कहते हैं और लोअर हाउस को **कोर** कहा जाता है, अर्थात् जनरल असेम्बली या ग्राम सभा। इस कोर या ग्राम सभा में गाँव के हर एक घर का मुखिया सदस्य होता है, और वोट देने का अधिकार उसे ही मिलता है। वोट देने वाले को **चाकर** और दूसरों को **हूद** कहा ज़ाता है। कोर के सत्तर-अस्सी सदस्य प्राय: होते हैं। अपर हाउस या ज्येष्ठांग के ग्यारह प्रतिनिधि चुने जाते है, जिन में से तीन प्रतिनिधि, बड़ा पुजारी नगवाणी चुघ से चुना ज़ाता है और इसे चुघ के सदस्य ही चुन कर भेजते हैं। देबता के बाद इस जनपद का सबसे बड़ा अधिकारी यहा माना जाता है। कर्मिष्ट थम्याणो चुघ से चुना जाता है, और गूर दुराणी और पलचानी किसी में से निर्वाचित होता है। इसमें देवता की आध्यात्मिक इच्छा का विशेष महत्व है, और इसके द्वारा ही देवता की तरफ से आदेश और पूछ दी जाती है। यूं समझिए कि देवता की ओर से यह सुप्रीम हाउस का अध्यक्ष है। ये तीनों प्रतिनिधि अर्थात् बड़ा पुजारी, कर्मिष्ट और गूर जीवन में एक बार चुने जाते हैं। केवल किसी के मर जाने पर या किसी को कोई संक्रामक रोग हो जाने पर या किसी के अपराधी बन जाने पर भी उसे दोनों सभाओं की मर्ज़ी से निकाल दिया जाता है या उसे

सेवानिवृत होना पड़ता है। ज्येष्ठांग के शेष आठ सदस्य प्रत्येक चुघ से चुन कर लिए जाते हैं। अपर हाउस के प्रतिनिधित्व के लिए उम्मीदवारों का मुकाबला करने की आज्ञा है, परन्तु साधारणतया कशमकश होने नहीं दी जाती, और प्रायः एक मत से ही उन का चुनाव किया जाता है। अपर हाउस के आठ सदस्यों का चुनाव जब आवश्यकता अनुभव हो करा लिया जाता है। प्रायः इन्हें चार-पाँच वर्ष काम करने का अवसर दिया जाता है। इनमें से किसी एक के निकाले जाने पर या पद-त्याग देने पर सभी आठ सदस्य सेवा निवृत समझे जाते हैं, और ऐसे अवसर पर जिस चौंतड़े (चबूतरे) पर ये बैठते हैं, वहां केवल तीन स्थायी सदस्य अर्थात् बड़ा पुजारी, कर्मिष्ट और गूर बैठे रहते हैं, क्योंकि चौंतड़े को खाली नहीं किया जाता। शेष आठ सदस्यों के चौंतड़े से नीचे उतर आने पर उसी समय उनके स्थान पर दूसरे निर्वाचित करने के लिए कार्यवाही की जानी ज़रूरी होती है। यह सब कार्यवाही लोअर हाउस अर्थात् कोर के सामने होती है, और लोअर हाउस के सदस्य उसी समय आठ सदस्यों का चुनाव करते हैं, जिन्हें बड़ा पुजारी फिर हाथ से पकड़ कर अपने बराबर चौंतड़े पर बिठाता है। उसी समय सभा का एक कार्य कर्ता या छोटा कर्मिष्ट बकरा काट कर उसके खून से लथ पथ दराट चौंतड़े पर ले जाता है और इन नए चुने हुए सदस्यों के सामने एक के बाद दूसरे के पास पेश करता है। हर एक नव निर्वाचित और स्थायी सदस्य उस खून को उंगली में लगा कर अपने माथे पर टीका लगाता है, और फिर सब एक आवाज हो होकर शपथ खाते हैं कि वे देवता और जनपद के वफादार रहेंगे और उन के ज़िम्मे लगाए गए उत्तरदायित्व को पूर्ण निष्ठा से निभाएगे। इस रसम के बाद वे पूर्णतः ज्येष्ठांग अर्थात् अपर हाउस के सदस्य माने जाते हैं और ज्येष्ठांग में बराबरी का दर्जा प्राप्त करते हैं। बड़े पुजारी के निर्वाचन के बाद उसे एक और विशेष महत्वपूर्ण रसम अदा करनी पड़ती है, और कड़ी परीक्षा से गुजरना पड़ता है। गढ़ा खोद कर उसे दफन किया जाता है। गढ़े के ऊपर तखता बिछा कर गढ़ा बन्द किया जाता है और मिट्टी डाल कर उस पर हल चलाया जाता है। उसे अन्दर कुछ अनाज और एक दीपक रख कर लिटाया जाता है। हल चलाने के बाद उस पर सरसों बीज दी जाती है। यह रसम कई घंटे चलती रहती है, और इस सारे समय बाहर देवता का बाजा बजता रहता है। एक विशेष समय के बाद उसे बाहर निकाला जाता हैं। और कंधे पर उठा कर जलूस के रुप में देवता के सिंहासन तक ले जाया जाता है, जहाँ वह नमस्कार

करता है। उसे देवता की तरफ से पगड़ी पहनाई जाती है, और फिर उसे चौंतड़े पर ले जा कर शपथ आदि दिलाने की दूसरी कार्यवाही होती है। कर्मिष्ट जो देवता का कारदार और प्रबन्ध कार्य में मुख्य अधिकारी माना जाता है, तथा गूर के निर्वाचन के बाद भी लगभग इसी किसम की रसम अदा की जाती है, जिससे स्पष्ट होता हैं कि उन्हें इन जिम्मेदार पदों पर आने से पहले यह अनुभव करवाया जाता है कि उनका पिछला जीवन समाप्त हो चुका हैं, और इन नई जिम्मेदारियों के लिए उनका नये सिरे से जन्म हुआ है। अब सारा समय उन लोगों को बड़ी पवित्रता से जीवन बिताना होता है और उन्हें ऐसा करना भी पड़ता है। तम्बाकू, सिगरेट, इन्हें पूर्णत: निषिद्ध होते हैं। बड़े पुजारी और कर्मिष्ट को एक एक सहायक दिया जाता है, जिन्हें छोटा पुजारी और छोटा कर्मिष्ट कहा जाता है। यह लोअर हाउस अर्थात् कोर सभा के सदस्य होते हैं। ज्येष्ठांग चुने जाने के तीन मास तक निर्वाचित सदस्य त्याग पत्र नहीं दे सकते। लोअर हाउस विशेष कारणों पर ज्येष्ठांग के विरुद्ध अविश्वास भी प्रकट कर सकता है। ज्येष्ठांग के सदस्य यदि न चाहें तो पहले आपस में गुप्त सलाह और विचार विमर्श कर सकते हैं और इस तरह कोर बुलाने के लिए आवाज लगाते **हैं** और उनके सामने त्याग पत्र देने का सुझाव रखते हैं। कोर न माने तो फिर कुछ परिस्थितियों में वे मान जाते हैं, और ज्येष्ठाँग बने रहते हैं। और यदि उन्हें न ही रहना हो तो थमयाणी चुघ सदस्य चौंतड़े पर छलाँग लगा कर नीचे उतर आता है और तब शेष सदस्य भी नीचे उतर आते हैं। केवल तीन स्थायी सदस्य चौंतड़े पर रह जाते हैं जब तक उसी समय दूसरे सदस्यों का चुनाव नहीं हो जाता, कोई आदमी उठ कर नहीं जा सकता। ज्येष्ठाँग के विरुद्ध लोअर हाउस का अविश्वास दोष कलंक समझा जाता है।

इस जनपद में चार और अधिकारी चुने जाते हैं जिन्हें **पोगलदार** कहा जाता है। एक चुघ से एक पोगलदार लिया जाता है। इनका काम लग-भग पुलिस कर्मचारी जैसा होता है। इनको एक रुपया प्रति वर्ष देवता के खजाने से मिलता है। ज्येष्ठाँग के आदेशों का पालन करवाना, तथा ज्येष्ठांग के फैसला किए हुए मुकद्दमों पर फैसले के अनुसार अमल करवाना उनका उत्तरदायित्व होता है। कोर अर्थात् लोअर हाउस बुलाने के लिए कम से कम तीन ज्येष्ठाँग का कोरम होना जरूरी है। पहले ज्येष्ठाँग चौंतड़े पर खड़ा होकर आवाज लगाएगा और फिर एक पोगलदार **जनगा**

या **हारचा** के मैदान के एक सिरे पर खड़ा हो कर आवाज लगाएगा। इस आवाज के सुनते ही कोर और ज्येष्ठांग के हर सदस्य को घर के बड़े से बड़े और जरूरी काम छोड़ कर कोर में जाना पड़ता है। किसी महत्वपूर्ण काम या मामले के सिलसिले में सभा बुलानी हो तो पोगलदार **देवता की द्रोही** दे कर जमा होने के लिए आवाज देता है। और तभी सब लोग अपना अपना काम छोड़ कर कोर में आकर बैठ जाते हैं। ज्येष्ठाँग का दर्जा यद्यपि बड़ा होता है, परन्तु कोर की इच्छा के बिना वह भी कोई महत्वपूर्ण कार्य निष्पादित नहीं कर सकता। ज्येष्ठाँग एक अलग न्याय-पालिका (Judiciary) का भी काम निष्पादित करता है। जनपद का छोटे से छोटा और बड़े से बड़ा प्रत्येक मुकद्दमा पहले ज्येष्ठाँग में पेश होता है, जहाँ प्रत्येक पक्ष से उचित पूछ ताछ होती है। जिरह का अवसर मिलता है, और फिर सदस्य आपस में बहस करके कुछ परिणाम निकालते हैं। तब ज्येष्ठांग के दो सदस्य कोर सभा में आकर उस मुकद्दमे का सारांश तथा निकाले गए परिणाम को कोर के सामने पेश करते हैं। कोर के सदस्य इस रिपोर्ट की दृष्टि में पुनः बहस करते हैं, और अपने फैसले से ज्येष्ठाँग को परिचित कराते हैं। ज्येष्ठाँग एक बार फिर कोर के विचारों पर गौर करेगा और तब अन्तिम फैसला सुनाएगा। उस फैसले पर अमल करवाने की हिदायतें पोगलदार को मिलती हैं। जुर्माना वसूल करना हो, किसी पक्ष को सब की अदायगी करवानी हो, तो यह सब ज्येष्ठांग की निगरानी में पोगलदार करवाते हैं। कोर और ज्येष्ठाँग मिल कर भी जो फैसला न कर सकें, तब वह फैसला सुप्रीम कोर्ट अर्थात् देवता की अध्यात्मिक अदालत में अन्तिम निर्णय और न्याय के लिए पेश होता है। सुप्रीम कोर्ट में आने से पहले प्रत्येक पक्ष को अपनी ओर से पैरवी करने के लिए एक मुखत्यार देने का भी अधिकार होता है, जिसकी फीस सात रुपये है। यदि यह मुखत्यार भी फैसला करवाने में असफल रहे तो सुप्रीम कोर्ट में कार्यवाही आरम्भ होती है। पोगलदार बकरियों के रेवड़ में से दो बराबर आयु और एक जैसे कद के छोटे छोटे बकरे लाता है और उन्हें **पलोबरी जो माता रेणुका का अंदरोल** (नरोल) कहलाती है, के पास दो मजबूत खुँडे गाड़ कर इन बकरों को बाँध देता है। छोटा कर्मिष्ट जहर मोहरा जिसे वत्स नाभ (बछनाग) कहते हैं, और जो एक स्थानीय बूटी की जहरीली जड़ होती है, पीसता है, और उसके दो बराबर भाग करके दोनों बकरों की पिछली राने चीर कर उनमें डाल देता है। दोनों पक्ष अपने अपने बन्धे हुए बकरों के पास दो जानू हो कर सिर जमीन पर टिका कर

मुँह नीचा करके ऊंधे मुँह बैठ जाते है। दोनों के ऊपर कपड़ा डाल दिया जाता है। बकरों में जहर चढ़ना शुरू होता है, जिस पक्ष का बकरा पहले मर जाए, वह हार जाता है। हार जीत का एलान ज्येष्ठाँग करता है। हारने वाले के सिर पर कफनी सी बाँधी जाती है, और वह शर्मिन्दा हो कर घर चला जाता है। जीतने वाले को उसके तर्फदारकंधों पर उठा कर जलूस में देवता के सिंहासन पर ले जाते हैं, जहाँ वह देवता को और ज्येष्ठाँग को प्रणाम करता है, और जीतने की खुशी में जलपान कराता है। चूंकि गाँव छोटा है और ऐसे मुकद्दमों से शत्रुता बढ़ने का भय होता है इसलिए यह नियम बना दिया गया है कि, जीतने वाले और हारने वाले, दोनों को बुला कर देवता के सिंहासन के पास उन का मन मिटाव करवाया जाता है, जिसे **छिदरा करना** कहा जाता है। दोनों को आदेश मिलता है कि वे इस झगड़े से पैदा हुए फैसले के कारण भविष्य में कोई शत्रुता नहीं रखेंगे। इसके बाद जीतने वाला हारने वाले को अपने घर ले जाता है, और उसका यथा सम्भव सत्कार करता है।

यदि किसी पीड़ित को किसी मामले में तुरन्त निर्णय करवाना अपेक्षित हो और उसे शक हो कि साधारण परिस्थितियों में उसे तुरन्त न्याय नहीं मिल सकता, तब वह चौतड़ के पास आग जला कर बैठ जाता है, और रात होने तक वहीं बैठा रहता है। गाँव में उपस्थित जिस ज्येष्ठाँग को इसका पता लगता है, वह उसके पास आ कर उसे विश्वास दिलाता है कि उसका फैसला करने के लिए प्रातः ही कोर की बैठक बुलाई जाएगी। वह आदमी यह विश्वास दे कर चला जाता है और तब दूसरे दिन ही ज्येष्ठांग को बुला कर उसका फैसला करा देते हैं। इस जनपद के लोग सरकारी कचहरियों में जाना अपराध समझते हैं। बात छोटी हो या महत्वपूर्ण, वे अपनी ही अदालत से फैसला लेते हैं, और उस पर सत्य निष्ठा से अमल करते हैं। जनपद से बाहर का आदमी यदि सरकारी अदालत में कोई मुकद्दमा करे तो उनको मजबूर हो कर वहाँ हाज़िर होना पड़ता है। अंग्रेजों की एक सौ वर्ष की हकूमत में उनका कोई मुकद्दमा सरकारी अदालत में नहीं गया, सिवाए एक हालत में जबकि जनपद के फैसले के अनुसार एक कर्मिष्ट को जनपद से देश निकाला दिया गया था और उसने समय के सहायक कमिश्नर मिस्टर (हारकोर्ट) को बहका कर अंग्रेजी फौज का एक दस्ता मलाणा में भिजवा दिया था, जिस के साथ वह कर्मिष्ठ मलाना वापिस आया। इस तरह उस कर्मिष्ठ ने यद्यपि

जनपद के फैसले का विरोध किया, और हकूमत के जोर से वापिस मलाना पहुंचा, परन्तु जनता के सामने भला किस का जोर चलता है। मलाणा वालों ने उसे गांव में रहने तो दिया परन्तु उसका इतनी तीव्रता से नामिल बरतन किया गया कि वह थोड़ ही दिनों में अकेला घुल घुल कर मर गया। एक और कार्य कर्ता ने देवता के खजाने से चाँदी चुरा कर अपनी स्त्री के लिए आभूषण बनाए, परन्तु वही स्त्री इस बात को जनपद से छुपा न सकी और उसी ने अपने पति की मुखबरी की। छान बीन हुई और कारिंदे को दोषी ठहरा कर देश निकाला दिया गया। उस की स्त्री को मलाणा रहने की और अपने पति की सम्पत्ति पर कब्जा करने की आज्ञा दी गई। परन्तु उसने यह कह कर इस प्रस्ताव को ठुकरा दिया कि देबता और जनपद से मैंने अपनी वफादारी का प्रमाण दे दिया हैं, और अब फैसला हो जाने के बाद मैं अपने पति की वफादारी का भी सबूत देना चाहती हूँ। इस लिए जो सजा उसे मिली हैं उसमें बराबरी की हिस्सेदार बन कर उमर भर उसका साथ दूँगी। अतः दोनों देश से बाहर निकले और सारी उमर बाहर रहे। वहुत बड़ें अपराधियों को जनपद की न्याय पालिका से मृत्यु दण्ड भी दिए जाते रहे हैं। कहा जाता है कि ऐसे अपराधी की जान लेने के लिए उसे एक विशेष टीले पर ले जाया जाता था। जहाँ नीचे बहुत गहरा नाला बहता है। अपराधी को कंबल से लपेट कर उसके शरीर पर पत्थर बाँध कर उसे टीले से उस नाले में गिराया जाता था। जहां वह बहुत गहरे पानी में जा कर उभर नहीं सकता था। मलाणा जनपद की एक और विशेषता भी सराहनीय है। इस जनपद से बाहर का कोई भी मनुष्य कोई अपराध करके मलाणा पहुंच कर देवता की शरण में चला जाए तो उसकी रक्षा करना जनपद के हर निवासी का पूर्ण कर्तव्य बन जाता है, यहाँ तक कि कोई बच्चा भी उसके बारे में कोई खबर या सूचना किसी को नहीं देगा। यह जनपद यद्यपि महर्षि जमदग्नि के बनाए असूलों पर ही चलता है, परन्तु महर्षि जमदग्नि का यहाँ पर कोई रथ नहीं, कोई बुत नहीं, कोई मूर्ति नहीं, कोई मोहरा नहीं। उनके अस्तित्व और महत्व का केवल एक निशान वहाँ मौजूद है जो उनका **खण्डा** है जिसे स्थानीय भाषा में **टुंडाच** कहते हैं।

चन्द्रभान नाम का एक और खण्डा भी है। इसके अतिरिक्त दूसरे निशान भी जिनमें नरसिंघे, नफेरियां, सूरज पंखे, छड़ियां आदि शामिल हैं, भी देवता के निशान माने जाते हैं, और साल में दो बार उपर्युक्त दो

खण्डे और ये निशान बाहर निकाले जाते है। इन दो अवसरों पर जिन्हें **छोटी फागली और बड़ी फागली** कहा जाता है दूर दूर से लोग जा कर चाकरी के लिए उपस्थित होते हैं, और चांदी के घोड़े महर्षि जमदग्नि को चढ़ाते है। यहाँ स्थानीय भाषा में इसे **जम्बलू 'देउ'** कहा जाता है। और कुल्लू भर में इसके बारह जगहों पर बारह देवगृह मौजूद हैं। देवता के मन्दिर में अकबर बादशाह की भी सोने की मूर्ति है। कहा जाता है कि एक बार एक साधु मलाणा में आया और उसे देवता के खजाने से दो टके दान मिले। जब वह साधु फिरता फिराता दिल्ली पहुंचा तो वे दो टके जजिया के रूप में उससे वसूल कर लिए गए और अकबर के खज़ाने में जमा हुए। इधर दो टके अकबर के खजाने में पहुंचे उधर अकबर बादशाह की तबीयत बेचैन होनी आरम्भ हुई, और परेशानी इस सीमा तक पहुंचा कि बादशाह की नींद हराम हो गई। नजूमी और ज्योतिषी बुलाए गए। उन्होंने बताया कि उत्तरा खण्ड में जम्बलू नाम का देवता है जिसके दो टके बादशाह के खजाने में आ गए हैं। जब तक वे वापिस देवता के खज़ाने में नहीं पहुंचेंगे, बादशाह की बेचैनी दूर नहीं हो सकती। प्रश्न पैदा हुआ कि वे कौन से दो विशेष टके हो सकते हैं जो देवते के खजाने में वापिस किए जाने चाहिएं। उसी रात अकबर को स्वप्न में बताया गया कि उसके खज़ाने में जो दो टके आपस में मजबूती से जुड़े होंगे वही देवता के हैं। प्रातः काल खज़ाना खोला गया और सचमुच दो टक्के इतनी मजबूती से आपस में जुड़े हुए पाए गए जो जुदा नहीं हो सकते थे। उन्हें लेकर अकबर ने खास आदमी मलाणा को भेजे और बतौर चाकरी प्रमाण रूप अपनी सोने की मूर्ति भी साथ भेज दी, जिसे देवते ने स्वीकार किया और मूर्ति को अपने पास स्थान दिया। उस समय से ले कर देवते के दोनों खण्डों के साथ इस मूर्ति के दर्शन होते हैं और होती है उसकी पूजा भी।

मलाणा जनपद यद्यपि एक छोटा सा गाँव है परन्तु महर्षि जमदग्नि के समय से आज तक ठीक उसी तरह चला आ रहा है। यहाँ के गणतंत्रात्मक प्रशासन का ढाँचा आपने पढ़ ही लिया। उसकी बनावट और प्रबन्ध प्रणाली की जानकारी भी आप को उपर्युक्त उल्लेख से मिल गई। अब पाठक स्वयं ही इस बात का निर्णय करें कि अमरीका और बरतानियाँ जैसे देश, जो अपनी गणतंत्रता के प्रशासन की चरचा करते हुए थकते नहीं और जिनका यह विचार है कि लोकतंत्र को उन्होंने जन्म दिया है, कहाँ तक दुरुस्त हैं। पश्चमी देशों के लोकतंत्र तो मलाणा जनपद की रोशनी में कल के खिलौने लगते हैं। ऋग्वैदिक काल के जनपदों का एक हलका

सा नमूना यह मलाणा जनपद आज भी हमारे यहां प्राचीन शासन पद्धति का जीता जागता स्वरुप है। यह इस बात का प्रत्यक्ष प्रमाण है कि हिमाचल की ही एक गोद ऐसी है जिस में प्राचीन वैदिक संस्कृति की झलक अपने असली रूप में सुरक्षित है। संसदीय लोकतंत्र का तजरुबा यद्यपि समस्त भारतवर्ष कर रहा है परन्तु लोकतंत्र की जो बुनियादें धर्म के आधार पर मलाणा में सुरक्षित हैं उन्हें तो लाखों वर्षों के उथल पुथल और परिवर्तन तथा क्रान्ति के झकझोर भी नहिं मिटा सके। युग की क्रान्ति का कोई भी झोंका ऋग्वैदिक लोकतंत्र के इस टिमटिमाते हुए दीप को बुझा न सका। समय ने यह तो बता दिया है कि धार्मिक आधार पर खड़ा किया हुआ लोकतंत्रात्मक शासन लाखों वर्ष तक प्रचलित रह सकता है, और भविष्य बताएगा कि धर्मनिर्पेक्षता के आधारों पर खड़ी की हुई संसदीय लोक-तंत्रता सफल होती है या नहीं। बहरहाल **मिस्टर ई० बी० हावल** की पुस्तक "History of Aryan Rule in India, Page-22," में यह कहना बिल्कुल वास्तविकता पर आधारित है कि " " The Political organisation of the Aryan tribe was a democracy based upon the organisation of the village community." अर्थात् **'आर्य जनपदों का राजनैतिक संगठन वह लोकतंत्रात्मक शासन था जो गांवों की बरादरी की बुनियादों पर आधारित था।'**

विश्वास

श्रद्धा और विश्वास का सम्बन्ध संसार और सांसारिक वस्तुओं से आगे बढ़ कर सीधा मन और आत्मा से होता है। मनुष्य का जीवन के बारे में क्या दृष्टि कोण है, इस विचार का सम्बन्ध भी विश्वास और श्रद्धा से प्रभावित होता है। इसलिए सम्भवत: संस्कृति का अर्थ वे विचार हैं जो हमारे विश्वास और श्रद्धा से जीवन में क्रियात्मक रुप धारण कर चुके हैं। इसी विश्वास और श्रद्धा या आस्था का नाम धर्म रखा गया, जिसे उर्दू में मज़हब कहते है, जो सामान्यत: तहज़ीब (सभ्यता) पर आश्रित है। अब हम ऋग्वैदिक संस्कृति का वर्णन करते हैं, तो उपर्युक्त परम्पराएं और अनुश्रुतियाँ ही केवल उस संस्कृति की रेखा बनाने में काफ़ी नहीं, जब तक धर्म और विश्वास की रोशनी में संस्कृति के चित्र को साफ साफ़ देखने की कोशिश नहीं होगी। बहुत पुराने समय से लेकर, बल्कि यूं कहें कि जब से मानव ने जन्म लिया है, उसके दिल की भावनाओं

जब ठारह करड़ देवताओं के रथ बने…

सामाजिक दृष्टिकोणों एवं आध्यात्मिक विचारधारा विश्वास और आस्था ने न केवल उसकी संस्कृति का रूप निखारने में सहायता दी है, बल्कि उसे अतीत के अंधकार से निकाल कर वर्तमान के प्रकाश में लाकर खड़ा करने का महत्वपूर्ण कार्य किया है। शायद ही जीवन का कोई ऐसा पहलु हो जिस पर धार्मिक विश्वास और श्रद्धा ने प्रभाव न डाला हो, बिल्कुल ऐसे ही जैसे आज के युग में हर मनुष्य पर और मनुष्य के जीवन के हर पहलु पर राजनीति ने अपना प्रभाव डाल रखा है। इसलिए ऋग्वैदिक काल के आर्यों की संस्कृति को हम उनके धार्मिक विचारों की रोशनी में न केवल गम्भीरता से समझने का प्रयत्न करें बल्कि यह भी देखें कि उसका स्वरुप आधुनिक युग के उत्तराधिकारियों ने किस हद तक सभाल रखा है। ऋग्वेद काल के आर्यों के विश्वासों के सम्बन्ध में तीन बातें विशेष रूप से कही गई हैं–प्रथम यह कि वे प्रकृति की शक्तियों को देवता रूप में मानते थे, और जीवन का हर काम उनकी इच्छा से और उनकी खुशी के लिए करते थे। यज्ञ करना, बलि देना, सुख, दुःख, बीमारी, व्यापार, हानि, लाभ, वर्षा, धूप, आकाल, आंधी, तूफान, आपत्ति, धन, दौलत, खेती बाड़ी, चोरी चकारी, अच्छे-बुरे स्वप्न एवं शगुन और लड़ाई झगड़े, परेशानी, अथवा बेचैनी, गलती या भूल, हर एक बात के लिए देवताओं पर भरोसा रखते थे, और उनसे मार्ग दर्शन प्राप्त करते थे। कोई कार्य आरम्भ करना हो तो देवता को पूछ कर, शत्रु पर विजय पानी हो तो अपने देवता से न केवल आज्ञा प्राप्त करते थे, बल्कि देवता को मार्ग दर्शक बना कर आगे बढ़ते थे। इन्द्र उनका सबसे बड़ा देवता था, यद्यपि ऋग्वेद की पहली ऋचा अग्निदेवता की स्तुति से आरम्भ होती है। ऋग्वेद में अग्नि, इन्द्र, सविता अर्थात् सूर्य, वरुण, रुद्र आदि ३३ बड़े देवताओं से सम्बन्धित ऋचाओं की रचना की गई है। दूसरे यह कि आर्य ऋग्वैदिक ऋषि अपनी ऋचाओं में न केवल सम्बन्धित देवता के दर्शन करते थे, बल्कि उन से सीधी बातचीत भी करते थे। तीसरे यह कि ऋग्वैदिक ऋषि और दूसरे लोग न केवल वेदों की ऋचाओं को बल्कि अनुश्रुतियों, धार्मिक परम्पराओं एवं साहित्य कला को भी साथ साथ समाज का अंग बनाते थे। तब न लेखनी थी न लिखने का रिवाज, इस लिए हर बात मस्तिष्क में सुरक्षित रखी जाती थी और एक से दूसरे को मौखिक आदान प्रदान के ज़रिये सुरक्षित रखने के प्रयत्न किए जाते थे।

जैसा कि अनुश्रुतियों के उल्लेख में हमने यह सिद्ध किया है कि

ऋग्वैदिक काल से अब तक अनुश्रुतियों और परम्पराओं का सिलसिला भी हमारे यहाँ लगातार चलता आया है, तब उपर्युक्त धार्मिक विश्वासों और आस्थाओं के क्रम की भी छान बीन की जाए. कि वे अब तक प्रचलित हैं या नहीं। पहली बात की खोज में जब हम इस पहाड़ी प्रदेश के जन समाज की गहराइयों में जाते हैं, जब हम उनके धार्मिक विचारधाराओं और दृष्टिकोणों को टटोलने के लिए उनके दिल और दिमाग की गहराइयों तक पहुंचने का प्रयत्न करते हैं तो हमें ऋग्वैदिक काल के आर्य और कुलूत देश के हिमाचली मानव में कोई अन्तर नजर नहीं आता, सिवाए इस अन्तर के कि ऋग्वैदिक काल में देवताओं के नाम और थे, उनकी कल्पना भी सम्भवत: भिन्न थी, जबकि आज के देवता क्रान्ति के हज़ारों दौर गुज़र जाने के बाद नाम और कल्पना के आधार पर भिन्न बन गए हैं। जहां तक देवता के प्रति श्रद्धा और विश्वास का सम्बन्ध है, और उनके प्रति पूर्ण आत्म-समर्पण की भावना है, उसमें ज़रा भी अन्तर नज़र नहीं आता। केवल कुलूत ही क्या हिमाचल में रहने वाला हर पहाड़ी अपने देवताओं पर बिल्कुल उसी तरह विश्वास करता है, उनसे उसी प्रकार मार्ग-दर्शन प्राप्त करता है और जीवन से सम्बन्धित हर परिस्थिति में अपने आपको देवताओं पर पूरा पूरा आश्रित रखता हैं। विभिन्न सभ्यताओं के मेल जोल से इन हजारों लाखों वर्षों में कितने ही पुराने देवता समाप्त हो गए हैं और कितने ही नये देवता प्रकट हुए है, चाहे गृह देवता है या इष्ट दव है, गाँव का देवता है या इलाके भर का मान्य देव है, हर व्यक्ति अपने अपने हालात में देवता के हर आदेश को शिरोधार्य करता है। ऋग्वेद काल के अग्नि देव को जिस तरह ऋग्वेद की पहली ऋचा में स्थान दिया गया है बिल्कुल उसी तरह आज के पहाड़ी जन समाज में अग्नि की वही मान प्रतिष्ठा है। कोई भी शुभ कार्य करने से पहले अग्नि देवता का आह्वान किया जाता है। अग्नि को प्रचण्ड किया जाता है, और अग्नि देव की पूजा की जाती है। कुल्लुई भाषा में इसे "**जागरा भकाणा**" कहते है। देव मन्दिर की रस्में हों, शादी हो, मुण्डन संस्कार हो, यज्ञोपवीत हो. कुछ भी हो **जागरा भकाणा** सबसे पहली रसम अदा की जाती है। आग को साक्षी करके शपथ खाना बहुत महत्व की बात समझी जाती है जिसे '**औग छूँगणा**' कहा जाता है। अग्नि देवता चूँकि सबसे पहले प्रकट हुआ साक्षात देवता माना जाता हैं इसलिए अग्नि को संस्कृत में **अलोपी** कहा गया हैं, जिसका अर्थ हैं जो लुप्त न हो सके या जो छुप न सके। इसी आधार पर कुल्लुई भाषा में आग की ज्वाला को

अलोपी से बिगड़ कर '**लूपी**' कहा जाता है। वेदान्त शास्त्र में अग्नि देवता के तीन अंग माने गए हैं-अर्थात् अंगारा, ज्वाला और धुँआ। शायद इसी लिए कुल्लुई भाषा में भी आग को कभी केवल 'औग़' कहते हैं, और कभी '**औग त्राँग**' कहते हैं। **त्राँग** का अर्थ है तीन अंग वाली या तीन रूप वाली।

ऋग्वैदिक काल के सबसे बड़े देवता इन्द्र की प्रतिष्ठा तो त्रेता युग में कृष्ण अवतार होने पर समाप्त हो गई थी। इस पहाड़ी प्रदेश में भी इन्द्र को देवता के रूप में नहीं बल्कि नाग के रूप में बहुत जगह **इन्द्र नाग** के नाम से माना जाता है। कुल्लुई भाषा में **पतन्दर** शब्द दो संस्कृत शब्दों से मिल कर बनता है पति+इन्द्र=पतीन्द्र अर्थात् स्वामी इन्द्र। पतीन्द्र से बिगड़ कर आम भाषा में पतन्दर कहना स्वभाविक है। जब यह कहना हो कि फलां आदमी तुझ से बड़ा है तो कहा जाता है कि वह तेरा पतन्दर है अर्थात वह तेरा पति-इन्द्र है। हां, इन्द्र देवता की याद में इन्द्र-कील पर्वत आज भी कुल्लू में मौजूद है, जिसे सृष्टि के आरम्भ में इन्द्र ने कीला था, जिस का उल्लेख हम अगले अध्याय में कुलांत पीठ के वर्णन में करेंगे।

ऋग्वेद में माने जाने वाले देवताओं की तो यही यादगारें बाकी रह गई हैं, परन्तु उनके समाप्त हो जाने पर ऋग्वैदिक काल के ऋषियों को सारे पहाड़ी इलाकों में देवता बना दिया गया है। बाद में विशेष ऋषि भी देवता रुप में माने जाने लगे हैं। मनु, आदि भृगु, कश्यप, वसिष्ठ, पराशर, वामदेव, गौतम, जमदग्नि, परशुराम, श्रृंगी, कपिल, नारद, दरबाशा, वेद व्यास और कितने ही ऋषि देवता पदवी को पाकर इस पहाड़ी प्रदेश में सैंकड़ों हज़ारों वर्षों से पूजे जा रहे हैं। कुल्लू तथा इस सारे पहाड़ी प्रान्त में देवताओं को नाग, नारायण, कुलज, गृह कुलज, वास्तु, देऊ, ठाकर, पताल, जोगणी, फुँगणी, नरसिंह, महादेव, भगवती, महामाया, चामुण्डा, सन्ध्या, काली, पाल, वीर, अमल, हिडिम्बा, महावीर पंजबीर, गूगा, शिड्डवीर, जोंगरू, घेपन के नाम से माने जाते हैं। भले ही इन देवताओं के स्थान अलग हों और मान्यता भी अलग अलग हों परन्तु यह बात बड़ी मनोरंजक है कि जो भी आदमी जिस देवता में अपना विश्वास रखता है वह श्रद्धा उन ऋग्वैदिक काल के आर्यों से किसी तरह भी कम नहीं जो वे उस समय के अपने देवताओं में रखते थे। इसमें शक नहीं कि भारत वर्ष भर में हिन्दू संस्कृति के प्रभावाधीन धार्मिक विचार

और विश्वास हर जगह गहरे हैं, परन्तु जो बात हिमाचल के लोगों में है, और जो विश्वास वे अपने देवताओं में रखते है, वह और जगह देखने में नहीं आता। आज भी किसी प्रकार की बहुत बड़ी आपत्ती आने पर कुल्लू भर के देवता नगर की पुरानी राजधानी में इकट्ठे होते हैं, जहाँ ठारह करडू देवताओं का वह सिंहासन रखा है, जिस के बारे में प्रसिद्ध है कि उस बड़े पत्थर को मधुमक्खियाँ भृगुतुंग से उठा कर लाई थीं। कुल्लू के विशेष देवता यहाँ आ कर प्रकृति की उन शक्तियों को जगाते हैं जिन से उस आपत्ती के टल जाने की आशा हो। कुल्लू के बड़े बड़े देवता वसिष्ट की तपो भूमि की यात्रा करना एक आवश्यक कर्तव्य समझते हैं, और इस यात्रा पर जब कभी कोई देवता निकलता है तो वह जगती के स्थान **जगती पौट** पर जाना भी ज़रूरी समझता है। सच पूछें तो कुल्लू का सारा सामाजिक प्रबन्ध आज से बीस वर्ष पहले तक देवताओं के गिर्द ही घूमता था। अब इस विश्वास में कमी केवल वहीं आई है, जहाँ लोग वर्तमान शिक्षा के प्रभावाधीन अपनी संस्कृति को भुलाने लग पड़े हैं। फिर भी इन बदली हुई परिस्थितियों में साठ प्रतिशत से अधिक लोगों की श्रद्धा अपने देवताओं में पूर्ण तथा अटल है। वे ऋग्वैदिक काल के आर्यों की तरह जीवन की साधारण से साधारण बातों के लिए भी अपने देवता पर भरोसा रखते हैं, और अपनी सब तरह की रक्षा के लिए देवताओं की शरण में जाते हैं। विश्वास और श्रद्धा की यही एक अच्छी बात, यही एक अच्छा गुण आज पहाड़ी लोगों में बाकी रह गया है, जिस के प्रभाव से वे पाप करने से डरते हैं, और यदि उनसे जानते हुए या भूल से कोई गलती हो जाए तो हर समय उसका प्रायश्चित करने के लिए तैयार रहते हैं। यह विश्वास और श्रद्धा ही है जिसने इन लोगों में सादगी, नेकी और सुशीलता को सुरक्षित रखा है। इसी लिए यह लोग शान्ति प्रिय हैं, जियो और जीने दो की नीति पर अमल करते हैं। हम अच्छी तरह जानते हैं कि आज से तीस वर्ष पहले तक कुल्लू के देहाती घरों में ताले और जन्दे नहीं लगते थे। चोरी चकारी, गुन्डा गरदी और ठगी बेइमानी बहुत ही कम थी, और बाकी जगहों की अपेक्षा अब भी बहुत कम है। गीता में कहा है कि प्रत्येक व्यक्ति में उसके आराध्य देव के गुण आ जाते हैं। तब अवश्य यह उचित ही है कि पहाड़ी प्रदेश के लोग जो किसी न किसी रुप में अपने देवताओं में अन्ध विश्वास रखते हैं, ज़रूरी तौर पर उनके दैवी गुण लोगों में पैदा होंगे। भले ही आज की तथाकथित नयी सभ्यता के उपासक पहाड़ी लोगों को अनपढ़ समझें, इन्हें जाहिल ख्याल करें, और इनकी सादगी तथा नेकी का अनुचित लाभ उठाएं, परन्तु स्पष्ट शब्दों में कहा जा सकता है

सिराजी देवताओं के रथ और उनका अनुपम शृंगार

कुल्लू सिराज के दो देवताओं का मिलाप

कि ये नेक एवं सादा लोग तथा कथित सभ्य और पढ़े लिखे लोगों से अच्छे हैं, जिनमें मानवता है और प्यार है, नम्रता और शीलता है। जिन का अपना छोटा सा संसार है, और उस संसार में परिश्रम करते, अपने देवताओं को अपने कन्धों पर उठाए नाचते, गाते और बुराइयों से दूर रहते हुए जीवन व्यतीत करते हैं। ठीक यही गुण सम्भव थे, उन ऋग्वैदिक काल के आर्यों में, जो उस समय जीवन और प्रकृति के इन दृष्टिकोणों को लेकर आगे बढ़े, जब मानवता जन्म ले रही थी और इस संसार को मनुष्य के लिए और अधिक सुन्दर तथा आकर्षक बनाए जाने के प्रयत्न हो रहे थे।

और यह धारणा कि ऋग्वैदिक काल के आर्य अपने देवताओं के दर्शन करते थे और उनसे सम्मुख वार्तालाप करते थे, भी हमारी आज की संस्कृति में उस समय का सजीव चित्रण है। जिन देवताओं का ऊपर उल्लेख हुआ है, इनमें से हर एक का अपना एक प्रशासन है, जिनमें देवता, उसका मन्दिर, उसकी ज़मीन, उसका आय व्यय, रसूम और मेले सब शामिल हैं। इस प्रशासन को चलाने के लिए गाँव के विभिन्न लोग काम की अलग अलग जिम्मेदारी सम्भालते हैं। इन कार्य कर्ताओं में से सब से महत्वपूर्ण स्थान गूर का होता है, जिसे मैदानी क्षेत्रों में चेला भी कहा जाता है। प्रत्येक आदमी गूर बनने का पात्र नहीं होता। इस प्रयोजन के लिए कुछ विशेष व्यक्ति देवता की ओर से कृपा पात्र बनते है, क्योंकि वही व्यक्ति देव साक्षात्कार का स्रोत बनता है, उसी के द्वारा निकला देव वाक भक्तों और श्रद्धालु लोगों को संतुष्ट करता है। इस आवेश में जो वह कहता है वह कतिपय पूरा भी होता है। जिस मनुष्य के स्थूल शरीर के अन्दर सूक्ष्म शरीर की यह मशीनरी ठीक हो वही इस महान अंतरिक्ष में से देवता के शब्द और उसकी वाणि को खींच सकता है। जिस तरह नाकारा रेडियो किसी भी रेडियो स्टेशन से आवाज नहीं पकड़ पाता, इसी तरह ईथर (Ether) की अति कोमल विद्युत लहरों द्वारा किसी देवात्मा से प्रेरणा लेना भी किसी सूक्ष्म शरीर की उत्तम मशीनरी पर निर्भर रखता है। कुछ लोगों का विचार है कि वर्तमान विज्ञान मनुष्य को ईश्वर और उसकी शक्तियों से दूर ले जा रहा है। परन्तु मैं कहता हूं कि वर्तमान विज्ञान के आविष्कार हमें ईश्वर और उसकी शक्तियों को, जिन्हें देवता भी कहा जा सकता है, समझने में न केवल सहायक सिद्ध हो रहे हैं, बल्कि मनुष्य को उनके बहुत निकट भी ला रहे हैं। अब तो विज्ञान भी आत्मा

को मानने लग पड़ा है, और यदि शुभ और अशुभ आत्माएं इस अंतरिक्ष में हैं तो कोई कारण नहीं कि किसी भद्र पुरुष की सूक्ष्म मशीनरी उसका आह्वान क्यों न कर सके। यदि टेलीविजन द्वारा अमरीका में बैठा हुआ एक चेहरा अंतरिक्ष में तैरता हुआ दिल्ली में रखे हुए टेलीविजन सेट में उतर सकता है तो इसी अंतरिक्ष से मनुष्य के अन्दर लगी हुई सूक्ष्म और स्वचलित मशीनरी के सैट पर अंतरिक्ष में घूमती हुई कोई आत्मा, कोई ध्वनि, या कोई रुप रश्मी क्यों नहीं उतर सकती। इसलिए गूर वही बनता है जिसके अन्दर की सूक्ष्म मशीनरी और उसका अन्तर काय रेडियो टेलीविजन सैट ठीक काम करने योग्य हो। ऐसी भी मिसालें मिलती हैं, जब एक गूर अपने आवेश में दस दस फुट बर्फ में छलांगें मारता हुआ पहाड़ की चोटी पर पहुंचता है और उसी आवेश में ऐसी जगह से बेठर नाम की हरी झाड़ियों की टहनियों को तोड़ लाता है, जहाँ साधारण परिस्थितियों में होशियार और चंचल चपल मनुष्य भी नहीं जा सकता। उदाहरण मिलते हैं कि ऐसे ही आवेश में किसी गूर ने साफ आकाश की ओर उंगली कर दी हो और देखते देखते बादल घिर आए हों और भारी वर्षा बरसने लग पड़ी हो। ऐसे भी उदाहरण मिलते हैं कि किसी उपासक ने मन में कोई बात सोची और दूसरे ही दिन बीसियों मील चल कर गूर उसके प्रश्न का उत्तर देने के लिए उसके पास पहुंच गया हो। निस्संदेह आज भी देवता एक आवेष बनकर गूर के अन्त:करण पर छा जाता है और इस तरह न केवल देवता के साक्षात दर्शन होते हैं बल्कि देवता से आमने सामने बात चीत भी होती है। तब कौन कह सकता है कि ऋग्वैदिक काल के आर्यों की यह दूसरी विशेषता पूरी तरह लाखों वर्ष बीत जाने पर भी आज के पहाड़ी प्रदेश में मौजूद नहीं है।

तीसरी विशेषता भी देवता और उसके गूर के कारण ही हमारे जन समाज में '**भारथा**' के रुप में विद्यमान हैं। **भारथा** वास्तव में संस्कृत शब्द वार्ता का बिगड़ा हुआ रूप है। वार्ता से मिलता-जुलता उर्दू का शब्द सम्भवत: वारदात है। वार्ता का शाब्दिक अर्थ बातचीत है, परन्तु वार्ता का असली अर्थ है कहानी, कथा वार्ता। संसार की हर घटना एक कहानी है। मानव का जन्म और आर्य संस्कृति भी एक कहानी है। इसी तरह देवता और उनका अस्तित्व भी एक कहानी है। प्रकृति की कौन सी शक्ति कब और कहाँ किस रुप में प्रकट हुई और उसने मानवता की भलाई के

लिए क्या किया, किस तरह राक्षसों को मारा, दैत्यों को नष्ट किया और कैसे भले लोगों की रक्षा की, यह सब कहानी ही तो है। यही कहानी, यही वार्ता इस **भारथा** के रूप में हर एक गूर सुनाता है। सृष्टि का इतिहास, देवता के प्रकट होने की कहानी, उस समय की परिस्थितियों की कथा सब **भारथा** में बताया जाता है। और यह सारी कहानी न जाने कब से एक गूर से दूसरे गूर में प्रति ध्वनित होती चली आ रही है, बिलकुल उसी तरह जैसे वेदों की ऋचाएँ और पुराणों की कहानियां, अन्य कला एवं विद्या, ऋषियों, ब्राह्मणों उनके शिष्यों तथा अन्य कलाकारों और विद्वानों में एक से दूसरे को परिणित हुईं और व्यक्ति प्रति व्यक्ति, पीढ़ी प्रति पीढ़ी आगे चलती रहीं। आरम्भ में जब शब्द को आकार नहीं दिया गया था, तब सब कुछ ज़बानी एक से दूसरे व्यक्ति को कन्ठस्त होता रहा। उसके बाद हिमालय में भोज पत्रों पर और दक्षिण में ताड़ पत्रों पर ये वार्ताएं, ये कहानियाँ, ये मंत्र और ऋचाएँ लिखी जाने लगीं, केवल लिपि बद्ध रखने के लिए, अन्यथा पठन पाठन में तो मूखाग्र उन्हें फिर भी करना पड़ता था। स्मरण शक्ति तो मस्तिष्क का एक कार्य है। जब मानव ने दिमाग के इस कार्य को भोज पत्र और ताड़ पत्र पर अंकित करना आरम्भ किया, तब दिमाग का वह भाग जिसके जिम्मे स्मरण रखने का कार्य था, सुस्त पड़ने लगा, क्योंकि जिस अंग से काम न लिया जाए वह बेकार और नकारा हो जाता है। तब मानव का दिमाग कमज़ोर पड़ना शुरू हो गया क्योंकि उससे उसका काम छीन लिया गया, और अब जबकि कागज़ की अधिकता है, हर शब्द लिखा जाने लगा है, हालत और भी बिगड़ गई हैं। परन्तु भारथा की विशेषता यह रही कि वह किसी भोज पत्र पर या किसी कागज़ पर अंकित नहीं हुई। यह बात अलग है कि किसी एक गूर से दूसरे गूर तक वह भारथा उचित ढंग से न पहुंच पाई हो, अन्यथा ऋग्वेद काल के आरम्भ में जिस तरह विश्वासों, अनुश्रुतियों, परम्पराओं को सीना बसीना आगे चलाया जाता था वही अमल आज भी हमारे देवता और उस के गूर में बिलकुल उसी तरह जारी है। भारथा प्रकट नहीं की जाती, इसलिए लिखी नहीं जा सकती। हाँ भारथा देते हुए गूर के निकट बैठने से भारथा के कुछ शब्द और उसकी कुछ कड़िया सुनी जा सकती हैं और उनसे पता लगता है कि भारथा में सृष्टि के आरम्भ से लेकर देवता के प्रकट होने तक और उन से सम्बन्धित कितनी ही बातों पर रोशनी पड़ती है। भारथा श्रुति भी है और स्मृति भी। यह बात और श्रुति स्मृति का इस तरह से सीना बसीना आगे को चलाया जाना, जैसा

कि ऋग्वैदिक काल के आर्यों ने चलाया था कुलूत और इसके समवर्ती पहाड़ी क्षेत्रों के इलावा इस रूप में और कहीं है नहीं। ऋग्वैदिक काल की भांति देव शक्ति संचालन परिक्रिया तब से अब तक हमारे दैवी समाज में लगातार चली आ रही है, जो इस बात का स्पष्ट प्रमाण है कि इस पहाड़ी प्रदेश के रहने वाले लोगों ने इस डोर को हाथ से छोड़ा नहीं है, जिसके इतिहास का एक सिरा ऋग्वेद काल से जुड़ा है और दूसरा इन लोगों ने अपने हाथों में थाम रखा है। यहाँ के देवता, यहां के तीर्थ स्थान यहाँ के गूर, यहाँ के देव मन्दिर और लोगों की सामाजिक व्यवस्था तथा परम्पराओं का क्रम हमारे लिए संतोष जनक है और गर्व करने का कारण भी, कि हिमाचल की घाटियों और वादियों में बसा हुआ यह जन समाज ही वास्तव में ऋग्वैदिक काल के आर्यों की संस्कृति का भग्नावशेष है, जिसे श्री के० एम० पानीकर के निम्नलिखित विचार पूर्णतया सिद्ध करते हैं। उन्होंने अपनी पुस्तक "Survey of Indian History" के आरम्भ में ही यह लिखा है—

"Continuity of Indian life from the times immemorial is the supreme gift of the Himalayan range."

अर्थात "**बहुत प्राचीन समय से लेकर भारतीय जीवन में आ रहा अटूट प्रवाह हिमालय की घाटियों और वादियों का एक सर्वोच्च सुन्दर उपहार है।**" इस सम्बन्ध में यह लिखना भी दिलचस्पी से खाली नहिं होगा कि कुल्लू में गूर बनने के लिए ज़ात पात का कोई भेद भाव नहीं होता। कुछेक को छोड़ कर प्राय: सभी देवताओं के गूर किसी भी जाति से बन सकते हैं। यह सामाजिक नियम एवं देव प्रणाली एक बार फिर हमें उस काल से जा मिलाते हैं जब मनु का वर्णाश्रम धर्म अभी स्थापित न हुआ था, और जब ऋग्वैदिक काल का वह व्यापक समाज आर्य था और उनके विरोधी शत्रु थे वे दस्यु लोग जिनसे इनका टकराव था। जैसे उस समय हर एक शुद्ध हृदय और हर एक निर्मल आत्मा अपने देवताओं के दर्शन करती थी और उनसे बात कर सकती थी, वैसे ही आज के हमारे दैवी समाज में जाति भेद के बिना हर व्यक्ति गूर बन सकता है जिसका हृदय शुद्ध और आत्मा निर्मल है।

इसी सम्बन्ध में एक विचार पाठकों के समक्ष प्रस्तुत करता हूं।

ऋग्वेद काल के आर्यों ने प्रकृति की विभिन्न बड़ी बड़ी शक्तियों को देवता माना, और फिर जब आर्य संस्कृति का कोल, किरात और द्रविड़ संस्कृति से ताल मेल हुआ तब न केवल प्रकृति की उन्हीं शक्तियों के रुप और उनसे सम्बद्ध कल्पनाएं बदल गईं अपितु उनसे भी छोटी छोटी शक्तियों को लोगों ने अपनी पहुंच और समझ के अनुसार, कुछ भलाई के लिए और कुछ भय के कारण, देवता मानना आरम्भ कर दिया। इस सांस्कृतिक मेल से उत्पन्न हुई नव विचारधारा को भी पहाड़ी जन समाज ने अपनी अपनी समझ के अनुसार अपनाया। यह सांस्कृतिक परिवर्तन के बीच की एक कड़ी थी। और इसे भी हमारे लोगों ने थामने का प्रयत्न किया है। संस्कृति के इस बीच के दौर में जहां मूर्ति पूजा आरम्भ हुई वहाँ सुन्दर मूर्तियों के अतिरिक्त बेडौल पत्थर भी पूजे जाने लगे, चाहे उन्हें शालिग्राम का ही नाम दिया गया। पीपल और तुलसी पूजे जाने लगे यद्यपि वे वृक्ष और वनस्पति थे। चूंकि यह पढ़े लिखे लोगों की बातें थीं और उनसे कुछ धार्मिक कहानियाँ सम्बन्धित कर दी गई थीं, इस लिए साधारण लोगों ने भी अपने अपने ढंग से अपनी पूज़ा के लिए उनको स्वीकार किया। किसी अच्छी बड़ी चट्टान, किसी अच्छे बड़े वृक्ष में भी किसी देवता की आत्मा की कल्पना आने लगी। झील, सरोवर, चश्मा, घना वन, नदी के किनारे कोई स्थान, पहाड़ पर कोई मार्ग, इन सब वस्तुओं में प्रकृति की छोटी बड़ी शक्तियों का अस्तित्व माना जाने लगा। यद्यपि देखने में यह साधारण सी बात है, परन्तु यही सिद्धान्त धीरे धीरे बढ़ता बढ़ता वेदांत के स्तर पर आ कर उच्च आदर्श बन गया जहाँ उड़ान भरते हुए कवि की कल्पना उस परम शक्ति की सर्व व्यापकता का प्रत्येक वस्तु में आभास करने के लिए यूं तड़प उठी :—

मेरा शौके[1] जनूं ऐ काश ! आलमगीर[2] हो जाए,
कि जिस शै[3] पर नज़र डालूं, तेरी तस्वीर हो जाए।

इसलिए समझा जा सकता है कि प्रकृति की किसी भी चीज़ को सामने रख कर भले ही उसमें ईश्वर का पूर्ण रूप का अनुभव न हो, बल्कि प्रकृति की किसी छोटी शक्ति का भी अस्तित्व मान लिया जाए तो अन्ततः वह स्पष्ट दृष्टिकोण व्यापक होते होते वेदांत का रुप धारण करने में सहायता दे सकता है। संसार के बड़े बड़े धर्म ईश्वर को सर्व व्यापी मानते

१. मस्ती की इच्छा २. सर्वव्यापी ३. वस्तु

हैं, और हर एक वस्तु में भगवान को उपस्थित भी मानते हैं। तब किसी पत्थर और वृक्ष में ईश्वर की शक्ति मानने वाले ने क्या पाप कर दिया ? यदि ईश्वर सर्व व्यापक है तो पत्थर में भी हो सकता है, वृक्ष में भी हो सकता है, पानी में भी हो सकता है, अग्नि और वायु में भी हो सकता है। अतः हमारे इस जन समाज के जो लोग प्रकृति की इन छोटी शक्तियों के चक्कर में उलझे हुए हैं, वे उन लोगों से हजारों गुना अच्छे हैं जो निराकार ईश्वर और खुदा के नाम पर खून की नदियाँ बहाते फिरते हैं, मानवता से घृणा करते हैं, एक दूसरे को लूटते हैं, और इस तरह ईश्वर और प्रकृति का मज़ाक उड़ाते फिरते हैं। प्रकट है कि हमारे जन समाज ने न केवल सीधे ऋग्वैदिक काल की संस्कृति की कड़ी को पकड़ रखा है, बल्कि इसको बीच की कड़ी को भी थामें रखा है, जो ईश्वर की छोटी बड़ी शक्तियों को समझने में, उनसे शक्ति प्राप्त करने में, उनसे सहायता और मार्ग दर्शन प्राप्त करने में प्रयत्नशील रहती है। इस लिए हम डके की चोट से कहते हैं कि ऋग्वैदिक काल से ले कर आज तक की जिस जिस संस्कृति और उनके ताल मेल के प्रभाव हमारे सामाजिक प्रशासन पर पड़ते रहे हैं, उन सब के चित्रण किसी न किसी रंग में इस पहाड़ी समाज में मिलेंगे। यद्यपि ऋग्वैदिक काल की संस्कृति यहाँ स्पष्ट रुप से विद्यमान है, और विद्यमान रहेगी, जिससे प्रतीत होता है कि काल चक्र, युग परिवर्तन, और सांस्कृतिक टकरावों की उथल पुथल के उपरान्त भी पहाड़ों में मानव संस्कृति की रोशनी बुझी नहीं, बल्कि ऐसा हुआ है कि—

इक जन जाए दूजा आए
दीप से दीप जले

और वे दीप हमेशा जलते रहेंगे, जिन्हें रुचि हो वे इन दीपों के प्रकाश के सहारे ऋग्वैदिक काल के सप्त सिन्धु की सैर कर सकते हैं और उस संस्कृति की झलक देख सकते हैं जिसे चन्द्र भागा, रावी, व्यास, सतलुज, गंगा और यमुना की ऊँची ऊँची घाटियों और वादियों ने अब तक संसार के लिए सुरक्षित रखा हुआ है।

औटर सिराज के एक देवता की भव्य पालकी

बारहवाँ अध्याय

युग युग की बात

जिस कहानी की तलाश में हमने बहुत पहले यात्रा आरम्भ की थी, उसकी कुछ न कुछ रूप-रेखा हमें हर मंज़िल पर मिली। हम आगे बढ़ते रहे हैं, और इस फूल की बिखरी हुई पत्तियों को समेटते हुए, इधर उधर गिरे पड़े माला के मनकों को लड़ी में परोते हुए, आकाश में बिखरी हुई धुनों को सुर और ताल में बाँधते हुए आखिर वहाँ पहुंचे जहाँ विकसित और सुन्दर फूल तो नहीं उसका धुंधला सा चित्र अवश्य मौजूद था। जहां माला नहीं, माला का एक खाका खिचा हुआ मिला। जहाँ मधुर संगीत तो नहीं, परन्तु राग-रागनियों के हलके हलके आकार प्रकार बनते हुए सुनाई दिए और तब हम ऋग्वैदिक काल के उस युग में पहुँचे जहाँ से मानव संस्कृति की पहली किरण फूटी थीं, जहाँ शुभ प्रभात का रथ प्रकट हुआ था, और जहाँ से चलता हुआ मानव हर कदम एक क्रांति से टकराता हुआ, तूफान को चीरता हुआ और जीवन से अठखेलियां करता हुआ आज के युग तक पहुँचा है। कितनी लम्बी यात्रा थी यह और कितनी कठिन। फिर भी यदि उसके माथे पर शिकन उभरे, दिल में दर्द और सीने में तड़प पदा हुई हो तो उसके होंठों से मुस्कान भी कभी जुदा नहीं हुई। वह आकाश से पृथ्वी पर आया, परन्तु फिर भी आकाश के चित्र को उसने नहीं छोड़ा। पिछले अध्याय में ऋग्वैदिक काल के उस मानव का और उस संस्कृति का आज के मानव और उसकी संस्कृति से तुलना की गई तो ऐसा प्रतीत हुआ कि ऋग्वैदिक काल की वह कहानीं सम्भवतः अब भी कल की बात है। यद्यपि वे ऋषि आज नहीं हैं परन्तु उनके आश्रम आज भी भोले भाले लोगों का मार्ग दर्शन करते हैं। आज उन आश्रमों से हवन का धुआं नहीं उठता परन्तु उसकी कल्पना तो की जा सकती है। उस मिट्टी में अब भी वही आकर्षण है, उस वातावरण में अब भी वही शान्ति और उल्लास है, उन स्थानों के सौंदर्य में भी कमी नहीं आई है परन्तु ऐसा प्रतीत होता है कि शरीर है, आत्मा नहीं है। फिर भी सस्कृति की झलक विद्यमान है। यह सब कुछ पिछले अध्याय में हम पाठकों के सामने प्रस्तुत कर चुके है।

महा-शिव का ताण्डव, सृष्टि की हलचल, मनु और मानवता का जन्म, महा प्रलय, और उसके बाद सृष्टि की रचना ये सब बातें भी पाठकों

ने पढ़ लीं हैं और उनसे जो सम्बन्ध हमारी कहानी का है उस तथ्य का अनुभव भी पाठकों ने कर लिया होगा। आदि भृगु का भृगु तुंग पर तप करना और पहली बार अग्नि देवता को आकाश से उतार कर पृथ्वी पर प्रत्यक्ष लाना और हिमाचल के इस दामन में भृगु वंश के फैलाव की कहानी भी आपने पढ़ी। मलाणा नाम के गाँव में महर्षि जमदग्नि का आश्रम बना तथा मलाणा जनपद को जन्म देने का किस्सा भी आपने सुना। परन्तु उसी सम्बन्ध में महर्षि जमदग्नि के जन्म से सम्बन्धित कहानी हम बता न सके। सत्युग का सम्बन्ध कुलूत और हिमाचल की भूमि से जोड़ने का प्रयत्न हम करें और जमदग्नि की कहानी अधूरी रह जाए तो कुछ बात नहीं बनती। तो आइए कहानी की इस कड़ी को भी पूरा कर लें। उसी युग की बात है, हिमालय के इसी दामन में गाधि नाम का राजा राज करता था, जिसकी एक सुन्दर लड़की थी सत्यवती। भृगु वंश में आगे चल कर एक ऋषि ऋचीक हुए हैं जो छोटी आयु में ही तप और भक्ति में जुट गए। वह अस्सी वर्ष की आयु तक गृहस्थ के बंधनों से दूर रहे। एक दिन वे अकस्मात दूसरे ऋषि आश्रमों में जा निकले जहाँ उन्होंने ऋषि बालकों को उन आश्रमों में हँसते, खेलते और नाचते गाते हुए देखा। ऋषि ऋचीक के दिल में भी गृहस्थ आश्रम के इस सुन्दर जीवन को अपनाने का विचार हुआ, और दूसरे ही दिन वे महाराज गाधी के दरबार में जा धमके, और कहने लगे कि गृहस्थआश्रम धर्म के पालन के विचार से वे अपनी युवा पुत्री का विवाह उनसे कर दे। महाराज गाधी बड़े परेशान हुए। वे सोच भी नहीं सकते थे कि अपनी नौजवान प्यारी लड़की को एक अस्सी वर्ष के बूढ़े ऋषि के साथ कैसे व्याह देंगे। दूसरी ओर ऋषि के शाप देने का भी डर था। महारानी और मन्त्रियों से विचार विमर्श करने के बाद ऋषि के सामने यह शर्त रख दी गई कि यदि वे सात सौ सफेद घोड़े एक ही रूप रंग के कहीं से भी प्राप्त करके राजा के सामने पेश कर दें तो वे अपनी लड़की का उनसे विवाह कर देंगे। यह काम इतना सरल न था, परन्तु ऋषि ऋचीक निराश नहीं हुए। उन्होंने गंगा के तट पर जा कर मां गंगा की तपस्या आरम्भ की। कहते हैं कि जब गंगा माता ऋषि की घोर तपस्या से प्रसन्न हुई तो ऋषि के वरदान मांगने पर गंगा ने सफेद रंग के सात सौ घोड़े दे दिए जिन्हें ले कर ऋषि महाराजा गाधी राज के दरबार में पहुँचे। अब राजा के पास लड़की का ऋषि के साथ विवाह करने के सिवा और कोई चारा न था, और दिल से न चाहते हुए भी शादी करके लड़की को ऋषि के साथ भेज दिया। कुछ

दिन आश्रम में रहने के बाद ऋषि का मन गृहस्थ के बन्धनों से उकता गया और राज कन्या को वापिस माइके भेज दिया। महाराज गाधी और महारानी दोनों बहुत दुःखी हुए, परन्तु कुछ कर नहीं सकते थे। महाराजा गाधी के कोई लड़का तो था नहीं, इसलिए महारानी भी उदास रहती थीं। एक दिन लड़की से कहने लगी तुम्हारे पति बहुत बड़े ऋषि हैं यदि और कुछ नहीं तो उनसे अपने लिए और मेरे लिए पुत्र का वरदान ही मांग लो'। लड़की एक बार फिर अपने पति के आश्रम में जा पहुँची। कई दिनों तक पति सेवा करते-करते एक दिन जब ऋषि ने अपनी पत्नी से उदासी का कारण पूछा तो उसने डुबडुबाई आंखों से सन्तान की इच्छा प्रकट की, और मां के लिए भी पुत्र दान की मांग की। ऋषि ने पुत्रेष्टि यज्ञ किया और हवन की आग पर पकाए हुए चरु के दो गोले बना कर अपनी पत्नी को दिए। एक गोला अपनी पत्नी के लिए और एक उसकी माँ के लिए। पहला गोला सात्विक गुणों से भरा था और दूसरा राजस गुणों से,' क्योंकि वह एक राजा की रानी के लिए निर्धारित था, ताकि उसे खा कर महाराजा गाधी के यहाँ राजाओं के गुणों वाला लड़का पैदा हो। ऋषि ने पत्नि को निदेश दिया कि दोनो गोलों को अलग-अलग रखा जाय, और जो जिसके के लिए नियत है वही उसे खाए। मायके पहुँचने पर ऋषि की पत्नि ने अलग-अलग गोले माता को सम्भाल दिए। इसे अवसर की बात समझें, या भूल समझें या ईश्वर की इच्छा कहें कि गोले बदल गए। सात्विक गुणों वाला गोला तो महारानी गाधी ने खा लिया, और राजस गुणों वाला ऋषि पत्नि खा गई। परिणाम यह हुआ कि नियत समय पर दोनों के दो पुत्र पैदा हुए। ऋषि ऋचीक के लड़के का नाम जमदग्नि रखा गया, जो राजसी स्वभाव का पैदा हुआ और महाराजा गाधी का पुत्र विश्वमित्र कहलाया, जो सात्विक गुणों से युक्त था। इस भूल का पता तो गोला खाने के बाद ही मां बेटी को गर्भवती होते ही लग गया था, परन्तु तब क्या किया जा सकता था। तीर हाथ से निकल चुका था। भृगु वंशी ऋषि ऋचीक के पुत्र हुए महर्षि जमदग्नि,, उनके पुत्र भगवान् परशुराम औरउनकी धर्मपत्नी रेणुका सत्युग के अन्तिम दौर की महान आत्माएं हुई हैं, जिन के कारण न केवल कुलूत बल्कि सारा हिमाचल आज भी सत्युग से सीधा सम्पर्क स्थापित किए हुए दिखाई देता है। उस युग में हमारी कहानी का रंग रूप अधिकतः उनके कारण ही निखरता है, यद्यपि सत्युग में हमारी कहानी की और भी

बहुत सी कड़ियां हैं जिनमें अनेक संस्कृति की परम्पराएँ और अनुश्रुतियां हैं।

महर्षि जमदग्नि के जन्म से सम्बन्धित उपर्युक्त कहानी से सिद्ध होता है कि महाराजा गाधी के पुत्र विश्वामित्र रिश्ते के लिहाज़ से जमदग्नि के मामा थे। चूँकि सात्विक गुणों वाले चरू से उत्पन्न हुए थे, इसलिए राज घराने में पैदा होने के बावजूद उनका मन भक्ति और योग की ओर आकर्षित था। इसलिए वे न केवल ऋषि कहलाए बल्कि अन्त में ब्रह्मर्षि भी कहलाये। महामुनि बसिष्ठ और ऋषि विश्वामित्र का उल्लेख भी हमारी कहानी में कई बार आ चुका है। दोनों के संघर्ष का वर्णन भी आपने पढ़ लिया है, तथा आर्य संस्कृति की धारा को मोड़ने में इन दोनों ने जो काम किया है वह भी किसी से छुपी छुपाई बात नहीं रह पाई है। यही ऋषि विश्वामित्र थे जिन्होंने द्वापर युग में भगवान् राम को दक्षिण भारत की विजय के लिए तैयार किया था। कुछ विद्वानों का कहना है कि राजा गाधी कान्य कुब्ज के राजा थे। विश्वामित्र के पिता महाराजा गाधी कौन थे, इसके बारे में कुछ विश्वास से नहीं कहा जा सकता। परन्तु जब हम उस समय की परिस्थितियों और घटनाओं की ओर नज़र दौड़ाते हैं तो विचार आने लगता है कि यह भी हिमालय के दामन में किसी छोटे बड़ इलाके पर राज्य करते होंगे, क्योंकि गाधी शब्द राजा का नाम तो नहीं हो सकता। नाम तो अवश्यमेव कुछ और होगा और गाधी सम्भवतः उन लोगों के सम्बन्ध से कहा गया होगा जिन पर वे राज्य करते थे, जैसे कुल्लू के राजा को कोला राजा, लद्दाख के राजा को लद्दाखी राजा या तिब्बत के राजा को तिब्बती राजा कहा जाता था। अब प्रश्न पैदा होता है कि ये गाधी लोग कौन हो सकते हैं, जब कि ऐसे लोगों के होने का वर्णन कहीं आया नहीं है, **गद्दी** नाम से ऐसे लोग आज भी हैं, जिन के इलाके को आज भी **गधेरन** कहा जाता है। हो न हो **गद्दी** और **गधेरन** शब्द गाधी से बिगड़ कर बने हों, क्योंकि कुल्लू के इतिहास में चम्बा और गधेरन के राजा का उल्लेख गद्दी राजा के नाम से आया है. और इसकी सेना को **गद्दी सेना** कहा गया है। कुल्लू में जिस स्थान पर उसने पड़ाव डाले थे वह जगह आज भी **"गद्दी-पौधर"** के नाम से मनाली से कुछ दूर ऊपर स्थित है। गाधी से बिगड़ कर गद्दी शब्द उच्चारण भेद से बिलकुल उचित प्रतीत होता है। और यदि यह ठीक है तो महाराजा गाधी और ऋषि विश्वामित्र का भी सम्बन्ध कुलूत देश की कहानी से बन जाता है, क्योंकि चम्बा

गधेरन और कुलूत देश की सीमाएँ आपस में बिलकुल साथ मिलती हैं, बल्कि हो सकता है कि उस समय यह सब इलाका कुलूत में ही शामिल हो। एक ऐतिहासिक तथ्य के अनुसार चम्बा राजा ने भी कुलूत राजा को स्वकुल्य कहा है।

महर्षि जमदग्नि किस तरह मलाणा में आये और किस तरह उन्होंने बाणासुर को अपनी आध्यात्मिक शक्ति से नीचा दिखा कर मलाणा को अपना केन्द्र बनाया इसका सार इसी कहानी में पहले आ चुका है। परन्तु महर्षि जमदग्नि की कहानी तो एक विस्त्रित क्षेत्र में फैली हुई है जिसके प्रमाण ज़िला सिरमौर में जमदग्नि का टीला, रेणुका की पवित्र झील हैं, जहां हर वर्ष बड़ा भारी मेला लगता है। इस सम्बन्ध में हमारी कहानी की एक ज़रूरी कड़ी का सम्बन्ध महर्षि जमदग्नि के कनिष्ठ पुत्र भगवान् परशुराम से भी है, जिन का प्राचीन मन्दिर औटर सिराज में निरमण्ड के स्थान पर है। हिमालय के दामन में भगवान् परशुराम का यह प्राचीन मन्दिर भारत वर्ष भर में विशेष महत्व रखता है। परशुराम के बारे में एक बात बड़े जोरदार शब्दों में कही जाती है कि उन्होंने इक्कीस बार क्षत्रीय वंश का नाश किया था। इतिहास की गहराई में छान-बीन करने से यह बात बिलकुल सच नहीं मानी जा सकती। इतनी बात जरूर है कि ऐसे क्षत्रीय राजाओं को मिटाने में उन्होंने कसर नहीं छोड़ी जो अपने धर्म से गिर चुके थे। इन में से एक ऐसा बहुत शक्तिशाली राजा कार्तवीर्य अर्जुन भी था जिसे सहस्रार्जुन भी कहा जाता है। इस राजा ने आर्य होते हुए भी न केवल आर्य संस्कृति के असूलों की धज्जियां उड़ाई थीं, बल्कि परशु-राम के पिता जमदग्नि के साढ़ होते हुए भी उनके आश्रम को जलाया था और लूट मार की थी। इसमें कोई शक नहीं कि ऐसे राजाओं को और इस तरह के लोगों के लिए परशुराम एक आफत का परकाला था। जिस ओर उनका कुल्हाड़ा चलता था बेइमान और अधर्मी लोग गाजर मूली की तरह कटते थे। सप्त सिन्धु में ऐसी सैंकड़ों लड़ाइयां लड़ने के बाद और हज़ारों आदमियों को धराशायी करने के उपरान्त परशुराम हिमालय की ओर बढ़ा, और निरमण्ड के स्थान पर आकर तप और भक्ति में लग गये। इसी जगह उन्होंने इस खून खराबे का प्रायश्चित करने के लिए नरमेध यज्ञ भी किया था, जो आज तक **निरमण्ड भूण्डे** के नाम से हर बारह बर्ष के बाद किसी न किसी रूप में मनाया जाता है। एक किम्वदन्ती के

अनुसार अपने पिता की आज्ञा का पालन करते हुए परशुराम जी ने अपनी मां का शिर किसी अपराध के बदले काट तो डाला परन्तु मातृ हत्या का अपराध अपने शिर में लिया"। तब वे उस निर्मुण्ड शव को लेकर इस स्थान पर आए और पिता से ही आज्ञा पालन की प्रसन्नता में माँ के लिए जीवन दान भी प्राप्त किया जिसके फलस्वरूप अम्बा (रेणुका) जीवित हुई, और उनकी प्रतिष्ठा में वहां अम्बिका का मन्दिर बना। एक दूसरी कथा के अनुसार परशुराम ने इसी स्थान पर अपनी मां के शरीर को निर्मुंड कर दिया था और तब अपने पिताजी की अनुमति से नरमेध यज्ञ कर के अम्बा के लिए फिर से जीवन प्राप्त करने की सफलता पाई थी। इसी से इस स्थान का नाम **निर्मुण्ड से बिगड़ कर निमण्ड** हो गया और इस स्मृति में बारह साल के उपरान्त यहां भून्डा अर्थात नरमेध होना आरम्भ हुआ।

इस स्थान पर सब से महत्वपूर्ण और उल्लेखनीय यादगार परशु-राम की वह गुफा है जहां उन्होंने तप किया था और जहां आज भी उनकी निजी प्रयोग में लाई जाने वाली वस्तुएँ रखी हुई हैं। कहा जाता है कि इस गुफा में उनकी वह अंगूठी भी रखी हुई है जिसका घेरा डेढ़-दो इंच से कम नहीं है। उसी गुफा में एक बहुत बड़ा गेहूं का दाना रखा हुआ बताया जाता है। यह गुफा बारह वर्ष के बाद खुलती है और भूण्डे की रसम अदा करने के लिए इस गुफा से सामान बाहर लाया जाता है। जो आदमी अन्दर जाता है वह उस विशेष वंश का ही सदस्य होता है जिनको यह कार्य प्राचीन समय में सौंपा गया था। इस आदमी को केवल लंगोटी लगा कर और आँखों पर पट्टी बांध कर अन्दर जाना पड़ता है, और ऐसी स्थिति में उस समय जो भी वस्तु उसके हाथ लगती है उसे वह बाहर लाता है। निरमण्ड में दो ऐसे कुण्ड हैं जिनका सम्बन्ध **भूण्डे** अर्थात नरमेध यज्ञ की रसम से है। एक कुण्ड परशुराम के मन्दिर में है जिसके खुलने से भूण्डे की कार्यवाही आरम्भ होती है। यहां तीसरे दिन एक बकरा बलि दिया जाता है। दूसरा कुण्ड अम्बिका के मन्दिर में है जो छः महीने पहले खुलता है। यहां एक बकरा प्रतिदिन बलि दिया जाता है। भूण्डे की रसम लगभग छः महीने पहले आरम्भ हो जाती है। इस कुण्ड के खुलने पर गाँव के बीच की सूखी बाउड़ी का स्रोत भीगना आरम्भ हो जाता है, और भूण्डे की अन्तिम रसम के अदा होने पर पूरा झरना बन जाता है,। इसी का पानी भूण्डे की रसम में प्रयुक्त होता है, और इसी पानी का कलश भर

भूण्डा (नरमेध यज्ञ) में कलश यात्रा

भगवान परशु राम (निर्मण्ड) के मन्दिर का बाह्य भाग

कर अन्त में परशुराम जी की गुफा में रख दिया जाता है। युग बीत गए परन्तु ऐसा लगता है कि हर बारह वर्ष के बाद भगवान् परशुराम अपनी इस तपो भूमी की सुध लेते हैं, और अपने लोगों को झूठ, द्वेश, बुराई और बेईमानी से मुकाबला करने की सर्वदा प्रेरणा देते हैं। सत्युग के साथ हमारी कहानी की यह अन्तिम कड़ी है। सीता स्वयंवर में शिव धनुश तोड़ लेने के बाद और श्री राम से टकराव हो जाने के उपरान्त ही परशुराम हिमालय में तप करने चले आये थे, और रामावतार से द्वापर युग आरंभ होता है।

द्वापर युग—रामायण काल

द्वापर युग को रामायण काल भी कहा जाता है, और इस काल में हमारी कहानी का जो सम्बन्ध उस समय की परिस्थितियों से रहा है उनका वर्णन आरम्भ के अध्यायों में आ चुका है, जिसमें यह सिद्ध किया गया है कि द्वापर युग में भी कुलूत देश इसी नाम से मौजूद था। बाल्मीकी रामायण में भी, जो उस युग का दर्पण माना जाता है, कुलूत का वर्णन आया है। परन्तु जो बात इस अध्याय में अब हम पाठकों को प्रस्तुत करने जा रहे हैं, वह बात सम्भवतः ऐसी है जो बहुत कम लोगों को ज्ञात है। महा. राज मनु के आठ लड़कों में से बड़ा लड़का इक्ष्वाकू था, जिसकी राजधानी अयोध्या में थी। सैंकड़ों वर्षों तक इस वंश का राज उत्तरी भारत में रहा। इसमें अच्छे-अच्छे शक्तिशाली राजा हुए। परन्तु आर्यों की विजय विंध्याचल पर्वत से आगे दक्षिण की ओर नहीं बढ़ सकी। इसके मुकाबले में दक्षिणी भारत के बड़े-बड़े राजे जिनमें रावण भी शामिल था किसी न किसी रास्ते उत्तरी भारत के इलाकों पर छापे मारते थे। कहा जाता है कि किसी समय रावण ने हिमालय तक आक्रमण किये थे, लूट मार की थी और ऋषि आश्रमों को जलाया था। यह भी कहा जाता है कि रावण ने कांगड़े में बैजनाथ के स्थान पर महाकाल की अराधना की थी और अपने सिर काट-काट कर हवन कुण्ड में डाले थे। कुछ भी हो दक्षिण भारत के द्रविड़ तथा दूसरे कबीलों को पराजित करना उत्तर के आर्य राजाओं का देर से एक स्वप्न सा रहा था, परन्तु इसे साकार करने के लिए बड़ी शक्ति और दृढ़ साहस की आवश्यकता थी। दक्षिण भारत में आर्य संस्कृति का फैलाव द्वापर युग के आरम्भ तक नहीं हो सका था, और यह बात आर्य ऋषियों और राजाओं के दिलों में बुरी तरह खटक रही थी। कठिनाई यह थी कि दक्षिणी भारत के लोगों की संस्कृति नितांत

भिन्न थी और अपनी संस्कृति की रक्षा के लिए वहां के सभी राजे और सब लोग बड़े सतर्क तथा जागरुक थे। दक्षिण भारत को जीते बिना न तो चक्रवर्ती राज्य स्थापित हो सकता था और न ही आर्य संस्कृति का फैलाव पूर्ण होता था। दोनों बातें ऐसी थीं जिन्हें उत्तरी भारत के सारे आर्य ऋषियों ने मिल कर सोचा और बहुत विचार-विमर्ष के बाद इस परिणाम पर पहुँचे कि दक्षिणी भारत पर विजय तब तक नहीं पाई जा सकती जब तक उन लोगों में आपसी फूट और विरोध न डाले जाएं और तब आर्यों का इतना शक्तिशाली राजा पैदा किया जाए जिसके अन्दर आध्यात्मिक शक्ति द्वारा प्रकृति की वे सभी शक्तियां भर दी जाएँ जिससे दक्षिण भारत की विजय हो सके। उस समय अयोध्या में उपर्युक्त इक्ष्वाकू वंश के राजा दशरथ का शासन था, और महामुनि वसिष्ट उनके पुरोहित थे। राजा की तीन रानियां थीं परन्तु संतान किसी से भी नहीं थी। चूंकि उत्तरी भारत में यही एक सुदृढ़ और शक्तिशाली शासन था, जिसके शासक राजा दशरथ थे, इसलिए ऋषियों ने, जो राजा के मंत्री भी होते थे, यही निर्णय किया कि किसी भी प्रकार से राजा दशरथ के यहाँ संतान होनी चाहिए, और उसमें वह शक्ति भर दी जानी चाहिए जो आर्य संस्कृति के विस्तार के लिए एक चमत्कार बन सके। परन्तु यह कैसे हो सकता था प्रथम तो राजा दशरथ के यहां संतान भगवान् की इच्छा के विरुद्ध पैदा हो ही नहीं सकती थी और यदि उचित यज्ञ करके ऐसा सम्भव भी बनाया जा सके तो आर्य ऋषि कोई नजर नही आता था, जो ईश्वर की शक्तियों को जगा कर राजा दशरथ की होने वाली संतान की जन्म घुट्टी में डाल सके। बहुत सोच विचार के बाद यह अनुभव किया गया कि ऐसा बाल ब्रह्मचारी तपस्वी और महान योगी जिसने जीवन में स्त्री का मुख तक न देखा हो, राजा दशरथ के यहाँ आकर पुत्रेष्टि यज्ञ करवाए और हवन की अग्नि पर बना चरु यदि रानियों को खिलाया जाए तो प्रकृति की एक बहुत बड़ी शक्ति को नियंत्रण में लाया जा सकता है। ऐसे बाल योगी की खोज के लिए चारों ओर आदमी दौड़ाए गए और विशेषत: हिमालय की घाटियों और वादियों की छान-बीन आरम्भ हुई। बहुत दिनों के बाद कुलूत देश में ऐसे एक महान ऋषि का पता चला जो ऋषि श्रृंग के नाम से सुप्रसिद्ध थे। ये बाल ब्रह्मचारी, वेद वक्ता, उज्वल तेज वाले महान तपस्वी थे, जो यह भी नहीं जानते थे कि स्त्री नाम की कोई वस्तु संसार में
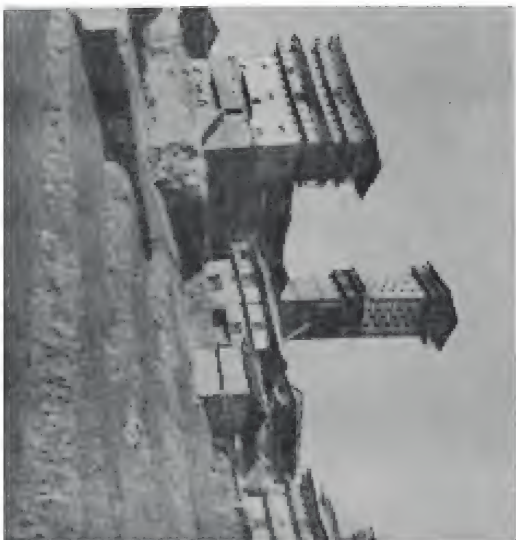
चेहणी कोठी—ऋषि श्रृंग का मन्दिर और भण्डार

"सकीर्न टीला"

ऋषिवर श्रृंग का आदि स्थान

बंजार से ऊपर शृंगी ऋषि का नया मन्दिर

होती है। ऋषि श्रृंग ने न केवल राजा दशरथ का पुत्रेष्टि यज्ञ सम्पन्न कराय बल्कि अपना सारा योग बल भी उन्होंने उस चरु में डाल दिया जो रानियों को खिलाया गया। इस यज्ञ की समाप्ति के बाद नियत समय पर महा-रानी कौशल्या के रामचन्द्र, सुमित्रा के लक्ष्मण और शत्रुघन तथा कैकेयी के भरत पैदा हुए। उत्तरी भारत के सभी ऋषियों की आँखें राम की ओर लगी हुई थीं। इसलिए जब जरा बड़े हुए तो ऋषि विश्वामित्र यज्ञ की रक्षा करवाने के बहाने राम और लक्ष्मण को अपने साथ जंगलों में ले गए। दस्यु लोग दक्षिणी भारत से आ कर उत्तरी भारत में ऋषियों की तपस्या में खलल डालते थे। अतः ऋषि विश्वामित्र ने राम और लक्ष्मण को अपने आश्रम में रख कर जहां सब प्रकार की शस्त्र विद्या में माहिर बनाना आरम्भ किया, वहां दक्षिणी भारत के उन राक्षसों के लड़ने के कला कौशल से भी उन्हें व्यवहारिक रूप में भली भाँति परिचित कराया, और इस तरह आने वाली उस महान लड़ाई के लिए उन्हें तैयार किया जिसके लिए ये सारी योजनाएं बनाई गई थीं। राम की दूसरी परीक्षा सीता स्वयंवर में कराई गई। जिस शिव धनुष को तोड़ने में रावण भी सफल न हो सका था, उसे श्री राम ने तोड़ा। राम की शक्ति की तीसरी परिक्षा लेने के लिए भगवान परशुराम स्वयं आये। उन्होंने शिव धनुष से भी मज़-बूत अन्य धनुष पर राम को चिल्ला चढ़ाने के लिए कहा। राम इस परीक्षा में भी सफल हुये। इस अन्तिम परीक्षा के बाद सारे आर्य ऋषियों को यह विश्वास हो गया कि प्रकृति की एक बहुत बड़ी शक्ति को साक्षात करने की जो योजना उन्होंने बनाई थी, और जिस योजना की सफलता के लिए हिमा-लय से ऋषि श्रृंग को बुलाया गया था वह योजना अब पूरी हो चुकी थी। इसके बाद जो कुछ हुआ और जिस प्रकार ऋषियों ने विन्ध्याचल पर्वत पर अपने आश्रम बनाए और स्थानीय लोगों को धीरे-धीरे अपने प्रभावाधीन लाया, जिस ढंग से साधु वेश में राम को दक्षिण भारत में ले जाया गया, जिस तरह दक्षिण भारत के लोगों में फूट और विरोध डाल कर अपना साथी बनाया गया और तब उन्हीं लोगों की एक बहुत बड़ी शक्ति खड़ी करके लंका पर आक्रमण हुआ और दक्षिण पर आर्य संस्कृति की विजय पूर्ण की गई, यह भारतीय इतिहास का एक सुनहरी अध्याय है। धार्मिक दृष्टि से चाहे इसे किसी रंग रूप में देखा जाय यह ऐतिहासिक तथ्य है जिसे अपने ढ़ंग से और विजेताओं की परम्परा अनुसार अलग धार्मिक रंग दिया गया है। दक्षिणी भारत में आर्य संस्कृति का फैलाव मुकम्मिल हुआ। सारा भारत एक चक्रवर्ती राज्य के अधीन आया। स्पष्ट है कि इस

सफलता की पृष्ट-भूमि पर जो विभूति उभरती है और इस योजना की पूर्ण सफलता के लिए जिस महान पुरुष को सबसे अधिक महत्व मिलना चाहिए और दुर्भाग्य से यह महत्व प्राप्त नहीं हुआ, वे थे ऋषि शृंग। न होते ऋषि शृंग जैसे महान तपस्वी और बाल ब्रह्मचारी, न हो पाता राजा दशरथ का पुत्रेष्टि यज्ञ, तब न पैदा होते राम, न होता दक्षिण भारत में आर्य संस्कृति का फैलाव और न स्थापित हो पाता भारत में एक छत्र राज्य। यह खेल था जिसे खेलने में आर्यावर्त के सभी ऋषियों ने हाथ बटाया, परन्तु यह खेल ऋषि शृंग के बिना संभवतः ऐसा स्वप्न होता जो कभी साकार न हो पाता।

निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता कि शृंगी ऋषि हिमालय में किस स्थान पर पैदा हुए, परन्तु जिस जगह वे रहे, जहां उन्होंने तप किया, जहां से जाकर उन्होंने राजा दशरथ के पुत्रेष्टि यज्ञ को सम्पूर्ण किया, वह स्थान कुलूत देश में इन्नर सिराज के इलाके में बंजार से आठ मील ऊपर आज भी '**स्कीर्न टीला**' के नाम से प्रसिद्ध है। बंजार से थोड़ी दूर ऊपर ऋषि शृंग का आठ मंज़िला मन्दिर आज भी खड़ा है जहाँ सिराज के लोग विशेषतः तथा कुल्लू भर के लोग साधरणतयः सम्मान देने के लिए आते हैं। शृंगी ऋषि के नाम से सिराज का यह सबसे बड़ा देवता द्वापर युग में भगवान राम के अवतरण सम्बन्धी इतिहास पर अपनी अमिट छाप लगाता हुआ हिमालय में रहने वाले सभी पहाड़ी लोगों के लिए गर्व एवं सम्मान का विषय है। केवल कुलूत ही नहीं समस्त हिमालय की धरती गौर्वान्वित होती है यह जान कर कि राम जन्म योजना का मुख्य अभिनेता और रामायण की पृष्ठ-भूमि को उभारने वाला महान ऋषि इसी भू-भाग से सम्बन्धित है और उसका प्राचीनतम मन्दिर आज भी यहां मौजूद है। यह वह दीप है जो हमारी संस्कृति की झिलमिलाहट को द्वापर युग की संस्कृति के प्रकाश से जा मिलता है, और वह प्रकाश फिर कलियुग में भगवान राम की प्राचीनतम मूर्ती के रूप में अयोध्या से कुल्लू आ कर स्थापित हो जाता है और हमारी कहानी की त्रियुगी कड़ी को जोड़ देता है जिसका वर्णन आगे आयेगा।

त्रेतायुग महाभारत काल

त्रेता युग प्रायः महाभारत काल माना जाता है। इस युग ने महाभारत काल की आर्य संस्कृति को एक और ही मोड़ दिया है। इस युग के नेता भगवान कृष्ण, उनके साथी पाण्डव और महर्षि वेद व्यास हुए हैं।

द्वापर युग में सीता हरण होने के कारण रामायण का प्रसिद्ध और महान युद्ध लड़ा गया था। परन्तु महाभारत की कहानी में किसी स्त्री का हरण किया जाना कारण नहीं समझा गया। भगवान् कृष्ण ने स्वयं रुकमणी का हरण किया और अर्जुन ने कृष्ण की बहिन सुभद्रा का। श्री राम एक पत्नी व्रत रहे तो भगवान कृष्ण का तीन सौ साठ गोपियों से सम्बन्ध बताया गया। बहु पत्नी प्रथा का भी, जिसे "Polyandry" कहते हैं, इस युग में रिवाज पड़ा, जिसका कि हिमालय की संस्कृति से गहरा सम्बन्ध रहा है। बहुपति प्रथा भी उस युग में सुनने में आई है। ऋग्वैदिक काल के इन्द्र देवता की पूजा का महत्व श्री कृष्ण भगवान् ने गोवर्धन पर्वत को उँगली पर उठा कर समाप्त किया। भीमसेन ने हिडिम्बा नाम की निषाद कन्या से विवाह करके यह सिद्ध किया कि उस ज़माने में जात-पात को विशेष महत्व प्राप्त नहीं था। इसी तरह अर्जुन ने भी नाग कन्या अलूपी से विवाह किया और मणिपुर की गन्धर्व कन्या चित्रांगदा से भी शादी की। श्री कृष्ण चूंकि स्वयं ऐसे कबीले में आकर पले थे जो गौ-पाल थे, इसलिए इस युग में गौ की महानता बढ़ी है और गौ का धार्मिक रूप उभारा गया, हालांकि रामायण काल में भव-भूति के लिखे अनुसार एक ऋषि के विशेष अतिथि सत्कार के लिए बछड़े काटने का वर्णन आया है, जिसका उल्लेख श्री विनोबा जी ने अपनी पुस्तक '**गीता प्रवचन**' में किया है *। रामायण काल में जहां श्री राम ने आर्य संस्कृति के प्रसार के लिए दक्षिणी भारत के राजाओं और कबीलों को भी आपस में लड़ाया वहां महाभारत में आर्य राजाओं और कबीलों का आपस में ही टकराव हुआ और इस तेज़ी से हुआ कि आर्य संस्कृति की बुनियादें हिल गईं। सब आर्य-वीर इसमें समाप्त हुए। यादव वंशी आपस में कट मरे और भगवान कृष्ण अपने वंश को नहीं बचा सके। यहां तक कि यादव वंश की स्त्रियों का अपमान हुआ। जब अर्जुन उन हज़ारों स्त्रियों को लेकर कुरुक्षेत्र की ओर आया तो मार्ग में अहीरों ने उन्हें लूट लिया और अर्जुन मुँह देखता रह गया। यह वही अर्जुन था जिसने महाभारत का युद्ध जीतने में सबसे महत्वपूर्ण भाग लिया था। महाभारत की लड़ाई के बाद ही वर्णाश्रम धर्म टूटने लग पड़ा था, और वर्ण-संकर संन्तान पैदा होनी आरम्भ हुई थी। एक विचित्र कहानी थी यह जिसे धार्मिक रंग-रूप देकर धर्म-युद्ध घोषित किया गया, हालांकि वास्तविकता यह है कि इस धर्म युद्ध ने ही एक ऐसे अधर्म को जन्म दिया जिससे आर्य संस्कृति के पिंजर ढीले हो गये और इस के बाद ही आर्य संस्कृति का रूप-रंग क्षीण और मलीन होना आरम्भ

* गीता प्रवचन पृ० सं०

हुआ। सच पूछो तो महाभारत युद्ध धर्म की रक्षा के लिए कम और **'अधिकार संरक्षण'** (Protection of Rights) के लिए विशेष तौर पर लड़ा गया क्योंकि दुर्योधन ने **"सूच्यग्रे न केशव"** कह कर पाण्डवों को पांच गांव देने से भी इन्कार कर दिया था। मालूम होता है तभी से **"अधिकार संरक्षण"** जन जीवन और संस्कृति के अंग बन गये और धर्म रक्षा उपेक्षित हो गई। भले ही महाभारत काल की एक बड़ी विशेष देन गीता के रूप में संसार को मिली, परन्तु राष्ट्र और जाति के खून में अपवित्रता और चरित्र में गिरावट आ जाने के बाद यदि गीता जैसा ज्ञान मिल भी गया तो किस काम का। सम्भवत: यही कारण है कि जिस देश में गीता जैसे ज्ञान का प्रादुर्भाव हुआ, और जो अपने आप को इस महान ज्ञान का प्रवर्तक मानता है, वही देश क्रियात्मक रूप में उस ज्ञान से वंचित है, और उस देश में रहने वाले लोगों के जीवन में गीता ज्ञान की असली शक्ल व सूरत बहुत कम दखने में आ रही है।

हम अपने विषय में कुछ आगे निकल गये। भाव केवल यह है कि दो युगों के बीच संस्कृति के अन्तर को पाठकों के लिए स्पष्ट किया जाए और यह देखा जाय कि बदली हुई संस्कृति में त्रेतायुग की कौन-कौन सी घटनाएँ और दुर्घटनाएँ ऐसी हैं जिनका सीधा सम्बन्ध कुलूत देश की कहानी से जुड़ता है। जैसा कि ऊपर लिखा गया है इस युग के मुख्यत: तीन अभिनेता भगवान श्री कृष्ण, वेद व्यास और पाण्डव माने गये हैं। जहाँ तक श्री कृष्ण का सम्बन्ध है, हमारी कहानी में दूर-पार से भी सम्बन्ध की कोई कड़ी सीधी कुलूत देश से जुड़ती नहीं है, सिवाए एक घटना के जहाँ **भलियाणी** गांव में श्री कृष्ण ने एक बहुत बड़ नागराजा को परास्त किया और वहां श्री कृष्ण ही आज ग्राम देवता के रूप में सर्वोपरी मान्य हैं। हाँ श्री कृष्ण के पोते **प्रद्युम्न** का विवाह **शोणितपुर** के राजा **बाणासुर** की पुत्री **ऊषा** से होने का वर्णन महाभारत में आया है। शोणितपुर सराहन नाम की जगह रामपुर हिमाचल प्रदेश में स्थित है। कहानी के इस अंग का विस्तार आगे आयेगा।

महर्षि वेद व्यास **मत्स्य गंधा** की कोख से पैदा हुए **पाराशर मुनि** के पुत्र थे। श्री वेद व्यास का व्यक्तित्व त्रेतायुग में या महाभारत काल में विशेष महत्व रखता है। वास्तविकता यह है कि जिन पाण्डवों और कोरवों के कारण महाभारत का युद्ध हुआ उनकी रगों में वेद व्यास का ही खून दौड़ता था, और वेद व्यास के कारण ही महाराज शांतनु की वंश परम्परा

द्वैपायन आश्रम (दरपोइन) महर्षि वेद व्यास का जन्म स्थान।

कायम रह सकी । कहा जाता है कि जिस मत्स्य गंधा से, जिसका दूसरा नाम सत्यवती भी था, पाराशर का पुत्र वेद व्यास पैदा हुआ था उसी पर बाद में शान्तुनु महाराजा आसक्त हो गए और उससे विवाह करके दो लड़के विचित्र वीर्य और चित्रांगद पैदा किए। चित्रांगद युवावस्था में ही गंधर्वों के साथ लड़ाई में मारा गया था और विचित्र वीर्य बिना सन्तान के मर गया था। यद्यपि महारानी गंगा से शान्तनु का लड़का भीष्म जीवित था, परन्तु वह आयु भर ब्रह्मचारी रहने का व्रत ले चुका था, और महाराजा शान्तनु के वंश के भविष्य की कड़ियाँ टूटती हुई नज़र आने लगीं थीं इसलिए यह योजना बनाई गई कि वेद व्यास का विचित्र वीर्य की विधवा रानी से नियोग कराया जाए, और इस तरह शान्तनु की वंश परम्परा को कायम रखा जाए। वेद व्यास को इस के लिए तैयार किया गया और नियोग के परिणाम स्वरूप धृतराष्ट्र और पाण्डु दो लड़के पैदा हुए। धृतराष्ट्र के दुर्योधन आदि सौ पुत्र कौरव, और पाण्डु के युधिष्टर आदि पांच पुत्र पाण्डव कहलाए, जिनके आपसी टकराव को महाभारत युद्ध का नाम दिया गया हालांकि दोनों की रगों में मूलतः वेद व्यास का ही रक्त संचार कर रहा था। इसलिए जब हम महाभारत की कल्पना करते हैं तो दोनों पक्षों के बीच एक साँझी चित्र उभरता है महर्षि वेद व्यास का। यह तस्वीर और भी उज्वल होती है जब हम देखते हैं कि दोनों ओर से अपने रक्त को लड़ाने के लिए भी जो प्रेरणा भगवान कृष्ण ने अर्जुन को दी उसका चित्रण भी किया महर्षि वेद व्यास की लेखनी ने और तब मिला सँसार को गीता जैसा महान और पवित्र ग्रन्थ। अतः स्पष्ट रूप से सिद्ध होता है कि महाभारत काल की अधिकांश महत्वपूर्ण एवं मौलिक घटनाओं पर तो श्री वेद व्यास का ही व्यक्तित्व छाया हुआ है। और इसी युग में उन्होंने वेदों की ऋचाओं का संकलन और पुराणों की रचना की। पुराणों की कथाओं से उस समय की घटनाओं और स्थानों का आज के स्थानों से अंदाज़ा लगाना काफी कठिन काम है। पाराशर मुनि की सत्य-वती से भेंट कहाँ हुई, इसके बारे में विश्वास से कुछ नहीं कहा जा सकता और यह भी नहीं कहा जा सकता कि वेद व्यास जी का जन्म कहां हुआ। हाँ इतनी बात तो स्पष्ट है कि श्री वेद व्यास का शास्त्रोक्त नाम कृष्ण द्वैपायन था जो उनके वेद विशारद होने तक प्रचलित रहा।

यह बात भी ठीक है कि पाराशर मुनि हिमालय में तप करते थे और जिस स्थान पर उन्होंने तप किया वह कुलूत देश में **'कमाँद'** नाम गाँव

से ऊपर कोठी **महाराजा** में स्थित है। इसी प्रकार मण्डी में भी इसी पर्वत शृंखला के समीप पाराशर आश्रम स्थित है। कमाँद से थोड़ी दूरी पर '**दरपोइण**' नाम का गाँव और देव स्थान आज भी मौजूद है जो द्वैपायन शब्द का ही बिगड़ा हुआ रूप प्रतीत होता है। इस जगह का नाम '**दरपोइण**' ज़रूर है परन्तु देव मन्दिर पाराशर का ही माना जाता है। अब इस सच्चाई को केवल इत्तिफाक की बात नहीं कहा जा सकता और न ही बाद की बनावट कहा जा सकता है। पाराशर का प्राचीन आश्रम और उसके साथ ही उनके पुत्र **कृष्ण द्वैपायन** के नाम से "**दरपोइण**" गाँव का होना इस बात का पूर्ण प्रमाण है कि बचपन से ही श्री वेद व्यास का पालन-पोषण इस पाराशर आश्रम में हुआ। ऐसा भी हो सकता है कि बाद में आकर **द्वैपायन** ने अपने पिता के आश्रम के पास ही तप किया हो, और तब उनके नाम के कारण ही इस स्थान का नाम 'दरपोइण' पड़ा हो। कुछ भी हो इस ठोस हकीकत से तो किसी भी तरह इनकार नहीं किया जा सकता कि कुलूत देश के इस विशेष स्थान पर मुनि पाराशर और उनके पुत्र कृष्ण द्वैपायन आ कर न रहे हों, और उन्होंने यहां तप न किया हो। कमाँद से ऊपर पाराशर आश्रम और ढालपुर से ऊपर पहाड़ की चोटी पर दरपोइण आश्रम निःसन्देह ऐसे सुन्दर और आकर्षक स्थान हैं जो ऋषि आश्रम बनने के लिए नितान्त उचित और उत्तम माने जा सकते हैं। जिस **युग** की यह बात है उस युग में व्यास नदी जिसे उस समय **विपाश** कहा जाता था, सम्भवतः ढालपुर मैदान के पास उस जगह बहती थी जहाँ आज कल ज़िला कचहरी और वन विभाग के कार्यालय और सर्कट हाऊस आदि स्थित हैं।

दुर्भाग्य से महाभारत की कथा और हमारा इतिहास यह स्पष्ट करने में असमर्थ है कि कृष्ण द्वैपायन का नाम वेद व्यास कब पड़ा। परन्तु व्यास नदी और उसके मूल स्रोत व्यास आश्रम का सीधा सम्बन्ध महर्षि वेद व्यास के साथ होने में कोई आपत्ती प्रतीत नहीं होती। कहते हैं कि महर्षि ने भृगुतुंग (रोहताँग) पर्वत शृंखला में इसी स्थान पर तप किया था जिसके कारण न केवल इस स्थान का नाम व्यास ऋषि पड़ा बल्कि इस नदी का नाम विपाश के स्थान पर व्यास हुआ। जो नदी ऋग्वैदिक काल में अर्जिकीया कहलाती थी वह वशिष्ट मुनि के नाम से विपाश कहलाई। मालूम होता है इसी नदी के किनारे कहीं श्री कृष्ण द्वैपायन ने वेदों का संकलन किया और तब उनका नाम वेद व्यास

विख्यात हुआ। अपना नाम तो उनका बदला पर साथ नदी का नाम भी विपाश से व्यास हुआ और तब इसके मूल स्रोत को व्यास ऋषि कहा जाने लगा। निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता कि श्री व्यास ने इस नदी के किनारे कहां वेदों का संकलन किया, तो भी भृगुतुंग के व्यास ऋषि आश्रम पर उनका तप करना संम्भाव्य है। भृगु ऋषि ने भी तो इसी श्रृंग में कहीं तप किया ही था और तभी इस पर्वत श्रेणी का नाम भृगुतुंग पड़ा था जिसका वर्णन महाभारत में कितनी बार आया है। एक अनुश्रुति के अनुसार कृष्ण द्वैपायन का प्रचलित नाम व्यास देव भी था जो वेदों का संकलन करने के बाद वेद व्यास प्रसिद्ध हुआ।

कुलाँतपीठ महात्म्य के लेखक ने इस नदी को व्यास-गंगा लिखा है और वर्णन किया है कि व्यास देव ने यहां आश्रम बनाया और यहां जिस कुण्ड से विपाशा निकली उसका नाम व्यास कुण्ड बताया। परन्तु आज तक चली आ रही परम्परा के अनुसार तो विपाशा के मूल स्रोत को व्यास ऋषि कहा जाता है जब कि सोलंग नदी के स्रोत को, जो भृगुतुंग श्रृंखला के सामने धवल गिरि श्रेणी में है, व्यास कुण्ड कहते हैं। व्यास कुण्ड से निकला हुआ यह सोलंग नाला भी पलचान गांव के पास व्यास नदी में आकर मिल जाता है। श्री वेद व्यास ने कुण्ड के स्थान पर भी आकर तप किया हो तो कोई आश्चर्यजनक बात नहीं, क्योंकि कुल्लू में ही कोठी काइस और कोठी सारी में दो और गाँव व्यासर नाम से आज भी मौजूद हैं। 'व्यासर' शब्द 'व्यास सर' का ही संक्षिप्त रूप है जिसका अर्थ है 'व्यास सरोवर'। पहाड़ी भाषा में सर सरोवर को कहते हैं और कुल्लुइ भाषा में सर को 'सौर' कहते हैं। महाभारत (आदि पर्व) में भी श्री व्यास जी का हिमालय पर तपस्या करने के लिए जाने का वर्णन है और हिडम्बासुर वध के तुरन्त पश्चात उनका पाण्डवों से मिलना सिद्ध करता है कि व्यास आश्रम (मानवालय) के कहीं आस पास ही होगा जहां भीमसेन और हिडिम्बा का रूमाँस परवान चढ़ा था जो हिड़म्बासुर वद्ध का मूल कारण था।

हमारी कहानी के इस युग के महत्वपूर्ण अभिनेता पाण्डव हैं जिन्होंने तीन बार इस भूभाग की यात्रा की। पहली बार वे लाक्षागृह में जल कर मरने से बच जाने पर इस ओर आए और हिड़म्बासुर के देश में आ निकले। हिड़म्वा राक्षस तब इस पहाड़ी प्रदेश के बहुत बड़े भाग पर राज्य करता होगा⋯ ⋯लाहुल स्पिति से लेकर गढ़वाल तक। हिड़िम्ब

नहीं चाहता था कि उसकी बहिन एक आर्य पुरुष से शादी करे और तब उसने भीमसेन को मारने की ठानी। परन्तु भीमसन के बल के आगे वह ठहर न सका और स्वयं मौत के घाट उतर गया। हिड़िम्बा और भीमसेन की शादी माता कुन्ती की आज्ञा से हुई और भीमसेन को एक साल तक हिड़िम्बा के साथ गृहस्थ धर्म चलाने की अनुमति मिल गई। यही समय, जिसे हनी मून (Haney Moon) कहते हैं इस प्रेमी जोड़े ने मनाली के आस पास बिताया और फलस्वरुप **घटोत्कछ** उत्पन्न हुआ जो हिड़म्बासुर के सारे राज्य क्षेत्र का मालिक बना। महाभारत युद्ध में भीमसेन का यही पुत्र **घटोत्कच्छ** इस सारे पहाड़ी प्रदेश की ओर से पाण्डवों का सहायक था जब कि **त्रिगर्त देश** (कांगड़ा) का राजा **'सुर्समा'** कौरवों के पक्ष में लड़ा था। इसी यात्रा के दौरान पाण्डव **देवल** के छोटे भाई **धौम्य ऋषि** के आश्रम में गए और उनको अपना पुरोहित बना कर तीर्थ यात्रा सम्पन्न की। **धौम्य ऋषि** की तपोभूमी को **"उत्कोचक तीर्थ"** कहा गया है जहाँ **"धौम्य गण"** भी आबाद था। यह स्थान सम्भवतः आज का **जगतसुख गाँव** है जहां एक बड़े नाले के आर पार **"धौम्य गण"** वास करता था और शायद इसीलिए उस नाले का नाम आज तक **"धुआँगणु**' है जो 'धौम्यगण' का ही अपभ्रंश है।

महाभारत (आदि पर्व) में एक और घटना का भी उल्लेख है कि जब नियम भंग करने के अपराध में अर्जुन को बारह वर्ष का बनवास मिला था तब उसने भृगुतुंग आदि तीर्थों में भी विचरण किया था। भृगुतुंग यही पर्वत श्रृंखला है जिस के एक छोर पर भृगुतीर्थ है और दूसरे छोर पर व्यास आश्रम व रोहताँग का दर्रा है।

पाँण्डवों की दूसरी कुलूत यात्रा तब हुई थी जब वे जूए में सब कुछ हार जाने के बाद बनवास के बारह वर्ष काटने निकले थे ·······निराश और हतोत्साह। तब धर्म और अधिकारों की सुरक्षा के लिए एक बहुत बड़ी मन्त्रणा का सूत्रपात किया गया और निश्चय हुआ कि अर्जुन शंकर की उपासना करके पाशुपत अस्त्र प्राप्त करे तो कौरवों से युद्ध करके न केवल द्रौपदी की मानहानी का बदला लिया जा सकता है अपितु अपने छीने हुए अधिकारों को भी वापिस लिया जा सकता है। इस मन्त्रणा की समस्त रूपरेखा महर्षि वेद व्यास ने बनाई और उसके अनुसार अर्जुन **इन्द्रकील पर्वत** के समीप पहुँचा जहाँ उसे इन्द्र के दर्शन हुए। देवताओं के राजा इन्द्र ने अर्जुन को शंकर की तपस्या करने की अनुमति दी जिसके

भृगु तुँग (Rohtang) पर व्यासाश्रम्

फलस्वरूप भगवान शंकर ने पहले तो किरात के भेष में अर्जुन की परीक्षा ली और जब अर्जुन के बल और पराक्रम को किसी भी बड़े अस्त्र को सम्भालने योग्य पाया तो उसे पाशुपत अस्त्र दे दिया जिसे लेकर पाण्डवों ने महाभारत युद्ध में विजय पाई। इस घटना को महा कवि कालीदास ने अपने लोक प्रसिद्ध नाटक **"किरातार्जुनी"** में सुन्दरता से पेश किया है और पाठकगण यह मालूम करके भी विस्मित होंगे कि इस महान और रहस्यमयी घटना की पृष्टभूमी भृगुतुंग और **विजली महादेव** के बीच की पर्वत माला है जिसमें अर्जुन ने शंकर की भक्ति भी की और इसी क्षेत्र में किरात रूप शकर से युद्ध भी किया। **इन्द्रकील** पर्वत का हम उल्लेख पीछे भी कर आए है जिसे कुल्लूई भाषा में आज भी **"इन्द्रकीला"** कहते हैं। कुल्लू मनाली से **हामटा** के रास्ते स्पिति जाते हुए यह पर्वत नजर आता है यद्यपि इस पर अभी तक कोई पहुँच नहीं पाया है। **"इन्द्रासन"** और **"देउ टिब्बा"** के नामों से दो पर्वत श्रृंग आज भी पर्वतारोहियों को आकर्षित करते हैं और जो इसी घटनास्थल से सम्बन्धित हैं। कुलान्त पीठ महात्म्य में इस ऐतिहासिक घटना का वर्णन इस प्रकार है।

यत्र पीठे महादेवः भवान्या सह नारदः ।
अर्जुनस्य प्रसादाय दधामि शवरं वपुः ।।2।।

अर्थात हे नारद ! जिस पीठ में भगवान शंकर ने पार्वती सहित अर्जुन की प्रसन्नता के लिए शवर (भील, किरात) का रूप धारण किया। और फिर पाशुपत अस्त्र देने का यूं वर्णन किया है:—

अर्जुनस्य परीक्षार्थ संग्रामं करौच्छिवा ।।
ददौ तस्मै स्व शास्त्राणि वरं अभयमेवच ।।7।।

"अर्जुन की परीक्षा करने हेतु भगवान् शंकर ने लड़ाई की और उसे शस्त्र देकर उसे अभय कर दिया।"

जगतसुख और शुरु गाँव के बीच में एक स्थान है जहां **'अर्जुन गुफा'** नाम से मन्दिर आज भी मौजूद है। भगवान के शवर (किरात) रूप के कारण पार्वती का नाम भी शवरी है और इसी लिए अर्जुन गुफा के पास ही शूरु गाँव की देवी और कुलान्त पीठ महात्म्य के अनुसार इस समस्त पीठ की अधिष्ठात्री देवी **शावरी** का मन्दिर स्थित है।

कहते हैं जिस स्थान पर भगवान शंकर ने अर्जुन को पाशुपत अस्त्र दिया वही स्थान अब **बिज्लेश्वर महादेव** के नाम से प्रसिद्ध है जहां बारह साल बाद महादेव के अश्म पिण्ड पर विद्युत गिरती है। इसका विस्तार पूर्वक वर्णन हम पीछे कर आए हैं।

पाण्डवों की हिमालय यात्रा में वृष पर्वा, अर्ष्टिखेण, और कुबेर के आश्रमों का भी वर्णन आता है। राज ऋषि वृष पर्वा का आश्रम पार्वती नदी के क्षेत्र में पीछे कहीं होगा क्योंकि लोक भाषा में पार्वती को आज भी पड़बा ही कहते हैं। अर्ष्टिखेण का अपभ्रंश शायद चन्द्रखणी होगा और इसी क्षेत्र में कुबेर का मन्दिर भी स्थित है जिसे **'गिरुआ कोठी'** कहते हैं। गिरुआ कोठी शायद **'ग्रीवा कोटी'** का ही अपभ्रंश शब्द है और इसके बारे में मशहूर है कि इस पर्वत के अन्दर कुबेर के सोने के महल हैं और इसमें कोई संदेह नहीं कि इस क्षेत्र में सोने की खान है और पार्वती नदी के बालू में से सोना धो कर निकाला जाता रहा है। सुना है कर्नल रैनिक ने, जो नगर में रहता था, उस क्षेत्र में **मान तलाई** के आस पास कहीं सोने की इस खान का पता लगाया था और कठिन प्रयत्नों से सोना निकाला भी था जिसे वह विलाइत ले गया था। और जब उसका परीक्षण एवं निरीक्षण करके और उसे निकालने की पूरी रूप रेखा बना कर वापिस भारत लौट रहा था तो बम्बई आकर उसकी मृत्यु हो गई और सोने की खान का वह भेद उसके साथ ही कहीं लोप हो गया।

जब हम इसी यात्रा के वर्णन में **"श्वेतगिरी"** का नाम पढ़ते हैं तो हमें लगता है यह शब्द बिगड़ कर **'शिगरी'** बन गया है और तब निश्चित रूप से विचार होने लगता है कि श्वेत गिरी और इन्द्रकील का तो निकट-तम सम्बन्ध है क्योंकि शीगरी भी हामटा से स्पिति जाते हुए रास्ते में आता है जो शीगरी की एन्टीमनी खानों (Antimony Mines) के लिए प्रसिद्ध है और यहीं से दूर पीछे **इद्रकील** पर्वत नज़र आता है। माल्यवान पर्वत वस्तुतः मलाणा होगा क्योंकि कुबेर का मित्र मणिमान राक्षस का भी क्षेत्र इधर ही बताया गया है जो शायद मणिकरण से सम्बन्धित हो। मणिभद्र यक्ष के राज्य का वर्णन भी इसी यात्रा में आता है ज़ब कि इस सारे क्षेत्र में यक्ष, किन्नर, गन्धर्व, विद्याधर और अन्य मलेच्छ जातियों के होने का ज़िक्र आया है।

कुलूत क्षेत्र और आस पास के पहाड़ी इलाकों में पाण्डवों की इन यात्राओं के स्मरणाविशेष कितने ही मन्दिर, असंख्य स्थल और अनेकों किंवदन्तियाँ हैं। जगतसुख से पीछे और भृगुतुंग पर **पाण्डवों के रोपे**, **अर्जुन गुफा**, लाहुल में **भीम कच्छु** और सिराज में श्रीखण्ड हिम शृंखला के चरणों में **भीम डुआरी** आदि स्थान पाण्डवों से सम्बन्धित हैं। निर्मण्ड के परशुराम क्षेत्र में एक स्थल ऐसा है जिसके बारे में प्रसिद्ध है कि दूसरी हिमालय यात्रा से लौटते समय पाण्डव वहाँ रहे थे और विशेष कर के जहां वह मिट्टी फेंकी थी, जिसे पास रखने से माता कुन्ती की भी काम-वासना जागृत हो गई थी, उसी स्थान पर अब भी स्त्रियाँ पाँव नहीं रखतीं …………इस भय से कि उस मिट्टी के प्रभाव से उनके विचारों में भी कहीं उथल-पुथल न हो जाए।

एक दन्त कथा के अनुसार **महात्मा बिदुर** भी कुलूत में रहे हैं जहाँ उन्होंने **सुदंगी** नाम की एक स्त्री से शादी की। कहते हैं कि सुदंगी से बिदुर के दो पुत्र **मक्कड़** (मकर) और **भोट** पैदा हुए। इन दोनों बालकों की देख-रेख व्यास मुनि के आश्रम में होती रही। एक दिन **सुदंगी** इन दोनों बालकों को घर ले गई जहाँ उस ने दोनों को **चुरु** (जंगली गाय) का मांस खिलाने का प्रयत्न किया क्योंकि सुदंगी नहीं चाहती थी कि उसके पुत्र आर्य संस्कृति की गोद में चले जांए। **भोट** तो मोटी अक्ल का था उसने मांस खा लिया परन्तु मक्कड़ पर ब्यास मुनि का और उनकी शिक्षा का काफी प्रभाव था इसलिए वह वहां से भाग आया। सुंदगी भोट को लेकर अपने माता-पिता के घर चली गई जहाँ भोट ने बड़े हो कर अपना राज्य स्थापित किया जिसे भोटान्त या भोटान कहते हैं। इसी भोट की नसल आज तक भोट या भोटिया कहलाती है जो हिमालय की ऊपरी घाटियों में बहुत दूर तक फैली हुई है। मक्कड़ ने जिस स्थान को अपनी राजधानी बनाया वह **मकड़सा** कहलाया और तब वह अपन राज्य विस्तार में जी जान से जुट गया। एक अनुमान के अनुसार उसके राज्य का विस्तार **मकड़ान की पहाड़ियों** तक हुआ यद्यपि इतिहास इस विषय में मौन है। **मकड़सा** नाम की जगह आज भी रुपी उपत्यका में **हुरला थरास** के बीच महाभारत काल के बिदुर वंशजों की याद दिलाती है। एक समय इतिहास में ऐसा भी आया जब सारे कुल्लू को मकड़सा कहा जाने लगा था और सारा राज्य ही मकड़सा राज माना जाता था।

पाण्डवों की इस तीर्थ यात्रा में **हेमकूट** पर्वत का भी वर्णन आता है। यदि इन्द्रकील और भृगुतु ग के संदर्भ में इसका निरीक्षण किया जाए तो हेमकूट को हमें हामटा मान लेना पड़ता है परन्तु हेमकूट के साथ-साथ जब नन्दा और अपर नन्दा नदियों का वर्णन आता है तो बद्रिकाश्रम के आस पास स्थित हेमकूट को ही सत्य स्वीकार करना पड़ता है।

पाण्डवों की तीसरी और अन्तिम यात्रा का सम्बन्ध भी हिमालय से है। महाभारत महा प्रस्थान पर्व में लिखा है कि पाण्डवों ने पश्चिम से उत्तर दिशा में आकर महा गिरि हिमालय के दर्शन किये। उसको लाँघ कर जब वे आगे बढ़े तो उन्हें बालू का समुद्र दिखाई पड़ा। तत्पश्चात उन्होंने पर्वतों में श्रेष्ठ महागिरि **सुमेरु** के दर्शन किये और फिर यहीं से उनका एक एक करके गिरना और परलोक सिधारना आरम्भ हुआ। महा प्रस्थान का यह दिग्दर्शन है परन्तु हिमालय को कहां से चल कर कहाँ पार किया यह स्पष्ट नहीं है।

कुलूत देश के एक भाग का नाम **कुलांत पीठ** भी है। तो जब हम **कुलाँत पीठ** शब्द का विवेचन करते हैं तब कुलांत का अर्थ कुल का अन्त निकलता है। इस संदर्भ में पाण्डव कुल का भी अन्त माना जा सकता है और शतपथ ब्राह्मण के अनुसार मनु के कुल का भी अन्त समझा जा सकता है। कुल्लू भर में हामटा पर्वत से, जो जगतसुख के पास **प्रीणी** गाँव की पृष्ट पर स्थित है, मृत आत्माओं को ले जाए जाने की अनेकों अनु-श्रुतियाँ लोगों में प्रचलित हैं। लोगों का कहना है कि यमपुरी भी इधर ही कहीं आगे है और स्वर्ग का रास्ता भी इधर से ही जाता है। पाण्डवों के स्वर्गारोहण का पथ भी लोग इधर ही से बताते है। लाहुल के लोगों का विश्वास है कि द्रोपदी का, जो सबसे पहिले शिथिल हो कर गिर पड़ी और प्राण त्याग गई, अन्तिम संस्कार **तान्दी संगम** में किया गया। कुछ लोगों का तो कहना है कि भृगुतुँग (रोहतांग) पहुंचते पहुंचते सभी पाण्डव, युधिष्ठर के अतिरिक्त, शिथिल हो कर गिर पड़े थे और सभी का अन्तिम संस्कार **तान्दी संगम** पर किया गया। यह बात शायद इसलिए सच्च लगे कि भोटी भाषा में **रोह** का अर्थ **लाशें** एवं **थाँग** का अर्थ **मैदान** है और इस प्रकार **रोहथाँग** के अपभ्रंश रोहतांग का अर्थ **'लाशों का मैदान'** हुआ। अब यह अर्थ चाहे पाण्डवों की लाशों का लिया जाए या रोहतांग पर मरने वाले अन्य लोगों का। यदि रोह शब्द को संस्कृत शब्द आरोह का संक्षिप्त

रुप मान लिया जाए और ताँग शब्द तुँग का अपभ्रंश हो तो रोहतांग शब्द असल में **'आरोह तुंग'** बना जिसका अर्थ **'चढ़ाई का शिखर'** हुआ और तब हो सकता है कि पाण्डवोंके स्वर्गारोहण का यही पथ हो।

लाहुल में तान्दी संगम को बहुत पवित्र माना गया है और अस्थि प्रवाह के लिए भी इसको पुण्य तीर्थ का दर्जा दिया जाता है। लाहुल में मृतक की शव यात्रा में और दाह संस्कार के मौके पर केवल बांसुरी वादन होता है। और इस कला में कुछ विशेष परिवार प्रवीण होते हैं जो ऐसे अवसरों पर केवल पाण्डवों की पर्वता रोहण कथा को बाँसुरी के स्वरों में अलापते हैं। जिस मृतक के अन्तेष्टि संस्कार पर जितना बढ़िया बाँसुरी वादक मिल पाएगा उस मृतक व्यक्ति को उतना ही भाग्यशाली माना जाता है।

कुलूत देश से सम्बन्धित महाभारत काल की अन्तिम कड़ी कृष्ण के पोते **प्रदयुम्न** की शादी **वाणासुर** की लड़की **ऊषा** से होने की कथा है जिसका वर्णन पुराणों में आया है। वाणासुर किसी समय इस सारे पहाड़ी प्रदेश का अधिपति था और उसकी राजधानी थी **शोणितपुर***। कहते है ऊषा ने स्वप्न में एक सुन्दर राजकुमार को देखा और वह उसके लिए व्याकुल हो उठी। उसकी सहेली चित्रलेखा ने भारत भर के राजकुमारों के चित्र बना बंना कर दिखाए और जब कृष्ण के पोते प्रदयुम्न का चित्र ऊषा के सामने आया तो उसने पहिचान लिया कि उसके स्वप्न में आया हुआ चितचोर वही है। असुर लोग तन्त्र शास्त्र में निपुण तो होते ही थे, चित्रलेखा की सहायता से प्रदयुम्न को द्वारिक में सोए हुए शय्या सहित **शोणितपुर** पहुंचाया गया। बहुत दिनों तक वाणासुर के राजमहलों की एक अट्टालिका में ऊषा और प्रदयुम्न काम क्रीड़ा में विभोर रहे। इधर यदुवंश में प्रदयुम्न के अकस्मात गुम हो जाने से हलचल मचना तो स्वभाविक ही था, और यह पता लगने पर कि वह शोणितपुर में है श्री कृष्ण स्वयं दल बल लेकर उसे छुड़ाने हिमाचल की ओर निकल पड़े। वाणासुर और कृष्ण युद्ध में यादवों की विजय हुई और सन्धि के फल-स्वरुप ऊषा और प्रदयुम्न का विवाह हो गया और महाभारत काल में कुलूत देश की कहानी पूरी हुई।

---

*यह स्थान आज कल रामपुर बुशहर में सराहन नाम से प्रसिद्ध है जहाँ वाणासुर के उत्तराधिकारी आज भी रहते है।

कलियुग—बौद्ध काल

महाभारत युद्ध में भयानक नर संहार हुआ और देश प्रदेश के कितने ही योद्धा वीरगति को प्राप्त हुए। अर्जुन पुत्र युयुत्सु (परीक्षित) को राज्य भार सौंप कर पाण्डव हिमालय की ओर चले गए। आर्य संस्कृति के प्रज्वलित दीपों की रोशनी शनै शनै धीमी पड़नी आरम्भ हुई। इतिहास की डोर ढीली पड़ने लगी। देश फिर छोटे छोटे टुकड़ों में बटने लगा और कहीं कहीं सामन्त शाही फिर सिर उठाने लगी। पहाड़ी प्रदशों में शायद अभी भी असुरों, राक्षसों और नागों का प्रभाव अधिक था और इसीलिए तक्षक नाग ने एक बार फिर भरपूर आक्रमण किया जिसमें परीक्षित और उसकी सेना परास्त हुई। तक्षक नाग तक्षक खण्ड का अधिपति था जिसे आजकल ताशकन्द कहते हैं, और जिसकी राजधानी तब तक्षशिला (Taxila) थी। कुलूत देश में भी नागों और खशों का ज़ोर था और इनका आपसी टकराव महाभारत युद्ध के बाद भी बराबर जारी रहा।

महाभारत काल यदि पाँच हज़ार वर्ष पहिले मान लिया जाए तो बौद्ध काल आने तक उन दो अढाई हज़ार सालों का इतिहास निशा की गोद में मौन सोया पड़ा है। और तब होता है **भगवान बुद्ध** का प्रादुर्भाव आज से पच्चीस सौ वर्ष पहिले। इस काल की सबसे महत्वपूर्ण घटना केवल एक ही है जिसका सम्बन्ध हमारी कहानी से है और वह है **महात्मा बुद्ध** की कुलूत यात्रा। चीनी यात्री **ह्यून सांग** ने अपने यात्रा संस्मरण में संकेत किया है कि महाराज अशोक ने भारत भर में उन स्थानों पर स्तूपों का निर्माण किया था जहाँ जहाँ तथागत यात्रा करने गए थे। उन्होंने लिखा है कि इसी प्रकार का एक स्तूप कुलूत के मध्य देश में भी बनाया गया था जो यह सिद्ध करता है कि भगवान बुद्ध कुलूत में आए थे। इसकी पूर्ति तिब्बत (त्रिविष्टय) के बौद्ध साहित्य से भी होती है भिक्षु धर्म रक्षित अपने एक लेख में इस विषय पर इस प्रकार प्रकाश डालते है।

"बौद्ध धर्म ग्रहण करने के बाद अशोक ने सब तीर्थो की यात्रा की। चीनी यात्री ह्यून सांग के मुताबिक तथागत की यात्रा स्मृति में अशोक ने कुल्लू में स्तूप बनाया था जो अब है नहीं और जिसकी खोज की जानी **चाहिये**।"

पण्डित हीरा नन्द शास्त्री जो कभी केन्द्रीय सरकार के पुरातत्व

विभाग (Department of Archaelogical Survey of India) में निदेशक रह चुके हैं, भी इसका समर्थन करते हैं और उन्होंने स्वयं उस स्थल विशेष को खोजने का प्रयत्न किया, जहाँ सम्भवतः वह स्तूप अशोक ने बनवाया होगा। परन्तु वह स्थान निश्चित नहीं किया जा सका यद्यपि अनुमान है कि वह जगह शायद व्यास और पार्वती नदियों के संगम पर हो जिसे आज **'जिया'** कहते हैं। यदि भिक्षु धर्म रक्षित के अनुसार महाराज अशोक ने उन सभी तीर्थों की यात्रा की हो जहाँ तथागत गए हैं तो अशोक का कुलूत देश में आना भी सिद्ध होता है।*

भिक्षु संघ रक्षित: अपनी पुस्तक "**ए सर्वे आफ बुद्धिजम**" (A Survey of Budhism) के पृष्ट ३५ पर लिखते हैं कि आरम्भिक पाली साहित्य के अनुसार कुल २९ बुद्ध हुए हैं जिन में एक '**विप्पासी.** (Vipassi) भी था। यह शब्द विपाश ही है और विपासी बुद्ध या तो मनु हो सकता है या वेद व्यास। तब इस आदि बुद्ध के आश्रम की यात्रा करने गौतम बुद्ध आए हों तो कोई आश्चर्य जनक बात नहीं है।

सम्भवतः तेइस सौ साल पहिले **आचार्य विष्णु गुप्त चाणक्य** ने भारत की राजनीति को आश्चर्य जनक मोड़ दिया था और तभी से **चाणक्य नीति** और **कौटिल्य के अर्थ शास्त्र** का प्रभाव भारत की संस्कृति पर सदा रहा है और इतिहास भी इन्हीं की रोशनी में आगे बढ़ा है। कौटिल्य के अर्थ शास्त्र में 'कुलूत' का वर्णन एक अलग शक्तिशाली जनपद के तौर पर आया है। नन्द खानदान को मिटाने और चन्द्रगुप्त मौर्य को भारत के राजनैतिक चित्रपट पर उभारने का जो काम आचार्य चाणक्य ने किया है वह इतिहास में सदैव स्मर्णीय रहेगा। इसी सिलसिले की घटनाओं का वर्णन **डा: सत्य केतु** अपनी पुस्तक **आचार्य विष्णु गुप्त चाणक्य** में करते हैं जब सिकन्दर के हमले के बाद यवनों को देश से निकालने के लिए आचार्य चाणक्य **सेनापति विराध गुप्त** को कुलूत जनपद से सहायता प्राप्त करने के लिए आदेश देते हैं। वे **बिराध गुप्त** को कहते हैं **"अब तुम भी अपने कार्य को भलि भान्ति समझ लो। तुम्हें कुलूत देश को जाना होगा। वाहीक देश के उत्तर में हिमालय की पर्वत माला में स्थित यह जनपद बहुत शक्तिशाली है। पार्वत्य लोग बड़े वीर और**

---

*भगवान बुद्ध का जन्म प्रायः ४८७ से ५३७ के बीच स्वीकार किया गया है।

साहसी होते हैं। सिकंदर के आक्रमण का कुलूत पर कोई प्रभाव नहीं पड़ा है·········उसकी शक्ति अभी अक्षुण्णा है। वहां के राजा चित्र वर्मा से जा कर मिलो और उसे यवनों को आर्य भूमि से निकालने के कार्य में सहयोग देने के लिये तैयार करो। मगध के जो अन्य विश्वस्त राज पुरुष तुम्हारे साथ हैं उन्हें कुलूत से भी आगे काश्मीर में भेज दो। वे काश्मीर के राजा 'पुष्कराक्ष' की सहायता प्राप्त करने का प्रयत्न करें (पृ० सं० २०२—२०३)।" और जब राध गुप्त उपर लिखित इस मन्त्रणा में सफल हुए तो डा० सत्यकेतु आगे इस प्रकार वर्णन करते है।

"इसी बीच में कुलूत और काश्मीर की सेनाएँ भी वितस्ता नदी के तट पर आ गई थीं और फिर वे स्त्रुघ्न की सेनाओं के साथ साथ सिंधु के तट पर भी पहुँच गई जहां यवन सेनापति 'युथिदमस' की सेना से उनका सामना हुआ (पृ० सं० २५३)।

सिन्धु और वितस्ता नदियों के तटों पर **वाहीक देश** (पंजाब) की सेनाओं ने कुलूत और काश्मीर की सेनाओं के सहयोग से जो विजय प्राप्त की उस विजय महोत्सव में कुलूत के राजा **चित्र वर्मा** को भी बुलाया गया था। और तब आचार्य चाणक्य ने कहा था कि **"मगध के राजकुल का विनाश करने के लिए भी मुझे इनकी आवश्यकता होगी।"**

मालूम होता है आचार्य चाणक्य के अनुसार मगध के राजकुल अर्थात् नन्द वंश की जड़ें उखाड़ने के लिए भी कुलूत की सेनाओं से काम लिया गया। इस का वर्णन करते हुए डा० सत्यकेतु अपनी पुस्तक के पृ० २६३ पर लिखते हैं।

"मगध की पराजय में कैकेय, गांधार, मालव, क्षुद्रक, आग्रेय, मद्रक कुलूत आदि वाहीक जनपदों के अतिरिक्त पुष्करावती, पार्स, काश्मीर आदि की सेनाएँ भी विष्णु गुप्त के साथ थीं।"

ऊपर लिखित विवर्णों से तीन बातें विशेष रुप से स्पष्ट होती हैं। एक यह कि कुमार चन्द्र गुप्त के नेतृत्व में जो महायुद्ध सिन्धु नदी पर लड़ा गया उसमें कुलूत की सेनाएँ शामिल थीं, दूसरे यह कि वाहीक विजय में भी कुलूत राज को बुलाया गया था और तीसरे यह कि मगध के राजकुल

को समाप्त करके मौर्य वंश को सत्तारुढ़ कराने में भी कुलूत ने भाग लिया था। तभी तो मुद्रा राक्षस के लेखक **कवि बाणभट्ट** ने अपने नाटक में कुलूत का वर्णन उस समय के पाँच बड़े राज्यों में किया है। यही समय सम्भवतः कुलूत देश के इतिहास का सबसे उज्जवल और गौरवमय समय होगा। पार्वत्य लोगों का और विशेष तौर पर कुलूत वासियों के वीरता और साहस पूर्ण जीवन की झांकी का चित्रण केवल लेखिनी का चमत्कार या विचारों का लाग लपेट नहीं है अपितु यह एक ठोस सच्चाई है ·····एक ऐसा सत्य जो आज तक अतीत के धुन्दलके में छिपा पड़ा था और जिसे प्रकाश में लाने की नितान्त आवश्यकता थी।

श्री के० एस० पानीक्कर अपनी पुस्तक **"ए सर्वे आफ इण्डियन हिस्ट्री"** (A Survey of Indian History) के अध्याय ३ पृ० सं० २५ पर लिखते हैं" **कि ईसा पूर्व ३३० शताब्दी में पंजाब पर पर्शिया (पार्सीक) का राज्य था। जिस पर सिकन्दर ने आक्रमण किया था। सिकन्दर व्यास के तट तक गया जहां पार्सी राज्य की अन्तिम सीमा थी और वहां से वापिस लौटा।"** इतिहास इससे आगे चुप है हालांकि सत्य यह है कि व्यास के तट पर दो पहाड़ी राजकुमारों ने सिकन्दर की सेना के मुँह मोड़ दिये और वे वापिस भाग खड़े हुए। यह स्थान हिमाचल में इन्दोरा के पास है जिसकी खोज की जा रही है।

इस पहाड़ी प्रदेश के इतिहास में एक समय ऐसा भी आया जब स्थान स्थान पर यूनानियों ने भी अपने छोटे छोटे राज्य स्थापित किए। सम्भवतः यह अवसर यवन सेनानियों को तब मिला जब चन्द्रगुप्त मौर्य ने यवन सेनापति **सेल्यूकस** की लड़की **'हेलन'** से शादी कर ली। इस सन्धि और मेल मिलाप के फलस्वरुप उत्तर के जनपदों में यूनानियों का बहुत देर तक प्रभाव रहा और यूनानी और पहाड़ी संस्कृति के तालमेल से कुछ नई बातें भी पैदा हुई। वैसे हैरानी होती है कि यूनान (GREECE) का पुराना लिबास, वादन वाद्य और बर्तन आदि कुल्लू के लिबास आदि से बहुत मिलते जुलते हैं। कुछ इतिहास कारों के विचारों में कोई तीन सौ साल तक इन पहाड़ी प्रदेशों में यूनानियों का कहीं कहीं प्रभाव रहा है। इसी काल का एक मिट्टी का सुन्दर बेल बूटों वाला बर्तन लंदन के प्रदर्शनालय (Museum) में है जिस पर कुलूत में बना हुआ लिखा है। ताँबे और चाँदी के सिक्के बनाने का भी रिवाज इसी काल में इस सांझा

संस्कृति की देन मालूम होता है। '**राजनः कोलूतस्य वीरायसस्य**' का जो सिक्का सबसे पहिले मिला है और जिसका वर्णन हम ने अपनी कहानी के आरम्भ में ही किया है, वह भी शायद इसी काल का है जिसे अनुसंधान कर्ताओं ने पहिली या दूसरी शताब्दी ईस्वी का माना है।

राजा वीरायासा का सम्बन्ध किस वंश से है अभी तक इस पर खोज हो नहीं सकी है। इतना पता लगता है कि इसी का समकालीन एक दूसरा व्यक्ति 'कृष्ण-यासा' धर्मशाला कांगड़ा के आसपास रहा करता था और घनियारा में उसका बहुत बड़ा आश्रम (Monastry) था। वीरोस शब्द मध्य यूरोप में कभी आर्य वीरों के लिये प्रयुक्त होता था इसी प्रकार कैल्टिक जाति भी पूर्व और पच्छिम में दोनों ओर फैली हुई थी। अब कैल्टिक से कुलूत बना हो और वीरायासा भी वीरोस शब्द का अपभ्रंश हो, यह सब बातें आगे खोज करने योग्य हैं। बुद्ध का जन्म ईसा से तकरीबन पाँच सौ साल पहिले हुआ है और इसी को हम बौद्ध काल कहते हैं जिसकी घटनाएं ऊपर लिखी गई हैं और जिनका सम्बन्ध हमारी कहानी से है वरन पहिली और दूसरी शताब्दी के बाद तो कुल्लू राजाओं के पाल वंश का लिखित इतिहास आरम्भ होता है जो यद्यपि शुरू में इतना विस्तृत नहीं है पर आगे चल कर उस काल का दिग्दर्शन करा देता है।

ह्यून सांग अपने यात्रा संस्मरण में कुलूत में बीस के लगभग '**संघाराम**' का विवर्ण देता है जिनमें एक हजार के करीब लामा रहते थे जो महायाना पद्धति के अनुयायी थे। कुछ हिनायान का अभ्यास करते थे। वह लिखता है कि उस समय यहाँ पन्द्रह दूसरे देव मन्दिर भी थे, जहां दूसरे धर्मानुयायी अपनी पूजा पाठ करते थे। कन्दराओं और गुफाओं में अर्हत और ऋषि लोग रहते थे।

इससे प्रतीत होता है कि बौद्ध काल में इस क्षेत्र में बुद्ध धर्म का काफी प्रचार हुआ है और यह तब तक चलता रहा जब तक कि **जगतगुरू शकराचार्य** ने बुद्ध मत का वहिष्कार करने का अभियान नहीं चलाया।* नवीं दशवीं शताब्दी में शंकराचार्य के अनुयायी

* महाराज अशोक ने हिमवन्त देशों में बौद्ध धर्म प्रथारार्थ आचार्य "मज्झिम" और उनके साथ 'कस्सव गोत,' दुन्दुमिसर, सहदेव और मूलक-देव को भेजा जहाँ उन्होंने गंधर्वों व किन्नरों को दीक्षित किया। (डा: सत्य केतु अध्याय १३ पृ० स० २२६-२३०)।

इस उपत्यका में पहुंचे और उन्होंने बुद्ध मत के खास केन्द्रों को नष्ट भ्रष्ट करके उनके स्थानों पर शिव मन्दिर बना डाले। ऐसे ये शिव मन्दिर आज तक अपर कुल्लू में नगर, छाकी, दशाल और जगतसुल में हैं और बौद्ध कालीन केन्द्रों की याद दिलाते है। नगर से जगतसुख तक का क्षेत्र बौद्धों का बड़ा केन्द्र था। नगर गाँव के जिस भाग का नाम **जोक** है यह शब्द असल में '**जोलांग**' है। शायद उस समय यह केन्द्र स्वास्थ्य विभाग (Medical & Health) होगा। छिक्का, छाकी, खरोगी, सजला, पनगाँ करजाँ, खनानल, नथान, जोंग, हुरला आदि शब्द तिब्बती भाषा से सम्बन्धित हैं और ऐसा मालूम होता है कि कुल्लू में बुद्ध धर्म तिब्बत की ओर से आया है। लाहुल और स्पिति के क्षेत्र तो पूर्णतया बुद्ध धर्म के प्रभाव में आए और किसी हद तक आज भी हैं।

औटर समाज में भी कुछेक स्थानों पर अपर कुल्लू शैली के शिव मन्दिर बने हैं जो सम्भवतः बौद्ध धर्म के प्रभाव को मिटाने के बाद बनाए गए हैं। ये सब शिव मन्दिर दक्षिण शैली के हैं और उधर से आए हुए कारीगरों के ही बने हुए मालूम होते हैं। इन मन्दिरों को हम बौद्ध कालीन इसलिए कहते हैं कि इनके बनने से पहिले तक यहां बुद्ध धर्म का प्रभाव था और ये सब उस प्रभाव को मिटाने के लिए बनाए गये थे। कुछ लोग इन मन्दिरों को पाण्डवों के बनाए कहते हैं जो सत्य नहीं हैं।

बौद्ध काल में जन साधारण की स्थिति क्या होगी और राजनीति की रुप रेखा क्या होगी यह कुछ नहीं कहा जा सकता। उत्तरी भारत में यदि कोई बड़ा राज्य स्थापित हुआ तो छोटे छोटे सामन्त, राजे, राणे और ठाकुर उसके अधीन होकर काम करने लगे और यदि कोई केन्द्रीय शासन ढीला हो गया तो इन सब ने अपनी जगह सिर उठा लिये और लगे आपस में कट मरने। जन साधारण की दशा सदैव शोचनीय रहती थी, शान्ति केवल कहने सुनने की बात थीं, कोई जीवन सुरक्षित नहीं कोई माल अपना नहीं। लूट मार, चोरी डाका, हत्या और हानि का नगा नाच होता होगा उन दिनों। सारा पहाड़ी क्षेत्र छोटी छोटी ठकुराइयों में बटा हुआ था, जिनका सर्वदा और सदैव संघर्ष जारी रहता था। सच पूछो तो यह काल था जब एक सुखमय जीवन और सुरक्षित भविष्य की कल्पना तक नहीं की जा सकती थी।

बौद्ध काल के साथ ही युग युग की बात और हमारी कहानी का

पहिला चरण समाप्त होता है। दूसरे भाग में कुल्लू के पाल वंशी राजाओं का इतिहास, मण्डी, सुकेत, बीड़ भंगाल, कुम्हारसेन, बुशैहर, चम्बा और लद्दाख वालों के टकराव, कुल्लू की देव पद्धतियां, कुल्लू में वैष्णव धर्म का प्रसार, मणिकर्ण की चाँदी की खान और राजाओं के अत्याचार, सिक्खों के आक्रमण और लूटमार, सिराजियों का द्रुम्ह, अंग्रेजों की आमद, स्वतंत्रता संघर्ष और फिर स्वतंत्र भारत में कुलूत की रुप रेखा तथा हिमाचल प्रदेश में शुभ सम्मेलन, आदि विषयों पर रोचक और परिचयात्मक प्रकाश डालने का प्रयत्न करेंगे।

★ ॐ इति शम् ★

परिशिष्ट

मूल संस्कृत शब्दों से सम्बन्धित कुल्लूई शब्द

संस्कृत शब्द		कुल्लूई शब्द	अर्थ, विवर्ण
अक्ष:	(७६-१२-२७)	औच्छी, हौच्छी	आँख
अक्षत		अच्छत	पूजार्थ चावल आदि
अक्षा		आच्छे	एक जंगली फल
अहं		हाऊं	मैं
हिम्		हींऊं	बर्फ
उस्रा।	(६२-४-२४)	सुरा	सुरा गाए
सुरा		सूर	नशे वाला पदार्थ जो कुल्लू में खास तौर पर बनाया जाता है और देवताओं को भी भोग लगता है।
तृण:		त्रीण	तिनका। (जैसे त्रीण काटणा।)
दूतम्		दूत	भयानक, हृष्टपुष्ट (जमदूत)
सजू:	(४४-२-२२)	सज़णा	युक्त हो कर, सज कर।
वाशी	(४२-६-२५)	बाषणा	गाए बैल आदि पशुओं के बोलने को बाषणा या बाठा कहते हैं।
यव:		ज़ौ	ज़ौ (एक अन्न)
नय	(१-१६२-३)	ने, नेणा,	ले जाना
मुषी	(४२-३-२५)	मूषा	चूहा।
मूषण		मुषणा	चुराना।
वोचे (बोलूं)	(४१-२-२३)	बाचणा	पढ़ना
रिष:	(४१-२-२३)	रिच्छ	घातक शत्रु, रीछ।
अस्ति		सा, औत्थी (प्राकृत)	है।
उतिष्ठ		उठ	उठ
वृद्धा	(३२-१५-१७)	बृद्ध	बूढ़ा, प्राय: बाघ को कहते हैं।
लक्षण		लच्छण	लच्छण

*ऋग्वेद के सूक्त, मण्डल और मंत्र संख्या संकेत।

संस्कृत शब्द		कुल्लूई शब्द	अर्थ, विवर्ण
मित्र		मित्तर	दोस्त
हणा		हौण	नाश, सींग वाले पशुओं के मारने को हौणना कहते हैं।
जना		जण	प्राणी, (फलाणा जण)
वशिष्ट (विश: इष्ट		बिष्ट	सब से बड़ा। बिष्ट अब एक जाति है जो राजाओं के समय मन्त्री या लेखा अधिकारी होते थे।
धनुथ	(३७-२-२४)	धुणकु	कंपाना, (धुणकु देणा)
दह		दाह	जलाना, (दाह देणा, मृतक शरीर को जलाने के लिये प्रयोग किया जाता है।
उग्र		उग्रा	भयानक, जोरदार। कुल्लूई में उग्राखला, ऊंची और गम्भीर आवाज़ को कहते हैं।
स:		सो	वह।
हस्त		हौथ	हाथ। प्राकृ में हथ्थ कहते हैं।
क्व		कौ, कौखे	कहाँ।
कदा		कदी	कब।
त्रय:		त्रा	तीन
एक:		एक	एक।
द्वौ		दूई	दो।
पवयो	(३४-२-५)	पाऊए	पावे (चारपाई के पावे)
वासस:	(३४-१-५)	बौसु, बौसणा	रहना, घर करना, आबाद होना।
क्षेत्र		छेत	खेत
वेदना	(३३-१५-४)	बेदण	दर्द
श्रृंगी	(३३-१२-५)	शिंगी	सींगों वाला।
जक्षत:	(३३-७-५)	जच्छ	भोगी विलासी और मैला पुरुष।
धनिन		धौणी	धन वाले, धौणी अर्थात् सुवर्ण कुल हिन्दु।
धन:	(३३-४-५)	धौण	धण—लोहा कूटने का भारी हथोड़ा। धोण घूशिया कशहड़ी।
काष्ठ		काठ	लकड़ी।

संस्कृत शब्द		कुल्लूई शब्द	अर्थ, विवर्ण
वत्सा		बौच्छा, बौच्छू ।	बच्छ बछड़ा ।
वृष्ण:		बिर्श	सांड ।
पिपिष		पिशणा	पीसना ।
शुची, शुचे	(७१-२-१५)	शूची, शूचा	पवित्र ।
असि		सा	है ।
वक्ष:	(६४-१५-४)	बाश्वी	छाती के एक तरफ ।
दुहन	(६४-५-६)	दूहणा	दुहना ।
भूमि	(६४-५-६)	भूंई	पृथ्वी, ज़मीन, धरती ।
खाद्य	(६४-५-७)	खाद	खाना । खाद खाणा अर्थात पौष्टिक वस्तु खाना ।
यम		जौं, जम	यम ।
ऊर्ण		ऊना	ऊन । ऊना पूणी ।
दय		दै	दे दे । देना ।
राय:	(६२-५-१२)	रा	ऐश्वर्य वाला । रा अर्थात् राजा ।
शुश्क		शूका	सूखा ।
दुरोण	(७०-२-१४)	द्रूण	घर, ज़ानवरों का घर ।
कक्ष		कौच्छ	बाजू के नीचे, (मोहूं री कौच्छ)
प्रसर		पसर, पसरना	नज़दीक होना ।
गर्भ,		गर्भ, गुरभण	पेट में बच्चा ।
क्षय		छै	घटना, छै पोड़ना अर्थात् खत्म होना, मर मिट जाना ।
गृह		गृह	धर । (गृह कुलज़)
पशु:		पौशू	पशु ।
श्रवण		शूणना	सुनना ।
जामयो		जौमणा	पैदा होना ।
अंगीरा		गार	अंगारा ।
सिंच		सींचणा	सींचना ।
रश्मीन		रौशी	रस्से ।
उलूखल	(१-२२-१)	उखल	ऊखल ।
जघन		जौंधा	जाँध ।
शिला		शिल्ह	पत्थर, वह पत्थर जिस पर कुच्छ पीसा जाता है ।

संस्कृत शब्द	कुल्लूई शब्द	अर्थ, विवर्ण
अधिश	घूशणा	कूटना, घिसना।
जुल्गुल	जंगाली	जुगाली, जुगाली करना।
पाश	पाशी	फंदा। जानवरों और पक्षियों को पकड़ने का तरीका।
स्तूप	थूप	ऊंचा, ऊभार, स्तम्भ, थूप अर्थात् ढेर।
तक्षण (१-१६२-६)	तौच्छणा	बनाना।
कृणु	केरनू	करुंगा।
चक्ष	चाख	चखना।
चरु (१-१६२-१६)	चरुआ	अन्न पका हुआ। चरुआ अर्थात् देवता का प्रशाद।
द्रुह	द्रोह	बुरा काम करना। पाप कर्म।
ज्येष्ठ	जेठा, ज़ेठ	बड़ा। जेठ अर्थात् पति का बड़ा भाई।
अरुषम	रुषणा	रुठना।
प्रजा:	परज़ा	प्रजा।
क्षेपण	छेपण	फैंकना। छेपण अर्थात् दूर से पत्थर फेंकने का मारने का रस्सी का बना हुआ अस्त्र।
शरण्य	शौरन	आश्रय लेने का घर।
तुरण्य	तूरना	दाखिल होना, भागना।
पार्श्व	पाशड़ी	एक तरफ लेटना
कुक्षी	कुच्छी, कुच्छ	कोख कुच्छ मासिक धर्म को भी कहते हैं जैसे कुच्छ एणा।
औषधी	ओकती	दवाई।
रोहण	रोहणा	धान लगाना।
तुष्टी	तुठ्ठी(सिराजी)	खुशी।
कर्तन	केरातन	करो।
शिप्र	क्षीपर	शिप्र अर्थात् सिर पर बालों का जूड़ा। क्षिप्र अर्थात् बालों के जूड़े की तरह भरा हुआ पक्वान्न की थाली।

संस्कृत शब्द	कुल्लूई शद	अर्थ, विवर्ण
धाना (२-२०-२)	धाणा	गेहूं या जौं को भून कर बनाए हुए दाने।
अपूप (२-२०-२)	पापा	रोटी, कुल्लू में बच्चों को रोटी का अर्थ समझाने के लिये पापा कहा जाता है।
सक्तु (१०-७१-२-)	सौत्तू	सत्तू।
तितिउना	तुआणा	पिलाना।
तितउ	तोइतू	रोटी पलटने का लोहे का बना हुआ सामान।
कुल्या (५-२३-२)	कुल्ह	कूल्ह। छोटी नहर जैसी।
शूर्प	शूप	छाज।
गो	गा	गाए।
मनु	माणहूँ	मानव।
पितर	पितर	पितर।
शिरः	शीर	बाल।
नहुष	न्हौष	नाखुन।
देवर	देउर	देवर।
यज्ञशाला	जगशाल	यज्ञ करने का स्थान। कुल्लूई में जगशाल उस स्थान को कहते हैं जहाँ देवता के साज़ सामान बनाए जाते हैं जिसे घाट पड़ना कहते हैं।
निगम्	निकमें	व्रत धारण करना।
उदक	उत्तक	पानी। उत्तक अर्थात् पानी का स्थान।
कर्मिष्ट	कर्मिष्ट	कामदार। देवता के काम करने वाला खास व्यक्ति।
इष्ट	इष्ट	इष्टदेव।
कुलजा	कुलज़, गृह कुलज़	कुल देवता। कुल को पैदा करने वाला देवता।
रिपु	रीपू	शत्रु।
द्यौ, द्यौस	दिउसी	दिन।

संस्कृत शब्द	कुल्लूई शब्द	अर्थ, विवर्ण
ऋता	रीत, रितो	ऋतु । मौसम ।
अदिति	दोती	दिन । दोती अर्थात् सवेरा जब दिन चढ़ आए ।
कुसुमऊषा	कुशमुषा	तड़का । फूल खिलने का समय ।
वाच	वाक	बोलना—वाक देणा ।
स्थल	थल	ज़मीन, (जल थल होणा)
प्रक्षालन	छेलणा	धोना ।
क्षेत्र	छेत	खेत ।
श्रृगाल	शियाल	गीदड़
ग्राम्	ग्रां	गाँव ।
वापी	बाऊड़ी	बाऊली ।
गर्भ	गर्भ से अपभ्रंश	संज्ञात्मक गाभ, गौभ, गाब, गाभरु ।
स्वेद	सेद	नमी ।
शिरा	सीर	रग । पाणी री सीर पाथरे री सीर ।
कैवल्य	कवैलै	स्माधी की एक अवस्था । कबैलै अर्थात् एक तरफा कतई तौर पर ।
धरनी	धौर्न, धौर्त	धरती ।
शीघ्र	शीग्रे (सराजी)	जल्दी । कुल्लूई में शिधरा ढलान को कहते हैं, जहाँ जल्दी से फिसला जा सके ।
भृज	भुज, भजणा	भूनना ।
अश्रु	औच्छु, हौच्छु	आंसू ।
लगुड़	लागड़	लाठी ।
गोधूलि	गोधला	वह समय जब दिन और रात मिलते हों ।
द्वार	दुआर	दरवाज़ा ।
गच्छ	गेच्छणा, गेश केरनी ।	जाना, गेच्छणा अर्थात् रह जाना, गेश केरनी अर्थात् तलाश करनी ।
दाह	दाह	जलना, कुल्लूई में दाह अर्थात् दर्द या पीड़ा

संस्कृत शब्द	कुल्लूई शब्द	अर्थ, विवर्ण
बली	बौली	बली।
प्रथमे	पथमे	पहिले।
धनुष	धनक, धनष	कमान।
प्रस्त	पौथा	पथा या पथ।
प्रवेश	खर्चपरवेश	आना, खर्च आमदन।
गण	गौण	समूह। (मोहूं रा गौण)
रोहण	रोहणा, रुहणी सुरोहण	धान आदि लगाना।
दम्भ	दुम्ह	साज़िश
दुर्ग	द्रुग्घ	किला, दुग्ध अर्थात् अन्न रखने का गुप्त भंडार।
स्वर्ग	सुर्ग	स्वर्ग। सर्ग आकाश को भी कहते हैं।
लवण	लूण	नमक।
पशुः	पौशू	डंगर पशू।
रश्मी	रेश्मी	किरण (कौंढी रेश्मी)
जंघा	जोंघा	टांगें।
उर्ध्वबाहु	उड़द बाहू	ऊपर बाँहें करने वाला, बेवकूफ।
उपरान्त	प्रान्त	बाद
वार्ता	भारथा	बात चीत, भारथा अर्थात देव कथित इतिहास।
पृच्छ	पुच्छ	पूछना।
महात्मा	माहतमा	महा आत्मा।
सहस्र	सैंसर	हज़ार।
रंच	रेंच	थोड़ा सा, एक रेंच।
क्षार	छार	धूल, धूड़।
स्वाह	सुआह	जलाना, धूड़।
अघोरी	घोरी	अघोर विद्या जानने वाला।
प्रहरी	पौहरी	पेहरा देने वाला।
रोष	रोष, रुषणा	रुठना, रोष करना।
तुंग	तुँगु	शिखर, चोटी (जैसे शिरघण तुँगू)।

संस्कृत शब्द	कुल्लूई शब्द	अर्थ, विवर्ण
द्वैपायन	दर पौइण	एक स्थान।
ध्वजा, ध्वज	धौज़, धज़ा	—
शासन	शाशण	हकूमत, मुआफी।
अक्षर	आखर	लफज़। हर्फ (उर्दू)
देव	देऊ	देवता।
भ्रमर	भौंर	भंवरा। भौंर मन को भी कहते हैं।
दक्षिण	दखण	जनूब (उर्दू)
आँगुल	आंगल	उंगली।
निद्रा	नींदर, नींज़	नींद
विकार	बकार	दुःख, खराबी।
किसंशय	कसैंस	कुच्छशक, दुःख, रोग।
प्रपा	प्रोहा	पानी पिलाने का प्रबन्ध।
चषक	चुषकी, चौषा, चीश।	घड़ा, पीना, ज़ोर से पीना, प्यास।
विश्वास	बशाह	विश्वास।
भाण्ड	भाण्डे	बर्तन।
तुष	टुष	धान का छिलका।
क्षीर	खीर	दूध, दूध में पका हुआ चावल।
प्रवेशण	पेशणा	अन्दर आना, दाखिल होना।
पृष्ठ	पिठ	पीठ।
रक्ता	रौता	लाल।
मृग	मिर्ग	चीता। वाघ।
परमेश्वर	पमेसर	ईश्वर।
म्लेक्ष	म्लेच्छ	गंदा, मैला।
खसः	खौश	खश।
ऋण	रीण	कर्ज़।
व्यथा	बीथा।	दुःख, तकलीफ, दर्द।
थवी	थाउई	तरखान, मकान बनाने वाला।
छिद्रण	छिद्रा	तोड़ देना। कफारा करना। पापों की मुआफ़ी आदि।
खड़गाहत	खड़ाइत	तलवार से वार करना, खड़ाइत अब तलवारों का खेल रह गया।

संस्कृत शब्द	कुल्लूई शब्द	अर्थ, विवर्ण
हनन	होणना	मारना, सींगों वाले पशुओं का मारना।
गोष्ठी	गोठ	बैठक, गोठ अब पिकनिक को कहते हैं। इकट्ठे हो कर खाना आदि।
अभदा	अबदा	आयु।
निषाद	नखिद	सब से नीच।
शून्य	शूना	अकेला, सूना।
पुनन	पुणना	—
क्षुरः	छुरा	छूरा, छूरी।
कुपेय	कौपी	घटिया खाना। चावल और साग डाल कर बनाया पतला पेय अपर कुल्लू में कौपी कहलाता है।
दशा	दौशी	पट्टू के किनारों पर छोड़ी हुई झालर।
शलली	शलाई	सलाई।
मुक्ता	मुकता	छोड़ा हुआ, मुकता अर्थात् खुला। (खुला मुकता)
चाण्डाल	चण्टाल	चण्डाल।
पात्र	प्रात	बर्तन, प्रात अर्थात् एक विशेष बर्तन आटा गूँधने का।
दैत्य	दैंत	भारी शरीर वाला।
सत्य	सैत्या	सचाई।
हत्या	हैत्या	मौत।
सरोवर	सर, सौर	तालाब।
शंख	शौंख	शंख।
मनुष्य	माणष	आदमी।
दलन	दौलणा	दलना
पिष्ट	पिश	पीसना।
वहन	बौहणा	उठाना।
चम्बो(१.२६.४७)	चाम्बड़ू	एक बर्तन।
क्षरण	छीरना	फट जाना। लोहू छीरना।

संस्कृत शब्द	कुल्लूई शब्द	अर्थ, विवर्ण
शिशु	शिशु-पिकलू	छोटे बच्चे।
कंकण	कांगणू	ज़ेवर, हाथ का कड़ा।
औपश	औपण	सूर्योदय होना।
नाश	नाश	नाश।
नर्तयन(१.५१.३)	नाटी	नाचना।
जुहूर्था(७.१.१६)	झूरदा	दुखाना-आधुनिक प्रचलित अर्थ प्यार करना।
वज्र	बज़र	पत्थर। कुल्लूई में बजर के अर्थ पत्थर की तरह जीर्ण बज़र नाण्ढा।
रन्धय(६.५३.३)	रान्ध	वश में करना। प्रचलित अर्थ स्त्री का मूल्य।
रुघत:(६.१८२.१)	रुघण	रुकना, बर्फ के कारण यातायात की असुविधा के कारण आ जा न सकना।
यानुँ(२.१२.११)	यानू	यानव।
जन(३.५३.१२)	जण	मनुष्य, उत्पन्न करना।
बाहा:(४.५७.४)	बाह	बैल-जोतना, हल चलाना इत्यादि।
कृषतु(४.५७.४)	करशाण	खेती कर। खेती करने वाला।
महिषान(२.६६ २०)	म्हैंषा।	भैंसा।
दुदुहान(६.८ .२१)	दुहणा।	दुहना।
स्तम्भ	थौम्बा	सतून।
यमपुरी	जौंपरी।	यमपुरी।
श्वेत	शेता	सफेद।
मृत्यु	मृतु	मौत।
काल	काल	समय, मौत।
होम्	हूम्	यज्ञ।
याज्ञीई	याजी, या,	ज़। मां।
क्षत्रं(१.१६२.)	छत्रं	राजपूत-छत्र।

नोट:—शब्दों के आगे के अंक ऋग्वेद, के मण्डल, सूक्त और ऋचा संस्था को दर्शाते हैं।

सहायक पुस्तकें

पुस्तक का नाम	लेखक
१. कुलान्त पीठ महात्म	
२. कुल्लू के लोक गति	डा० एम० एस० रन्धावा
३. गीता प्रवचन	श्री विनोवा भावे
४. विपाशा नदीर तीरे	डा० बुद्ध देव भट्टाचार्य
५. रामायण	
६. महाभारत	
७. बृहत्संहिता	वराह मिहिर
८. कादम्बरी	श्री बाण भट्ट
९. मुद्रा राक्षस	श्री विशाख दत्त
१०. अर्थ शास्त्र	श्री कौटिल्य
११. विष्णु गुप्त चाणक्य	डा० सत्य केतु
१२. मेघदूत	
१३. राज तरंगिणी	श्री आर० एस० पण्डित
१४. मार्कण्डेय पुराण	
१५. ऋग्वेद	
१६. शतपथ ब्राह्मण	
१७. भारत के आदिवासी	श्री जनक अर्विन्द
१८. हरिवंश पुराण	
१९. हिमालय दर्शन	
२०. भगवान परशुराम	श्री के० एम० मुन्शी
२१. विष्णु गुप्त चाणक्य	श्री के० एम० मुन्शी
२२. मध्य भारत का इतिहास	श्री द्विवेदी

पुस्तक का नाम	लेखक
२३. भारतीय संस्कृति के चार अध्याय	श्री रामधारी दिनकर
२४. ऋग्वैदिक आर्य	श्री राहुल सांस्कृत्यापन
२५. भारत के आदिवासी	श्री योगेश अटल
२६. कामायनी	
२७. किरात अर्जुनी	
२८. मनु स्मृति	
२९. पृथ्वीराज रासो	
३०. संसार चन्द	श्री राजेश्वर प्रसाद नारायण सिंह

BIBLIOGRAPHY

1. Discovery of India, **by Shri Jawahar Lal Nehru.**
2. Bunch of old Letters, **by Shri Jawahar Lal Nehru.**
3. Early History of India **by Mr. V. N. Smith.**
4. Kulu Settlement Reports **by J. B. Lyall, Dyke & Cold Stream.**
5. The District of Kulu, Lahaul & Spiti **by Capt. A. F. Harcourt.**
6. History of the Punjab Hill States **by Dr. Vogal and Nutehison.**
7. The Silver Valley **by Mr.** H. **Calvert.**
8. To Kulu and Back **by Mr. Forbus.**
9. Antiquities of w. Tibet **by Mr.A . E. Franke.**
10. Survey of India Report **by Gen. Cunningham.**
11. Brief History of Rajas of Kulu **by Sh. Hardyal Singh.**
12. Himalyan Circuit **by Justice G. D. Khosla.**
13. Coins of Ancient India **by Gen. Cunningham.**
14. Survey of India Report, 1907-1908 **by Sh. Hira Nand Shastri.**
15. Farmers of India **by Dr. M. S. Randhawa.**
16. Archaeological Survey of India Report Part--14 **by Gen. Cunningam.**
17. Pre-History of the beginning of Civilization **by Sir Leonard.**
18. Glossory of Tribes and Castes of Punjab.
19. Survey of India History **by Shri K. M. Panikar.**
20. Vedic India **by Prof. Ragozin.**
21. Early History of Northern India **by Mr. J. F. Hewitt.**
22. Journal of the Royal Asiatic Society.
23. The Scheduled Tribes **by Shri G. M. Ghuriya.**
24. The Tribal world **by Mr. Elwin.**
25. History of Aryan Rule in India **by Mr. E. B. Harvel.**
26. The Third Eye - A book **by LAMA LOBZANG.**
27. Journal of Bengal Asiatic Society Part-I.
28. Archaeological Survey of India Report 1907--1908 **by Sh. Hira Nand Shastri.**
29. Social Economy of a Polyandrous People **by Mr. R. N.Saxena.**
30. Vedic Age **by Sh. Mazumdar.**
31. Ancient and Medieval Nepal **by Dr. D. R. Regmi.**

32. Journal of the Asiatic Society of Bengal Part-III.
33. Journal of the Punjab Historical Society **by Mr. G. C. Hawel.**
34. The Happy Valley **by Mr. Tyson.**
35. Early History of India **by Shri N. N. Ghosh.**
36. Archaeological Survey of India Part-xv **by Gen. Cunningham.**
37. Hindus of Himalayas **by Mr. Gerald D. Berman.**
38. The Himalayan Districts-1882 Part II **by Mr. Hamilton.**
39. The Language, Literature and Religion of Nepal Part II **by Mr. Hadges.**
40. Religion of Tibet **by Charles Bell.**
41. Gujrat, that was Glory-**by Sh. K. M. Munshi.**
42. Travels of Heiun Tsang **by Mr. Bael.**
43. Kulu Gazetteer—**by Mr. Lyall.**
44. Kangra Gazetteer **by Mr. Dyke.**

शुद्धि पत्र

पृष्ठ न०	पक्ति न०	अशुद्ध शब्द जो लिखा गया है।	शुद्ध शब्द जो होना चाहिये।
१	२	३	४
८	२३	प्रफल्ति	प्रफुल्लित
८	२७	जलधारा	जलधाराओं
१६	२५	सब से की	की सब से
२२	१०	तियुस्याँ	तियूरियां
३०	२७	क्षा	था
३१	२७	Graudure	Grandeur
३२	१	unrivell	unrivalled
३२	६	दौमन दूसरी	दामन में दूसरी
३२	११	मखती है	रखती है
३६	१५	की	का
४५	१८	बुलबुले	बुलबुलें
४५	२७	बखीचड्ढ	बगीचड़
४६	१६	आवजें	आवाजें
५६	१६	उत्तरोक्त	उपरोक्त
५६	२३	विड़	द्राविड
६२	११	प्रवेश	प्रदेश
७७	२	जैरे	जैसे
७७	११	आयों	आर्य
८०	७	अिधिकारी	अधिकारी
६१	२८	शीतक	शीतल
६४	४	सम्बन्धि	सम्बन्धित
६७	१५	दीया	दी
६८	२	ऋदेद	ऋग्वेद
६६	१३	अिथात्	अर्थात

१	२	३	४
१००	१६	तृत्यु	तृत्सु
१०२	१६	में	मैं
१०३	३१	लिग	लिए
१०६	/२८	जमालाल	जन्याल
१०७	१०	नेगीर	नेगीरै
१०७	३२	लौग	लोग
१०८	११	थावी	धोबी
१०९	१३	अयेगी	आएगी
११०	८	फली	फैली
११४	७	अनुभूमि	अनुभूति
१२१	३२	जज प्रपात	जल प्रपात
१२२	६	सैकड़ों घोड़े	सैकड़ों घोड़ें
१२३	१५	तलाणा	मलाणा
१२४	३२	नाक्षसों	राक्षसों
१२५	२९	स्त्रियों	स्त्रियों में
१२६	१२	हिडिम्बा राक्षस	हिडिम्ब राक्षस
१२६	२६	ग़ुकाबला	मुकाबला
१२७	१६	स्थन	स्थान
१३०	१२	पराजिन	पराजित
१३०	१५	उपर्युत	उपर्युक्त
१३१	२०	पष्थरों	पत्थरों
१३६	२०	वाद	याद
१४१	३१	नागोंको	नागों के
१४२	९	प्रकड़	प्रकट
१५८	१४	चौर	और
१६५	५	हीने	होने
१६९	२/३	कि मध्य भारत की बहुत से अदिवा-सियों के लोग अपने देवता को महा देऊ कहते हैं	कि मध्य भारत के बहुत से आदि-वासी लोग अपने देवता को महा देऊ कहते हैं।

१	२	३	४
१७३	८	लोग	लोगों
१७६	१८	शिलार	शिकार
१८०	२८	बिजाए	बजाए
१८३	२६	संस्कृति	संस्कृत
१८५	२८	अब भ	अब भी
१८५	२९	माम	नाम
१८५	३०	कक्शे	नक्शे
१८५	३२	इलाक	इलाका
१८७	२५	लड़से	लड़के
१८७	३१	'नहिं और जा' के बीच में शब्द "कहा" होना चाहिये	
१९०	२३	फल	फूल
१९५	१४	या जाति	जाति
१९७	२७	जाति	जाती
२००	८	बहत	बहुत
२१०	१	काल	कान
२१२	१६	में	से
२१३	२	अश्लीज	अश्लील
११९	२	नेपाल के	नेपाल की
२२२	१६	किये	किया
२२२	१८	गई थी	गया था
२२५	२४	स्रौत	स्रोत
२२६	२९	Repoesent	Represent
२२८	११	भकाने	चबाने
२२९	१९	टाँगती	टाँकती
२३२	५	लीगों	लोगों
२३२	६	तथाकिथित	तथाकथित
२३६	१४	ग्रीर	और
२३९	१७	कैंसिल	कौंसिल
२४९	३४	कुब्लुई	कुल्लुई
२५१	३	ग्रौद	और

१	२	३	४
२५१	५	स्वभाव	सम्भव
२५६	११	की	के
२५८	१४	दूर	दूर
२५८	१७	मुन्दर	सुन्दर
२५९	२२	तैदा	पैदा
२६५	१०	श्रापने	अपने
२६८	२१	ले	से
२६८	२५	शाणितपुर	शोणितपुर
२६९	३	शान्तुन	शान्तनु
२७३	४	कलीदास	कालीदास
२७५	१८	भोटी	मोटी
२७५	२८	मोट	भोट
२८३	२८	नहता	रहता